वैद्य रणजित राय देसाई

आयुर्वेदीय हितोपदेश





श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि॰
कलकत्ता · पटना · नागपुर · नैनी (इलाहाबाद) · नई दिल्ली

ॐ नमः परमर्षिभ्यों नमः परमर्षिभ्यः

सार्थ

आयुर्वेदीय हितोपदेश

प्रस्तावना—लेखक

श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी, एम० एस-सी०

भू० पू० उपसंचालक, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य (आयुर्वेद), उत्तर प्रदेश

(सम्प्रति) प्रिन्सिपल—पोस्ट ग्रेजुएट ट्रेनिंग सेण्टर इन आयुर्वेद—जामनगर

लेखक

वैद्य रणजितराय देसाई आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य

उपाचार्य, श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत

भूतपूर्व सभ्य : मुम्बई तथा महाराष्ट्र-राजकीय आयुर्वेदीय अनुसन्धान समिति

सभ्य : गुजरात राजकीय आयुर्वेदीय अनुसंधान समिति

सभ्य : मनीन (अनुसंधान-समिति 'एलर्सिन' भारत)

Chaukhambha Publications

4262/3, Ansari Road, Darya Ganj,

New Delhi - 110 002

Phones : 23268639, 23259050

E-mail : cpub@vsnl.net

प्रस्तुत संस्करण २००५

मुख्य वितरक

१. किताब महल एजेन्सीज,
२२, सरोजनी नायडू मार्ग,
इलाहाबाद—२११००३
दूरभाष : २६२१४६६

२. किताब महल डिस्ट्रीब्यूटर्स,
२८, नेताजी सुभाष मार्ग,
दरियागंज नई दिल्ली—११०००२
दूरभाष : २३२७३२३०, २३२८९९३५,
२३२८९२८५

३. किताब महल एजेन्सीज,
अशोक राजपथ,
पटना—८००००४
दूरभाष : २६७०५९९, २६६०५३१

मूल्य : ८०.०० रुपए

प्रकाशक : श्री **वैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन लि०, नैनी, इलाहाबाद
मुद्रक : सेन्चुरी प्रिन्टर्स, २२ सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद

प्रस्तावना

"आयुर्वेदीय हितोपदेश" नाम की यह पुस्तक लिखकर वैद्य रणजितरायजी ने आयुर्वेदीय छात्रों तथा अध्यापकों का बड़ा उपकार किया है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में अत्यन्त प्राचीन ऋग्वेद है। उस ऋग्वेद से लेकर अद्ययावत् जो आयुर्वेदीय साहित्य उपलब्ध है, उस सब साहित्य का आलोडन और मन्थन करके उसमें से जो वाक्यरत्न आयुर्वेद के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयुक्त उन्हें प्राप्त हुए, उन सब को चुनकर वैद्य रणजितरायजी ने इस "आयुर्वेदीय हितोपदेश" नामक निबन्ध को ग्रथित किया है। इस निबन्ध के अध्ययन से छात्रों को आयुर्वेद के अध्ययन में बड़ी सुगमता होगी।

आजकल आयुर्वेदीय कालेजों में प्रविष्ट होनेवाले छात्रों में हाई स्कूल की परीक्षा में संस्कृत विषय के साथ उत्तीर्ण छात्र ही अधिक संख्या में देश भर में महाविद्यालयों में प्रविष्ट होते हैं। इन छात्रों का संस्कृत भाषा का ज्ञान प्रायः कमजोर तथा अपर्याप्त पाया जाता है। अतः उनका संस्कृत भाषा का ज्ञान मजबूत करने की दृष्टि से उन्हें आयुर्वेदीय महाविद्यालयों में प्रविष्ट होने के उपरान्त कुछ संस्कृत साहित्य आजकल पढ़ाया जाता है। इस प्रकार पढ़ाये जाने वाले यत्किञ्चित् संस्कृत साहित्य की अपेक्षया यदि ऐसे छात्रों को "आयुर्वेदीय हितोपदेश" पढ़ाया जाए तो उनका संस्कृत भाषा का ज्ञान-परिपुष्ट हो जाएगा और साथ ही साथ उनको आयुर्वेद के मौलिक सूत्रों एवं सिद्धान्तों का भी परिचय प्राप्त होगा, जिन्हें कण्ठस्थ करने से आयुर्वेद शास्त्र में श्रद्धा भी होगी और हितोपदेश के ये वचन आगे चलकर उन्हें बहुत अधिक काम के भी साबित होंगे।

वैद्य रणजितरायजी अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थों के रचयिता हैं और उनके सभी ग्रन्थ भाषा तथा सिद्धान्त-ग्रन्थ की दृष्टि से बड़े ही लोकप्रिय हैं। अतः उनके द्वारा रचित यह "आयुर्वेदीय हितोपदेश" ग्रन्थ भी बड़ा ही लोकप्रिय एवं छत्रोपयोगी सिद्ध होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। मैं श्री रणजितरायजी को बहुत ही धन्यवाद देना चाहता हूँ, क्योंकि उन्होंने इस छत्रोपयोगी एवं सुन्दर ग्रन्थ की सफलता के साथ रचना करके आयुर्वेदीय साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग की पूर्ति की है।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड के संस्थापक वैद्य रामनारायणजी शर्मा को भी मैं बहुत धन्यवाद देना चाहता हूँ। उन्होंने आयुर्वेद की उन्नति में बराबर अपनी पूरी ताकत लगा रखी है। अपने बड़े-बड़े कारखानों में आयुर्वेद की सभी प्रकार की औषधियाँ तो वे तैयार करते ही रहते हैं; इसके साथ ही साथ आयुर्वेद के छात्रोपयोगी अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन उन्होंने करवाया है। आयुर्वेद की उन्नति का कोई भी कार्य क्यों न हों, उनका वरदहस्त उस प्रत्येक छोटे-मोटे कार्य में सहायता करने के लिए सदा के लिए सन्नद्ध रहता है।

मुझे पूरा विश्वास है कि 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' का उनका यह प्रकाशन आयुर्वेद का अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए बड़ा ही उपयुक्त साबित होगा।

लखनऊ
फाल्गुन शुक्ला १५, संवत् २०११
दिनांक ९ मार्च, १९५५

द० अ० कुलकर्णी
आयुर्वेदाचार्य, एम० एस-सी०
उप-संचालक, चिकित्सा एवं स्वास्थ्यः
आयुर्वेद, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रयोजन

आयुर्वेद के रहस्यवबोधन के लिये संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है, यह सर्ववादिसंमत है। यों आयुर्वेद के ही नहीं, वेदों तक के देशी-विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं और उनकी सहायता से इनमें प्रतिपादित विषयों को जाना जा सकता है; तथापि यह सर्वदा संभव है कि अनुवादों में अनुवादक के विचारों और समझ की छाप आ जाय। अतएव विद्या और कलामात्र में यथाशक्य ग्रन्थों को मूल भाषा में पढ़ना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। आयुर्वेद पर यह सच्चाई सविशेष घटित होती है।

विद्यार्थी स्वयं मूल ग्रन्थों को समझ सके इस निमित्त या तो उनका संस्कृत ज्ञान उत्तम कोटि का होना चाहिए या पाठ्य विषयों में एक संस्कृत हो या फिर उन्हें आयुर्वेद के मूल-ग्रन्थों को सामने रखकर ही पढ़ाया जाय, ये वैकल्पिक उपाय हैं। पाठ्य विषयों में प्रायः पाश्चात्य चिकित्सा भी अन्तर्भावित होने से उस विषय का आधारभूत ज्ञान ग्रहण किए विद्यार्थी लेना आवश्यक हो गया है। परिणामतया, प्रथम विकल्प शक्य नहीं रहा है। अन्तिम तृतीय विकल्प भी इस कारण शक्य नहीं है कि पाठ्यक्रम अब विषय–प्रधान हो गया है अतः तदनुरूप व्याख्यानों और पाठ्य ग्रन्थों का ही अवलम्बन करना श्रेयस्कर हो गया है। शेष द्वितीय विकल्प ही साध्य होने से सर्वत्र पाठ्यक्रम में संस्कृत एक विषय के रूप में रखा गया है।

इस प्रकार पाठ्यक्रम के अंगभूत संस्कृत विषय में हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, दशकुमारचरित, शाकुन्तल आदि ग्रन्थ निर्धारित किये गये हैं। ये ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए प्रायः दुर्बोध होने से अपरंच इनका साक्षात् सम्बन्ध आयुर्वेद से न होने से इनके अध्ययन और अध्यापन में विद्यार्थी और अध्यापक दोनों की रुचि प्रायः नहीं होती।

अच्छा यह है कि संस्कृत विषय के अध्यापन के लिए आयुर्वेद के ग्रन्थों से ही वचन संगृहीत कर पाठ्य-पुस्तक बनायी जाय। यह प्रयत्न इसी दृष्टि से किया गया है। ग्रन्थ लिखते समय मेरी धारणा हुई है कि संस्कृत विषय प्रत्येक श्रेणी या परीक्षा में निर्धारित कर प्रत्येक श्रेणी के लिए पृथक् इसी पद्धति से पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण होना चाहिए। वचन प्रायः उन विषयों के होने चाहिए जो उस परीक्षा में निश्चित हों। इससे विद्यार्थी मूल ग्रन्थों के संपर्क में भी आएँगे और विशेष भार भी उनकी बुद्धि पर न पड़ेगा।

अन्य भी कई प्रकरण लेने योग्य छूट गए हैं। परन्तु कई स्पष्ट कारणों से ग्रन्थ को मर्यादित रखना आवश्यक हुआ। तथापि, विद्यार्थियों के संस्कृत ज्ञान की वृद्धि हो, इस दृष्टि से मैंने भाषान्तर में भी संस्कृत के शब्दों का व्यवहार विशेष किया है।

ग्रन्थों में कुछ वचन वेदों से भी संगृहीत किए गए हैं। कारण यह है कि आयुर्वेद के पुनर्जीवन के लिए आयुर्वेद से भिन्न ग्रन्थों का भी दोहन करने की परिपाटी प्रचलित हो गयी है। ऐसे ग्रन्थों में वेद प्रमुख हैं। अतः उनकी भाषा का भी यत्किंचित् परिचय कराना असंगत नहीं समझा।

टीकाएँ पढ़ने का भी विद्यार्थी को अभ्यास हो जाए इस निमित्त टीकाओं से भी वचन उद्धृत किए गए हैं। जो महानुभाव इस ग्रन्थ का पाठ्य-पुस्तकतया उपयोग करें वे टीकाओं तथा नीचे दी

टिप्पणियों को भी पाठ्य विषय के रूप में स्वीकार करें, यह नम्र विनती करता हूँ।

पुस्तक संस्कृत विषय के पाठ्य विषय के रूप में रची गयी है, अतः अध्यापक महानुभावों से यह निवेदन करने की तो विशेष आवश्यकता नहीं कि वे संधि तथा शब्दों और धातुओं के रूपों के अपेक्षित ज्ञान के रूप में व्याकरण का भी बोध विद्यार्थियों को देते जाएँगे।

अन्त में जिन विद्यावयोवृद्ध श्रीमानों तथा सन्मित्रों के प्रोत्साहन से यह ग्रन्थ पूर्ण करने में मैं समर्थ हुआ हूँ, उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। विशेष और सर्वान्तःकरण से कृतज्ञता तो मैं भी दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णीजी एम० एस०-सी०, आयुर्वेदाचार्य, उपसंचालक, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य आयुर्वेद, उत्तर प्रदेश के प्रति व्यक्त करता हूँ। पुस्तक अपनी कललावस्था में थी तभी आपने इसे पूर्ण करने के लिए मुझे प्रेरणा दी, एवं इसका मुद्रण होने पर आप से इसकी प्रस्तावना लिखने की विनती की तो अत्यन्त व्यस्त समय में से यथाकथंचित् अवकाश निकाल ग्रन्थ को अक्षरशः बाँच प्रस्तावना लिखकर मुझे तथा प्रकाशकों को उपकृत और उत्साहित किया। भगवान धन्वन्तरि उन्हें आयुर्वेद की भूयसी सेवा के लिए दीर्घ और स्वस्थ आयु प्रदान करें, यही अभ्यर्थना !!

—लेखक

षष्ठम् संस्करण का प्रकाशकीय निवेदन

हमें खुशी है कि आज ग्रन्थ का षष्ठम् संस्करण आपके समक्ष प्रस्तुत है, उसके लिए हम अपने उन आयुर्वेद प्रेमी पाठकों व विद्वानों के प्रति सदैव आभारी हैं, जो आयुर्वेद के महत्व को समझते हुये इसके प्रचार-प्रसार में हमारा पूर्व सहयोग प्रदान करते रहे हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि इसी प्रकार से आयुर्वेद प्रेमी हमारे उत्साह को बढ़ाते रहे तो निश्चय ही हम आयुर्वेद को उच्चतम उठाने में सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

आज मँहगाई के इस युग में जबकि कागज आदि के दाम काफी बढ़ गये हैं, फलतः प्रकाशन व्यय भी बढ़ गया है तो भी हम आयुर्वेद के उत्थान व जनता की भलाई के लिए ग्रन्थों का प्रकाशन पूर्ववत करते आ रहे हैं। यद्यपि वर्तमान संस्करण का मूल्य पूर्वापेक्षा बढ़ी मँहगाई के कारण हमें बाध्य हो बढ़ाना पड़ा है, फिर भी यह मूल्य प्रकाशन की लागत को देखते हुये अन्य आयुर्वेदीय प्रकाशनों से कम ही है। हमें पूरा विश्वास है कि पूर्व संस्करण की तरह इस नवीन संस्करण को भी सुविज्ञ पाठक और आयुर्वेदीय प्रेमी अपनाकर हमारे उत्साह को बढ़ाते हुये आयुर्वेद की प्रगति में सहायक होंगे।

प्रकाशन विभाग
श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन

प्रथम संस्करण का प्रकाशकीय वक्तव्य

आयुर्वेद के पुनरुज्जीवन के लिए प्रथमावश्यक कार्यों में एक युगानुरूप विषय प्रधान पाठ्यपुस्तकों का निर्माण है। भगवान धन्वन्तरि की कृपा से प्राप्त संपदा का यत्किंचित् व्यय आयुर्वेद के अभ्युत्थान कार्य में ही करने का हमने विचार किया और तदनुसार जो योजना बनाई उसका एक अंग पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन भी था। अनेक कारणों से हम अपनी योजना के इस अंग पर प्रारम्भ में ध्यान न दे पाए। सात-आठ वर्ष पूर्व ही इस अंग की पूर्ति के लिए हम जागरूक हुए। इस दिशा में हमारा प्रथम नम्र प्रयास 'सचित्र आयुर्वेद' नामक मासिक पत्रिका के प्रकाशन के रूप में था। हमें यह कहते अत्यन्त परितोष होता है कि, आयुर्वेद-प्रेमी नेता, राज्याधिकारी वैद्य, डाक्टर, विद्यार्थी और जनता सभी ने देश के कोने-कोने से न केवल इसकी प्रशंसा की, प्रत्युत इसे सर्व प्रकार से अपनाया भी। अनेक एलोपैथी के भक्तों को इसने आयुर्वेद की ओर प्रवृत्त किया।

सचिव आयुर्वेद में प्राप्त यश ने हमें पाठ्यग्रन्थों के प्रकाशन के लिए भी प्रोत्साहित किया। हमारे वन्दनीय गुरु वैद्यवाचस्पति, वैद्य यादवजी, त्रिकमजी आचार्य की असीम कृपा हम पर सदा रही है। ग्रन्थ-प्रकाशन के कार्य में भी आपके मार्गदर्शन और सक्रिय सहायता से हमें अतुलनीय सफलता मिली। आपने स्वयं के लिखे सिद्धयोगसंग्रह, द्रव्यगुणविज्ञान, व्याधिविज्ञान आदि तो प्रकाशनार्थ हमें दिए ही, साथ ही अन्य विद्वानों को भी प्रोत्साहित कर उनके द्वारा लिखाये तथा हमें प्रकाशन के लिए दिलाए। इन विद्वानों में प्रमुख स्थान हमारे गुरुबन्धु वैद्य रणजितरायजी, उपाचार्य ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत का है।

वैद्य रणजितरायजी सचित्र आयुर्वेद के स्थिर लेखक हैं। उन्होंने भी अनेक नवीन लेखक तैयार कर उनका संयोग हमारी संस्था से कराया है। आपकी प्रथम कृति 'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' का आयुर्वेद-जगत ने आशातीत आदर किया। सात-आठ वर्ष में ही इसके तीन संस्करण प्रकाशित हुए। इसी बीच आपने आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के स्पष्टीकरणार्थ 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसकी रचना तथा प्रकाशन एकमात्र आयुर्वेद की सेवा को दृष्टि में रख कर ही किए गए हैं। दर्शनिक विचारधारा के साथ आयुर्वेद का गहरा सम्बन्ध है। परन्तु इतर दर्शनों से आयुर्वेद के आचार्यों ने उन्हीं सिद्धान्तों को ग्रहण किया, जो उन्हें आयुर्वेद को समझने के लिए उपयुक्त जँचे। इन सिद्धान्तों को भी उन्होंने आत्मसात् कर आयुर्वेदीय स्वरूप दे दिया था। सो, आयुर्वेद के दर्शन को समझना हो तो आयुर्वेद के संहिता-ग्रन्थों का ही अनुशीलन करना सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इस दृष्टि से आयुर्वेदीय दर्शन का पाठ्यक्रम कैसा होना चाहिए इस बात का निर्धारण कर तदनुसार आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान की रचना वैद्य रणजितरायजी ने की। आयुर्वेद महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में अब तक इस सिद्धान्त को संपूर्णतया अपनाया नहीं गया है तथापि हम कह सकते हैं कि आयुर्वेद के विचारक कर्णधार शनैः शनैः उस मन्तव्य की ओर जा रहे हैं, जिसका प्रतिपादन वैद्य रणजीतरायजी ने अपने आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान में किया है। इस पुस्तक का भी द्वितीय संस्करण यन्त्रस्थ है।

आयुर्वेद की सेवा के शुद्ध मनोरथ से प्रेरित होकर ही वैद्य रणजीतरायजी ने सार्थ आयुर्वेदीय

हितोपदेश नामक इस तृतीय ग्रन्थ का भी प्रणयन किया और आज हम भी इसी भावना से इसे प्रकाशित कर रहे हैं। हमारे माननीय उत्तर प्रदेश के चिकित्सा तथा स्वास्थ्य विभाग (आयुर्वेद) के उपसंचालक, आयुर्वेदाचार्य, एम० एस० सी० श्रीयुत द० अ० कुलकर्णी महोदय ने अपनी प्रस्तावना में तथा लेखक ने अपने प्रयोजन में इस ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में जो दृष्टि रखी गई है, उसका विशद विवेचन किया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि, आयुर्वेद के पाठ्यक्रम के निर्माण की धुरी जिन विद्वज्जनों के हाथ में है वे भी इन विचारों की कद्र करेंगे और अपने पाठ्यक्रम में इस ग्रन्थ को उपयुक्त स्थान देकर लेखक का तथा हमारा उत्साहवर्धन करेंगे। अन्य विद्वान् वैद्य महानुभावों, अध्यापकों, विद्यार्थियों एवं आयुर्वेदप्रेमी सज्जनों से भी हम इस ग्रन्थ के अभिनन्दन की ऐसी ही आशा करते हैं।

अपना वक्तव्य समाप्त करने के पूर्व हम श्री कुलकर्णी साहब के प्रति विशेष कृतज्ञता प्रकट करना चाहते हैं। अपने कार्यभार के वहन में अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी आपने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिख भेजने की हमारी प्रार्थना स्वीकार की तथा पुस्तक को साद्यन्त पढ़ कर उस पर अपना निष्पक्ष मत प्रकट करने की कृपा की।

प्रकाशक

रामदयाल जोशी, रामनारायण वैद्य

मैनेजिंग डायरेक्टर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता

रामनवमी

ता० १-४-५५

अनुक्रम

ओं नमः परमर्षिभ्यो नमः परमर्षिभ्यः

सार्थ आयुर्वेदीय–हितोपदेशः

वैदिकवाङ्मयादुद्धृतांशाः

आदर्श-राष्ट्रस्य वैदिकी कल्पना

ओ३म् आ ब्रह्मन् ब्रह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्ति पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम् निकामे निकामे नःपर्जन्यो वर्षतु । फलवत्यो नः ओषधयः पच्यन्ताम् । योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥[1]

—यजुर्वेद २२-२२

—हे ब्रह्मन्, हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण आचार और स्वाध्याय-प्रवचन की संपत्ति से युक्त हों तथा क्षत्रिय शूर, बाणों का उपयोग करने एवं अमोध लक्ष्यवेध करने वाले हों । गौएँ दूध देने वाली, वृषभ भारवाही तथा अश्व आशुगामी हों । स्त्रियाँ नगर का पालन पोषण करने वाली, रथी विजयशील

—१— वृत्त नाम (याने) आचार, या व्रत तथा स्वाध्याय (अध्ययन) की संपत्ति (उत्कर्ष, आधिक्य) को **ब्रह्मवर्चस** कहते हैं । देखिए—**स्याद्ब्रह्मवर्चसं वृत्ताध्ययनर्द्धिः** —अमरकोष; **व्रताध्ययनसंपत्तिरित्यतद् ब्रह्मवर्चसम्**-हलायुध । ब्रह्मवर्चस युक्त = ब्रह्मवर्चसी (इन्) ।

पुरन्धि = पुर (नगर) का धारण-पोषण-करने वाली । (डु) (ञ्) धारण-पोषणयोः । स्त्री के आदर्श का द्योतक पुरन्धि विशेषण इस बात का गमक (सूचक) है कि ग्राम और नगर की व्यवस्था कार्य स्त्रियों के ही हाथ में रहना चाहिए, यह वैदिक मत है । धन का सद्व्यय, स्वच्छता, बाल-शिक्षण उद्यानादि कर्म अपने गृह में करती हुई वह ग्राम तथा नगर में भी यह कर्म करने की स्वाभावसिद्ध योग्यता रखती है ।

यजमान = यज्ञकर्ता । यज्ञ का अर्थ केवल होम नहीं है । यज धातु, जिससे यज्ञ शब्द व्युत्पन्न हुआ है, उसके तीन अर्थ हैं —**देवपूजा, संगतिकरण** और **दान** । जो विद्या, धन अनुभवसिद्ध सलाह आदि कुछ भी दे सके उसे देव कहते हैं । इस अर्थ में देव शब्द दानार्थक 'दा' धातु से बना है । इन देवों की पूजा-सत्क्रिया की जाये तो स्वभावतः वे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को अधिक लाभ पहुँचाते हैं । **संगतिकरण** का अर्थ है —संघटनपूर्वक कर्म । तथा दान का अर्थ है अपने पास विद्या आदि कुछ भी अन्यों को देने योग्य हो तो वह अन्यों को देना । जो देव-पूजादि करे वह यजमान कहाता है ।

और युवक सभा-समाज के कार्य में कुशल हों। यज्ञकर्ता के पुत्र वीर हों। मेघ इच्छानुसार वृष्टि करें। धान्य फलवान् हों। सब का योग-क्षेम बना रहे।

इस राष्ट्रीय ध्येय की सिद्धि के लिए पुरुषों तथा राष्ट्रोपयोगी प्राणियों का शरीर और मन पुष्ट, रोगरहित और दृढ़ होना चाहिए। इसी से वेद में शरीर को अनन्य-साधारण महत्त्व दिया गया है। वैदिक धर्म में शरीर की कैसी प्रतिष्ठा है इसका संक्षिप्त निरूपण अगले प्रकरण में किया जाएगा।



तात्पर्य, देवों नाम विद्या, वय (अनुभव) आदि में वृद्धों की पूजा, समानों के साथ सहकार-पूर्वक कर्म तथा अपने से विद्यादि में हीनों को विद्या आदि का दान इसी का नाम यज्ञ है। इस दृष्टि से संपूर्ण मानव-जीवन ही यज्ञ-रूप कहा गया है। तथाहि—

पुरुषो वाव यज्ञः ॥

—छान्दोग्योपनिषद्, प्रपाठक ३। खण्ड १६

मानव-जीवन को इस यज्ञ की पद्धति से व्यतीत करना वैदिक आदर्श है।

यहाँ कहीं पूजा का अर्थ चन्दनादि का लेप, आरती उतारना आदि नहीं समझना चाहिए श्री भगवान् ने गीता में कहा भी है–

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

—भगवद्गीता १८-४६

औषधि शब्द यहाँ धान्यों के लिए आया है। औद्भिदों या स्थावरों के चारों भेदों में एक बार फल आकर जो नष्ट हो जायें उन गेहूँ आदि को औषधि कहा गया है। देखिए — **ओषध्यः फलपाकान्ता** :- च० सू० १।७२ तथा अमरकोष; **फलस्य पाकादन्तो विनाशो येषां तिलमुद्गादीनां ते फलपाकान्ता** :—चक्रपाणि; **फलपाक-निष्ठा ओषधय** :— सु० सू० १।२६; **निष्ठा नाशः, फलपाकेन परिणत्या नाशो यासां ताः। ते पुनर्गोधूमादय** :—**डल्हण**।

योगक्षेम— अप्राप्त (जो अपने पास न हो ऐसी) अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति का नाम योग तथा उसके प्राप्त होने पर उसके रक्षण का नाम क्षेम है।

अथातो देहजिज्ञासा

वैदिकधर्मे शरीरस्य महत्त्वम्

यो वै तां ब्रह्मणो वेदाऽमृतेनाऽवृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्रह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरऽयोध्या ।
तस्यां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ॥
तस्मिन् हिरण्ययमयें कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ॥
तस्मिन् यद्‌यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

—अथर्ववेद १०-२-२६-३

जो मनुष्य अमृत (अमृतत्व) से आवृत ब्रह्म की नगरी को जानता है उसे ब्रह्म तथा ब्राह्म (ब्रह्म के उत्पन्न किये सांसारिक पदार्थ) नेत्र, प्राण और प्रजा (संतान) देते हैं ।

—जो मनुष्य इस ब्रह्म की पुरी को, जिसमें वास करने के कारण उसे 'पुरुष' कहा जाता है जानता है उसे चक्षु (तथा अन्य इन्द्रियाँ) और प्राण वृद्धावस्था के पूर्व नहीं छोड़ते ।

—यह आठ चक्रों और नव द्वारों वाली देवों की अयोध्या नगरी है । इसमें ज्योति (ज्योतिःस्वरूप मन) से व्याप्त, सुवर्णमय-हितकर और रमणीय उपादान में निर्मित-स्वर्गरूप (हृदय-रूप) कोश है ।

—यह सुवर्णमय स्वर्गरूप कोश तीन अरोंवाला तथा तीन स्थानों पर टिका हुआ है । इसमें आत्मा के साथ पूजनीय ब्रह्मदेव (अथवा मन) विराजमान है । उन्हें ब्रह्मवेत्ता जानते हैं ।

यह शरीर क्षुद्र और उपेक्षणीय वस्तु नहीं है । दीर्घ सायु, वृद्धावस्था—पर्यन्त इन्द्रियों के सामर्थ्य की स्थिरता तथा उत्तम-संतान-लाभ के लिए इससे अङ्ग-प्रत्यङ्ग का जानना अत्यावश्यक है । इस शरीर के जाननेवाले को संतान-लाभ होता है, इस श्रुति-वचन का आशय यह है कि संतान-लाभ के काल नाम (याने) गृहस्थाश्रम में प्रवेश के पूर्व विद्यार्थी-दशा में प्रत्येक पुरुष और स्त्री को शरीर का सर्वाङ्गीण ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए । अन्य शब्दों में कहे तो शासन की ओर से प्रत्येक विद्यार्थी और विद्यार्थिनी के पाठ्य विषयों में शरीर

की रचना, क्रिया, स्वस्थवृत, व्यवहारिक निदान-चिकित्सा, कामशास्त्र, सुप्रजनन-शास्त्र, संतान-पालन आदि विषयों का समावेश अनिवार्य होना चाहिए । तैत्तिरीय उपनिषद् (प्रपाठक ७, अनुवाक ६) में निर्दिष्ट प्राचीन पाठ्यक्रम में 'प्रजा', 'प्रजन' और प्रजाति विषयों द्वारा कामशास्त्र, सुप्रजननशास्त्र तथा संतानपालन इस तीन विषयों की परिगणना की गयी है । शरीर के इस साङ्गोपाङ्ग ज्ञान को ही 'ब्रह्मज्ञान' कहते हैं । इसे जानने वाले ही 'ब्रह्मविद्' कहलाते हैं ।

शरीर तथा उसके हिताहित आहार-विहार का सम्यक् ज्ञान और तदनुरूप आचरण होगा तब ही यह देवपुरी सचमुच अयोध्या (रोगादि से आक्रमण न की जा सकने योग्य) पुरी बन सकेगी और पुरुष अपने संपूर्ण अभीष्ट सिद्ध कर सकेगा । (अ+योध्या; युध संप्रहारे) ।[1]

यह शरीर अमृत (अनश्वर) है । शरीर-विद्या के अनुशीलन-अवगाहन से विदित होगा कि माता-पिता के शरीर के अंशभूत पुंबीज और स्त्रीबीज ही प्रथम गर्भाशय में और पश्चात् उनके शरीर से बाहर वृद्धि को प्राप्त होकर संतान का शरीर बनाते हैं । इन बीजों के द्वारा माता और पिता के (इतना ही क्यों ? —उनके पूर्व पुरुषों के भी) अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वरूप, मानसिक प्रकृति एवं रोग-विशेष के प्रति प्रवणता (प्रवृत्ति) भी संतान के शरीर में उतरती है । प्राचीन अचार्यों ने सत्य ही कहा है—

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम् ॥

—गोभिल गृह्यसूत्र २-८-८१

प्रेम—पुलकित पिता प्रवाह से आकर पुत्र के प्रति कहता है—"वत्स, तू मेरे अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न हुआ है । मेरे हृदय से तूने जन्म लिया है । तू मेरा ही पुत्र-संज्ञक स्वरूप है । वह तू सौ वर्ष जी ।"

अस्तु । इस दृष्टि से विचार करे तो विदित होगा कि माता पिता का शरीर विनष्ट होने पर भी संतान-रूप में उनका शरीर (जीवित) ही रहता है । एवं शरीर प्रवाह से नित्य या अमृत है । सो यही देवों की अमरावती पुरी है । यही स्वर्ग है । सब को अप्रमत्त होकर इसकी रक्षा और वृद्धि करनी चाहिए ।[2]

१— निरुक्तकार ने इसे नैघण्टुक काण्ड ३।१।४ में उद्धृत किया है । अष्टाङ्गसंग्रह तथा अष्टाङ्गहृदय के उत्तरस्थानों के प्रथम अध्याय के आरम्भ में एवं संस्कारविधि में जातकर्म तथा निष्क्रमण संस्कार-प्रकरण में उत्पन्नमात्र शिशु के दक्षिण कर्ण में इस मन्त्र के उच्चार का विधान है ।

२— आवश्यक होने से इन मन्त्रों में आए कुछ पदों की व्याख्या की जाती है ।

प्राण शब्द व्यापक अर्थ—

अग्निः, सोमो वायुः सत्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणः ।

—सु. शा. ४-३

शरीरे देवानामंशावतार

उल्लिखित मन्त्रों में शरीर को देवों की नगरी कहा है । टिप्पणी में 'प्राण' शब्द का अर्थ देते हुए टीकाकार डल्हण के मत का अनुसरण कर तत्तत् देव को सत्तत इन्द्रिय का अधिष्ठाता कहा है । यत्सत्यं, वैदिक मत है कि एक-एक देव शरीर के एक-एक इन्द्रिय में स्थित हैं । इसीसे इस शरीर का महत्त्व है । एतद्विषयक अनेक मन्त्रों में कुछ मन्त्र देखिये—

—अग्नि, सोम (चन्द्रमा) और वायु ये तीन देव, सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा आत्मा ये बारह प्राण होते हैं । अग्नि शरीर में पाँच पितों, धात्वग्नियों तथा उनकी उष्णता के कारण रूप में एवं वाणी की अधिष्ठात्री देवता के रूप में रहता है । सोम पञ्चविध कफ, रस, शुक्रादि जलभूत-प्रधान द्रव्यों और रसनेन्द्रिय के उपादान-रूप में तथा मन की अधिष्ठात्री देवता के रूप में रहता है । वायु प्राणादि पाँच वायुओं के रूप में रहता है । पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ लिङ्ग-शरीर (सूक्ष्मशरीर) के साथ इस शरीर में अपने-अपने स्थूल अधिष्ठान में प्रवेश करती हैं । आत्मा का भी प्रवेश सूक्ष्म शरीर के साथ पूर्व कर्मों की प्रेरणा से होता है । यह विषय **'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान'** में विस्तार से देखना चाहिए ।

आधुनिकों के नाड़ी–संस्थान के विभिन्न केंद्रों को प्राचीनों ने चक्र नाम दिया है । यथा मस्तिष्क के लिए सहस्रार, शतदल पद्म आदि नाम दिये हैं । ऐसे आठ चक्र शरीर में हैं । अतः यह अष्टचक्रा है । दो कर्ण, दो चक्षु, दो नासिका, एक मुख, एक गुद, एक शिश्न ये मिलकर नव द्वार कहाते हैं । नासिका नव्य-मत से भले एक द्वार हो, परन्तु प्राचीन स्वरोदय-शास्त्र के मत से एक समय एक ही ओर के छिद्र से वायु जाता और दूसरे से निकलता है । यह स्वयं भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है । श्वास के छिद्र-भेद से प्रवेश के अनुसार शरीर में शीत या उष्ण गुण की वृद्धि होती है । इनसे अभीष्ट कार्य में शुभाशुभ के ज्ञान का विचार भी योगियों ने किया है । प्राचीन क्रियाशारीर में यह विषय बढ़ाने योग्य है ।

यजुर्वेद अध्याय ३४ में मन को **'ज्योतिषां ज्योतिः'** तथा **'यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु'** कहा है । अतःतृतीय मन्त्र के 'ज्योतिः' का अर्थ मैने 'मन' किया है । इसी अध्याय में **'यदपूर्व यक्षमन्तः प्रजानाम्'** इन पदों में उसे 'यक्ष' भी कहा है । इस वेद के साक्ष्य के आधार पर ऊपर चतुर्थ मन्त्र का अर्थ करते हुए प्राचीनानुमोदित अर्थ 'ब्रह्म' देकर स्वाभिमत अर्थ 'मन' भी दे दिया है । पूजा अर्थ की यज् धातु से यक्ष शब्द बना है । इस धातु का संगतिकरण अर्थ भी है । मन की पूजनीयता (महत्ता) तथा सर्वेन्द्रियों के संगतिकरण का विषय भी **'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान'** में द्रष्टव्य है ।

'हिरण्य' का अर्थ 'हिरण्यमय' है । हिरण्य शब्द की एक निरुक्ति (व्युत्पत्ति) यास्क ने हितरमणम् दी है ।

पुरुष शब्द प्राचीनों ने 'पुर' शब्द और शयनार्थक 'शी' धातु से व्युत्पन्न माना है । कदाचित् शरीर में आत्मा की निष्क्रियता प्रतिपादित करने के लिये 'शी' धातु रखी गयी है । (आत्मा की निष्क्रियता सांख्यों के समान वैद्यों को भी अभिमत—स्वीकृत है–देखिए **'आयुर्वेदीय-पदार्थ विज्ञान'**) । 'पुरुष' शब्द में निवासार्थक 'वस' धातु का संप्रसारित रूप 'उष' ले तो अल्प क्लेश से शय्द-सिद्धि हो सकती है ।

अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्;
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्;
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्;
चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्;
आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत्;

—ऐतरेय उपनिषद् २।४

—शुक्र और शोणित नाम पुँबीज और स्त्रीबीज का एकीभाव होने पर जब उसमें कर्मपुरुष-आत्मा-प्रविष्ट होता है तो वह अपने साथ देवों को भी आमन्त्रित करता है। उसका आमन्त्रण स्वीकार कर ये देव एक-एक इन्द्रिय में प्रविष्ट होकर वास करते हैं और पुरुष-यज्ञ नाम (यानी) पुरुष = जीवन रूप शत-सांवत्सरिक यज्ञ प्रारम्भ होता है। इस प्रवेश में—

अग्नि वाचा बनकर मुख में प्रविष्ट हुआ; वायु प्राण-पञ्चविध वायु—बनकर नासिका में प्रविष्ट हुआ; सूर्य चक्षु बनकर नेत्रों में प्रविष्ट हुआ; चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ; जल शुक्रबनकर शिश्न में प्रविष्ट हुआ। इस प्रकार—

गृह कृत्वा मर्त्य देवाः पुरुषमाविशन् ॥

—अथर्ववेद ११।८।१८

—पुरुष-शरीर को गृह बनाकर देव इसमें प्रविष्ट हुए। देवों के इस प्रवेश के कारण ही—

तस्माद्वै पुरुषमिदं विद्वान् ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥

—अथर्ववेद ११।८।३२

—ज्ञानी इस पुरुष को ब्रह्म ही मानता है। कारण, गोशाला में जैसे गौएँ रहती हैं, वैसे देव इस पुरुष—शरीर में रहते हैं।

पुरुष—शरीर का यह महत्त्व वेद-काल में था। इसीसे विभिन्न क्लेशों द्वारा हठ कर इसे कष्ट देना आर्य-संमत पद्धति नहीं है। यह प्रथा अनार्य जातियों के संग से अनन्तर काल में आर्यों में प्रविष्ट हो गयी। वैदिक आर्यों का शरीर के सम्बन्ध में क्या विचार था, यह जानने के लिए अब कुछ मन्त्र देखिए।



वर्ष-शतपर्यतं शरीरावयवानामारोग्यं स्थैर्य च

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।

अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा ।

अरिष्टानि में सर्वाऽऽत्माऽनिभृष्टः ॥

तनूस्तन्वा में सहेदतः सर्वमायुरशीय ।

स्योनं में सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राससु मा कृणु ।

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ —अथर्ववेद १६-६०-६३

—मेरे मुख में पूर्ण आयु तक[1] वाचा बनी रहे, नासिकाओं में प्राण, नेत्रों में चक्षु (दर्शन-शक्ति) तथा कर्णों में श्रोत्र (श्रवण शक्ति) बनी रहे । मेरे केश श्वेत न हों: दाँतों से रक्त न पड़े ।

—मेरे बाहुओं में प्रभूत बल रहे; ऊरुओं (जांघों) में ओज (दृढ़ता), जङ्घाओं (टाँगों) में वेग तथा पादों (पैरों) में स्थिरता (सौ वर्ष पर्यन्त भी न लड़खड़ाना एवं पक्षवध-लकवा-पीड़ित न होना) रहे ।[2] मेरे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग अविकल तथा आत्मा उत्साही रहे ।

—मेरे सर्व अवयव शरीर के साथ पूर्णायु-पर्यन्त रहें । मेरी सहन-शक्ति स्थिर रहे । दाँतों के साथ सारी आयु का मैं भोग करूं । मुझे पुष्कल सुख प्राप्त हो । मैं शुद्ध होकर स्वर्ग (उत्तम लोक या गृहस्थाश्रम) में आनन्दित रहूँ ।

—मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और सभी प्राणियों में प्रिय बनाओ ।

साधारण (औसतन) पुरुषायुष कम से कम सौ वर्ष होना चाहिए । संभव हो तो इससे अधिक भी । और इस संपूर्ण काल-पर्यन्त प्रत्येक इन्द्रिय अपना विषय ग्रहण करने में समर्थ और मन भी दैन्य-रहित रहना चाहिए यह आर्य मत है । देखिए—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात् । —यजुर्वेद ३६-२४

१— तृतीय मन्त्र में आये पदों 'सर्वमायुः' का सम्बन्ध यहां से अन्त तक है ।

२— अंग्रेजी के Thigh —थाई, Leg —लग तथा Foot—फुट के लिए अरु, जङ्घा तथा पाद शब्द संस्कृत में हैं ।

—देव नाम (यानी) विश्व की वस्तुमात्र का हितकर,[1] अपनी रश्मियों के संसर्ग से सर्व पदार्थों को शुद्ध करने वाला,[2] सर्वलोक का चक्षु,[3] सूर्य प्राची में उदित हुआ है। वर्ष-शत-शत-पर्यन्त हम इसका दर्शन करें। वर्षशतपर्यंत हम नासिका से प्राण का ग्रहण करें। वर्षशतपर्यन्त हम कर्णेन्द्रिय से शब्द का श्रवण करें। वर्षशतपर्यन्त हम वागिन्द्रिय से भाषक (शब्द-प्रयोग) करें। वर्षशतपर्यन्त हम अ-दीन (दैन्यरहित) होकर रहें। इतना हो क्यों ?—शत वर्ष की इस मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जायँ।

१— देव का अर्थ विश्व की वस्तुमात्र है। **सर्वमिदं विश्वे देवा** :— यह निरुक्त का प्रसिद्ध वचन है। कारण, प्रत्येक वस्तु से कुछ-न-कुछ दान (उपकार) होता ही है।

२— अग्नि को संबोधन कर रहा है—

यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं सर्वं शुचि विभाव्यते।
तथा त्वदर्चिर्निर्दग्धं सर्वं शुचि भविष्यति॥

—महाभारत, आदिपर्व, सप्तम अध्याय।

—नाम, जैसे सूर्य की रश्मियों के स्पर्श से सब वस्तुएँ शुद्ध हो जाती हैं, वैसे तेरी ज्वालाओं से स्पृष्ट सब वस्तुयें शुद्ध होती हैं। इस वचन से सूर्य के मन्त्रोक्त विशेषण 'शुक्र' का अर्थ समझना चाहिए। शुद्धि अर्थ की 'शुच्' धातु से यह व्युत्पन्न है। सूर्य और अग्नि से शोधन का एक अर्थ नवीनों का 'जीवाणु रहित होना' लेना चाहिए। शल्यकर्म में प्रयुक्त साधनों को अग्नि से शुद्ध करने के विधान में प्राचीनों ने इस बात को प्रत्यक्ष किया था। देखिए—

अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात् —सु. चि. २।४६—उदरभेद होने पर बाहर निकली मेद की वर्ति को अग्नितप्त शस्त्र से काटे। **अन्यथा अतप्तशस्त्रच्छेदने पाकभयं स्यात्**—डह्लन—ऐसा न करें तो पाक (पूयभाव) का भय रहता है। **रसरत्न-समुच्चय** में सूचिकाभरण के प्रयोग में सूचिका को बाष्पस्वेद देकर व्यवहार में लाने का उपदेश है। तथाहि—**सूच्याऽतिसूक्ष्मतया तोयस्विन्नयाऽतिप्रयत्नतः**। व्रण पर रखने के लिए प्रयुक्त होने वाली पट्टिका, विकेशिका (सूत्रवर्ति, Gauze-गॉज की बत्ती) तथा कवलिका (गद्दी, कपड़े का Pad-पैड) भी धूपित (गर्म, Sternilized-स्टरिलाइज्ड) करने का विधान है। तथाहि-**शुचि-शूक्ष्मदृढाः पट्टाः कवल्यः सविकेशिकाः। धूपिता मृदवः श्लक्ष्णा निर्वलीका व्रणे हिता** :—अ० ह० सू० २६।२६—नाम, व्रण पर रखने के पट्ट पट्टियाँ; (Bandage-बैंडेज), विकेशिका तथा कवलिकाएँ शुद्ध, सूक्ष्म सूत्रों वाली, दृढ, मृदु, श्लक्ष्ण (चिकनी), वली-रहित तथा धूपित (अग्नि पर गर्म की हुई) होनी चाहिए। (धूपित शब्द में संताप अर्थ की 'धूप' धातु है। व्रणोपयुक्त तैल-घृत भी अग्निपक्व होने के कारण तथा जीवाणुहर द्रव्यों से सिद्ध होने के कारण जीवाणुनाशक होते हैं)।

३— यद्यपि दर्शनों में लिखा है कि चक्षुरिन्द्रिय से निकली रश्मियाँ वस्तुओं पर पड़कर प्रतिक्षिप्त हो उनका दर्शन कराती हैं; परन्तु आयुर्वेद-मत से ज्योतिष्मान् सूर्यादि पिण्डों का तेज तथा प्राणियों के शरीर में स्थित तेज (आलोचक पित्त) दोनों मिलकर वस्तुओं का प्रत्यक्ष कराते हैं। तथाहि—"**तदुक्तं शालाक्ये-यत्तेजो ज्योतिषा दीप्तं शारीरं प्राणिनां च यत्। संयुक्तं तेज सांतेजस्तद्धि रूपाणि पश्यति**"।

—च० सू० ५।७ पर चक्रपाणि-धृत तन्त्रान्तरवचन।

और इस सम्पूर्ण काल में इन्द्रियों से कल्याणकार ही विषयों का ग्रहण करना चाहिए एवं विश्वमात्र के हितकर कर्म में ही तत्पर रहना चाहिए । देखिए—

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायु । —यजुर्वेद २५।२१

—हे देवों, हमारी जितनी आयु है उसमें कर्णों से कल्याणकारी बात ही सुने; चक्षुओं से कल्याणकारी पदार्थ ही देखें । हे याजकों, हम संपूर्ण आयुपर्यन्त अपने स्थिर (अविकल और दृढ़) अङ्गों से ईश्वर की आराधना करते हुए देवों का (पदार्थमात्र का हित ही करते रहें ।

हम अपने संग में आनेवाले यावत् उपयोगी चर-अचर पदार्थों (देवों) का हित करें—उनको अच्छी स्थिति में रखें तभी वे हमारा हित कर सकेंगे । यथा, यह शरीर अथवा जिसमें हम वास कर रहे हैं वह, गृह ग्राम या नगर हमारे हित का दाता होने से देव है । वह कैसे शुद्ध, स्वच्छ और सुन्दर रहे एतदर्थ हम परिश्रम करें यही उसका हमारी ओर से किया हित है । यह देव-हित करने से देव भी हमारे लिए हितकर सिद्ध होंगे । उल्लिखित उदाहरण पर अधिक विचार करने से यह वस्तु व्यक्त होगी । देवों के साथ इस परस्पर हित के आचरण को दृष्टि में रख कर ही भगवद्गीता में कहा है—

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ —गीता ३।११

—हे मनुष्यों, तुम परस्पर पूजा, संगतिकरण (मिलकर अभ्युदय के लिए चेष्टा) और सहायता रूप यज्ञ से देवों की आराधना—उनका हित-साधन करो । देव इसी प्रकार तुम्हारा हित-साधन करे । इस प्रकार परस्पर-भावना द्वारा तुम परम कल्याण प्राप्त करोगे ।

विश्व के कल्याण की इस भावना का ही परिणाम विश्व की मैत्री की प्राप्ति होती है । मानसिक शान्ति और लोक-व्यवहार में दक्षता के लिए यह मैत्री अत्यंत उपयोगी और आवश्यक है । अतएव इसकी प्राप्ति की इच्छा करता उपासक कहता है—

दृते दृँह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणिं भूताणि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । —यजुर्वेद ३६।१८

—हे सर्व क्लेशों के विदारक प्रभो, मुझे सर्व प्रकार से दृढ़ बनाइए । मुझे सर्व जन मित्र की दृष्टि से देखें । मैं सर्व प्राणियों के प्रति मित्र की दृष्टि रखूँ । हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि रखें । इस मैत्री की भावना के कारण ही मित्र, अमित्र, उदासीन (तटस्थ) सब की ओर से हम अभय रहें । तथाहि—

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे । अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् । अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥
—अथर्ववेद १६।१५।५-६

—अन्तरिक्ष (वायुमण्डल) हमारे लिए अभय हो, द्युलोक और पृथिवीलोक हमारे लिए अभय हों । हमारे लिए पीछे की ओर से अभय हो, आगे की ओर से अभय हो, ऊपर की दिशा से अभय हो, नीचे की दिशा से अभय हो ।

—मित्र से हमें अभय (भय का अभाव) हो, अनित्र नाम शत्रु या उदासीन से हमें अभय हों; ज्ञात (इन्द्रिय-प्रत्यक्ष) वस्तु से हमें अभय हो, परोक्ष वस्तु से हमें अभय हो । दिन को अभय हो, रात्रौ अभय हो । संपूर्ण दिशाएँ हमारी मित्र हों ।

अभय और मैत्री की भावना से जो मानसिक शान्ति होती है, वह स्वास्थ्य की प्राप्ति और स्थिरता के लिए कितनी उपयोगी है, इसकी झाँकी नवीनों को तो अभी-अभी कुछ कुछ हुई है ।

इस प्रकार अपने और अपने संपर्क में आनेवाले स्थावर-जङ्गम के उत्कर्ष की प्राप्ति का कर्म करते हुए ही पुरुषायुष पर्यन्त जीने की आकाङ्क्षा प्रत्येक पुरुष को रखनी चाहिए, यह वेद का आदेश है । देखिये—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
—यजुर्वेद ४०।२ (इशोपनिषद्)

—पुरुष को, अपनी प्रकृति के अनुरूप उसका जो वर्ण और आश्रम हो, उसके लिये शास्त्र में निर्दिष्ट कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए । इसके विपरीत कोई मार्ग उसके लिए नहीं है । इससे उसे कर्म का लेप नहीं होता—कर्म की आसक्ति नहीं होती ।

आजीवन कर्म करने का यह आदर्श उत्कृष्ट शरीर-संपत्ति से ही सिद्ध हो सकता है । इसीसे जातकर्म संस्कार में शिशु के पिता के मुख से अन्य अशिर्वचनों के साथ यह वचन भी कहलाया जाता है —

ओ३म् अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥
—मं. ब्रा. १।५।१८, १।१५।३

—वत्स, तू पाषाण के सदृश दृढ़-शरीर हो, परशु के समान तीक्ष्ण हो, विस्तृत सुवर्ण तथा अन्य हितकर और रमणीय द्रव्यों की निधि हो । तू मेरे पुत्र के रूप में वेद है । वह तू सौ वर्ष जी ।

सौ वर्ष ही क्यों, इससे भी अधिक जीने की भावना करता हुआ आर्य पिता इसी संस्कार में आगे तथा चूड़ाकर्म संस्कार में भी कहता है—

ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ —यजु. ३।६२; पा र० १।१६

जमदग्नि को जो तीन पुरुषायुष (तीन सौ वर्ष की आयु) प्राप्त हुए, कश्यप को जो तीन पुरुषायुष प्राप्त हुए, देवों को जो तीन पुरषायुष प्राप्त हुए वह हम सब को भी प्राप्त हो ।[1]

मध्यकाल में प्राचीन भारत की योग विद्या का संपर्क बौद्ध और जैन संस्कारों से होने के कारण यह मान्यता प्रवृत्त हुई है कि भारतीय योग और तपस्या का अर्थ शरीर और मन को विविध प्रकार से क्लिष्ट करना है । परन्तु योगदर्शन के विभूतिपाद में भूतजय (योग के प्रभाव से प्राप्त हुए पञ्चमहाभूतों पर विजय) से योगी को जो काय-संपत् नाम शरीर का उत्कर्ष प्राप्त होता है, वह इस बात का गमक है कि वेद में शरीर को जो महत्त्व दिया गया है योग-विद्या में भी उसका वही महत्त्व प्रतिपादित है । तथाहि—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥

—रूप, लावण्य, और बज्रमय शरीर इसका नाम कायसंपत् है ।

शरीर और मन का उत्कर्ष सिद्ध करने की इस भावना का ही परिणाम होता था कि प्राचीन आर्य प्रबल आत्मविश्वास के साथ घोषणा करते थे—

कृतं में दक्षिणे हस्ते जृयो मे सव्य आहितः ॥ —अथर्वेद ७/५२/८

—पुरुषार्थ मेरे दक्षिण हस्त में है और जय (साफल्य) वाम हस्त में ।

संप्रदाय-भेद से प्रतिदिन दो किंवा तीन बार संध्या तथा अग्निहोत्र में शरीर और मन के उत्कर्ष की उक्त-प्रकारक भावना तथा तदनुरूप अनुष्ठान का ही प्रताप था कि प्राचीन आर्य अपने जीवन में वस्तुतः इन सिद्धियों को प्राप्त करते थे अनुष्ठान की बात जाने दीजिए केवल संकल्प का भी शरीर पर प्रबल प्रभाव होता है । देखिए—

स मनसा ध्यायेद्—यद्वा अहं किञ्चन मनसा ध्यास्यामि तथैव तद् भविष्यति । तद्धस्म तथैव भवति ॥ —गोपथ ब्राह्मण पू. १।६

—पुरुष मन में संकल्प करे—मैं जिस वस्तु का मन में ध्यान करूंगा वह वैसी ही बन जायेगी । वस्तुतः वह वस्तु वैसी ही बन भी जाती है ।

केवल अन्तःप्रकृति पर नहीं बाह्य प्रकृति पर भी संकल्प का ऐसा ही प्रभाव प्राचीनों ने बताया है । अन्यत्र ब्राह्मण ने कहा है—भिन्न-भिन्न यज्ञकर्ता

१— वेद में इतिहास मानने वाले विद्वान् जमदग्नि तथा कश्यप को इतिहास में हुए व्यक्ति तथा देवों को जाति-विशेष मानते हैं । वेद में इतिहास न मानने वाले विद्वान् इन शब्दों से किसी भी काल में हुए या होने वाले तत्तद् गुण-विशिष्ट व्यक्तियों का ग्रहण करते हैं ।

मेघों के अविर्भाव, गर्जन, वृष्टि आदि का ध्यान करें तो प्रकृति को वर्षा लाये बिना छुटकारा नहीं । गीता में श्री भगवान् ने स्पष्ट ही कहा है, पुरुष की जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही उसका निर्माण होता है । तथाहि—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ —भगवद्‌गीता १७।३

मन की संकल्प-शक्ति को लक्ष्य कर अन्यत्र भगवान् ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—मन ही पुरुषों के बन्धन तथा मोक्ष का मूल कारण है—

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥

संध्या और अग्निहोत्र में किये जानेवाले इस संकल्प और अनुष्ठान का प्रभाव जताते हुए महाभारत में कहते हैं—

ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नु वन् ॥

—महाभारत, अनुशासन पर्व अ० १०४

ऋषियों ने नित्य संध्योपासना द्वारा ही दीर्घ आयु प्राप्त की थी ।

आजकल के छोकरे 'ऑटो-सजेशन' आदि पर नवीनों के लिखे ग्रन्थ पढ़ते हैं । बेचारों को पता नहीं—इस भूमि पर संकल्प-शक्ति के प्रभाव का विचार और उपयोग किस मर्यादा तक पहुँच चुका था ।

यह संकल्प शुभ और अशुभ दोनों प्रयोजनों से हो सकता है । वेद का आदेश है, संकल्प सदा शुभ ही कार्यों के लिए करना उचित है । अगले प्रकरण में दिए 'शिव-संकल्प' सूक्त से यह बात स्पष्ट होगी ।



तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु

ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदैति देवं तदु सुप्तस्य तथैवेति । दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

ओ३म् येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः । यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रचानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

ओ३म् यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु । यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

ओ३म् येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

ओ३म् यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा । यस्मिंश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

ओ३म् सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

—यजुर्वेद अ० ३४ । मं० १।६

—मेरा जो मन जाग्रत अवस्था में अपने स्थान (हृदय) से निकल कर दूर-दूर जाता है, सुप्त (स्वप्न) अवस्था में भी जो इसी प्रकार दूर-दूर जाता है—जिसका इस प्रकार दूर-दूर गमन का स्वभाव ही है, जो ज्योतियों का ज्योति है, नाम वस्तुओं का प्रकाशित करने वाली–उनका ज्ञान करानेवाली ज्ञानेन्द्रियों एवं उनके सहायक सूर्यादि ज्योतिष्मान पिण्डों का भी प्रकाशक —ज्ञापक है, जिसके बिना इनका भी ज्ञापन-सामर्थ्य नहीं होता, अतएव जो दैव है—अर्थात् देव (आत्मा) का परम सहायक है, वह मेरा मन (सदा अपना और सबका) शुभ ही संकल्प करने वाला हो ।[1]

१— आधुनिकों ने मन के दो भेद माने हैं—जाग्रत् अवस्था में काम करनेवाला —इन्द्रियों का प्रेरक—एक, तथा स्वप्नावस्था में काम करनेवाला द्वितीय । इस द्वितीय मन को सुप्त मन (**Inner self**)-इनर सेल्फ; **Subconcious mind**-सबकॉन्शस माइण्ड) कहते हैं । निगृहीत (**Repressed**-रीप्रेस्ड) इच्छाएँ इसमें जाकर छुप जाती हैं, और विभिन्न मनोविकारों को उत्पन्न करती हैं । मनोविश्लेषण (**Psycoanalysis** -सायकोएनलिसिस) संमोहन (**Hypnotism**-हिप्नॉटिज्म) आदि द्वारा उलझन को जान कर मन को स्वस्थ किया जाता है । नीरोगावस्था में भी आत्मोपदेश (**Auto-suggestion**-ऑटोसजेशन) द्वारा उत्तम संकल्पों से इसी मन को प्रभावित कर पुरुष को उन्नत बनाया जाता है । वेदमन्त्र से स्पष्ट है कि प्राचीनों ने जाग्रत और सुप्त उभय दशाओं में मन एक ही माना है ।

—हर्ष-शोक, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुख आदि विकार-जनक द्वन्द्वों के उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त में परिवर्त्तन (विकार) नहीं होता ऐसे धीर (धैर्यशाली)[1] महामना पुरुष यज्ञों में नाम परस्पर सहायता से किये जाने वाले उन सामुदायिक कर्मों जिनमें उत्तमों की पूजा (प्रतिष्ठा), समानों के साथ मिलकर उद्यम तथा अपने से अवरों को दान (जिसमें वे न्यून हैं उस वस्तु का प्रदान) किया जाता है उनमें एवं विंदथों में—घर पर किये जानेवाले वैयक्तिक कार्यों में—अपने प्रकृति-नियत कर्तव्य कर्मों को जिसके (जिस मन के) आश्रय से करते हैं, जो प्रजाओं के अन्तःकरण में स्थित अद्वितीय यक्ष (पूजनीय पदार्थ) है वह मेरा मन (सदा अपना और सब का) शुभ ही संकल्प करनेवाला हो ।

—जो प्रजाओं, नाम, मानवादि प्राणियों के ज्ञान (विषयानुभव) का साधन (प्रज्ञान) है, जो अनुभूत वस्तुओं के स्मरण का हेतु (चेतः, चित्तम्)[2] है तथा जो हित वस्तुओं के सेवन और अहित वस्तुओं के परिहार में उपयोगी संयम का निमित्त (धृति)[3] है जिसके बिना कोई भी कर्म (ज्ञान या चेष्टा) संभव नहीं

१— **विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।**

—यह धीरों की परिभाषा प्रसिद्ध है ।

२— **मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम् ।**

संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ॥

अन्तःकरण के चार भेद बताकर शंकर स्वामी ने चित्त का कर्म स्मरण बताया है ।

३— धृति का कार्य विषय-प्रवण (अनिष्ट-विषयासक्त) मन को संयत करना है । प्रज्ञापराध का लक्षण बताते हुए आचार्य ने धृति का यही कर्म कहा है । देखिए—

विषय-प्रवणं सत्त्वं धृतिभ्रंशान्न शक्यते ।

नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका ॥ —च० शा० १।१००

विषय-प्रवणं विषयेषु प्रसक्तत् । नियन्तुमिति व्यावर्तयितुम् । धृतिर्हि नियमात्मिकेति यस्मात् धृतिरकार्य-प्रसक्तं मनो निवतयति स्वरूपेण, तस्मान्मनोनियमनं ॥ कर्तृमशक्ता वृत्ति स्वकर्मभ्रष्टा भवतीत्यर्थः । — चक्रपाणि

—धृति का कार्य नियमन अर्थात् अहित अर्थ (विषय) में प्रवृत्त होते मन का निवारण है । धृति का भ्रंश (अपने कार्य में अशक्ति हो) तो वह अनिष्ट विषय के प्रति प्रवण (प्रवत्त; **Prone**-प्रोन) मन का नियमन नहीं कर पाती ।

प्रसंगवश आयुर्वेद में सर्व रोगों की उत्पत्ति के हेतु **प्रज्ञापराध** का भी संक्षेप में लक्षण देखिए —

धी-धृति-स्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ॥

प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् । —च० शा० १।१०२

शरीर और मन के हितकर और अहितकर वस्तुओं का ज्ञान धी कहाता है । जिसका सेवन प्राप्त है वह वस्तु हितकर है या अहितकर—इसका उस काल ध्यान हो

है,[1] जो प्रजाओं के अन्तःकरण में विद्यमान अमर[1] ज्योति है, वह मेरा मन (सदा अपने और सबके लिए) शुभ ही संकल्प करनेवाला हो ।

—अमरणधर्मा[2] जिस मेरे मन से (वर्तमानकाल में भी) भूतकालिक, वर्तमान (भुवन) और भविष्यत्कालिक पदार्थ मात्र का पूर्ण ज्ञान होता है, जिसके द्वारा सात होता ओंवाला[3] यह पुरुष-जीवन रूपी यज्ञ[4] किया जाता है, वह मेरा मन (सदा अपने और सब के लिए) शुभ हो संकल्प करनेवाला हो ।

आना स्मृति कहलाती है । ज्ञान और स्मृति होने पर हितकर वस्तुओं के सेवन और अहितकर वस्तुओं के परिहार (**Avoidance**-अवॉयडेन्स) के योग्य संयम होना **धृति** कहाता है । तीनों का मिलित नाम प्रज्ञा है । धी, स्मृति और धृति का न होना या अपूर्ण होना एवं इस स्थिति के कारण अपने लिए अशुभ (रोगजनक) कर्म करना **प्रज्ञापराध** कहलाता है । यह प्रज्ञापराध सर्व दोषों—वात, पित्त, कफ इन शारीर दोषों तथा रज, तम —इन मानस दोषों का प्रकोपक है ।

प्रत्येक पुरुष को स्वस्थ रहने के लिए अपने हिताहित आहार, औषध, विहार (चेष्टा) देश और काल का ज्ञान होना ही चाहिए । जैसे विधि । (कायदा) का ज्ञान नहीं था ऐसा कह कर कोई नागरिक अपराध से मुक्त नहीं हो जाता (**Ignorance is no excuse**) वैसे अपने हिताहित का ज्ञान न होने से कोई प्रकृति के अनारोग्य कर नियमों के परिणाम से छूट नहीं सकता)

१— आयुर्वेद में भी कहा है—आत्मा अकेला कुछ नहीं कर सकता । मन से अधिष्ठित इन्द्रियों की सहायता से राशि-पुरुष (कर्म-पुरुष, संयोग-पुरुष) में ही ज्ञान, कर्म और कर्मफलोपभोग होता है । (देखिए—आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान) । मन का यह महत्त्व होने से ही यहाँ प्रथम मन्त्र में उसे दैव (देव नाम आत्मा का सहाय) कहा है । नीचे लिखे मन के कर्मों में 'अपना निग्रह और इन्द्रियों का निग्रह' भी परिगणित है ।—

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः ।
ऊहो विचारश्च ॥ —च० शा० १–२१

—इन्द्रियों का निग्रह (नियन्त्रण), अपना नियन्त्रण; तर्क, विचार तथा अनुभूति (ज्ञान) पदार्थों के गुण-दोष का विवेचन (संकल्प— देखिए आगे २२वाँ श्लोक)—ये मन के कर्म हैं ।

२— सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक प्रत्येक आत्मा के लिए ही मन रहता है । यह उसका सापेक्ष अमरत्व है । दैन्य के विचारों से उसे मृतवत् बना देना अवैदिक है । मन का संकल्प कैसा हो इसके कुछ उदाहरण आगे दिये जा चुके हैं ।

३— निरुक्त दैवतकाण्ड अ० १२। खं० ३७ में मन-सहित छः इन्द्रियों तथा सातवी विद्या इनको सात ऋषि कहा है—**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी ।** यही ऋषि यहाँ 'होता' नाम से अभिप्रेत हैं ।

४— पुरुष-जीवन को वैदिक वाङमय में यज्ञ कहा है । देखिये एक प्रमाण—पुरुषो वाव

यज्ञ :— छान्दोग्योपनिषद् अ० ३। खं० १६ ।

—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद (तथा इनके अन्तर्गत अथर्ववेद) जिसमें ऐसे स्थिर होकर रहते हैं जैसे रथ की नाभि में अरे (अर्थात् जो सर्व विद्याओं क आश्रय-स्थान है) तथा प्राणियों का चित्त नाम स्मरण की वृत्ति जिसमें ओत (गुंथी हुई) है वह मेरा मन (सदा अपने और सब के लिए) शुभ ही संकल्प करनेवाला हो ।

—उत्तम सारथि जैसे रश्मियों (लगामों) की सहायता से अश्वों से अभीप्सित गति कराता है वैसे ही इन्द्रियों द्वारा जो पुरुषों की निगृहित कर[१] अभीष्ट मार्ग पर लाता है, जो हृदय में स्थित, अजिर (चपल) और अति वेगशाली है, वह मेरा मन (सदा अपने और सब के लिए) शुभ ही संकल्प करनेवाला हो ।

आयुर्वेद वेदों का ही उपवेद होने से तथा उन पर ही आश्रित होने से उसमें में शरीर का असाधारण महत्त्व स्वीकार किया गया है । अगले प्रकरण में एक-दो वचनों द्वारा इस वस्तु का प्रतिपादन कर, आयुर्वेद के शब्दों में निरूपण करेंगे कि शरीर का यह महत्त्व होने से रोगादि से उसकी रक्षा मानवमात्र का परम धर्म है । इस प्रयोजन की सिद्धि आयुर्वेद से होती है ।



१— आयुर्वेद ने भी मन का कर्म अपना और इन्द्रियों का निग्रह बताया है । यह ऊपर लिखा है ।

शरीररक्षोपदेशः

टिप्पणी में प्रज्ञापराध का लक्षण देते हुए कहा है कि—शरीर के आरोग्य, पुरुषायुष की प्राप्ति तथा आमरण शरीरावयवों की दृढ़ता का आदर्श पूर्ण करने की जिम्मेदारी प्रत्येक पुरुष की स्वयं है । आचार्यों ने कण्ठ-रव से (स्पष्ट शब्दों में) अन्यत्र कहा है ।—

पुरुषो मतिमानात्मनः शारीरेष्वेव योगक्षेमकरेषु प्रयतेत विशेषेण शरीरं ह्यस्य मूलम्; शरीरमूलश्च पुरुषो भवति । भवति चात्र[1]—

सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ॥
तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम् ॥

—च० नि० ६।६

—बुद्धिमान (प्रज्ञा-युक्त) पुरुष को चाहिए कि जिन आहार विहारादि से शरीर का योगक्षेम हो —नाम, अनागत व्याधियों की अनुत्पत्ति एवं बल-वर्णादि की प्राप्ति हो—उनके ही ज्ञान और अनुष्ठान का प्रयत्न करे । कारण, ही इसका मूल है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थों के आचरण में शरीर ही कारण है । कहा भी है—शेष सब कुछ छोड़कर पुरुष को शरीर का ही संरक्षण करना चाहिए । शरीर के अभाव में शेष सब पदार्थों का अस्तित्व होते हुए भी उनका अभाव ही होता है । अपिच—

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथो यथा ।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत् ॥ —च० सू० ५।१०३

—जैसे नगरपति नगर के योगक्षेम के कार्यों में एवं रथी रथ के योगक्षेम के कार्यों में सावधान रहता है, वैसे प्रत्येक मेधावी पुरुष को अपने शरीर के योगक्षेम में अवहित (सावधान) रहना चाहिए —आभ्यन्तर दोष-वैषम्यादि से तथा बाह्य अहित वस्तुओं के संसर्ग से इसका रक्षण तन्मय हो कर करना चाहिए ।

आयुर्वेदं प्रत्यादरोपदेशः

शरीर के योगक्षेम का यह प्रयोजन आयुर्वेद के अध्ययन और तदनुरूप आचरण से ही सिद्ध हो सकता है । तथाहि—

१— संहिताकार अपने कथन के प्रमाण-रूप जहाँ पूर्व ग्रन्थकार का वचन उद्धृत करते हैं, वहाँ प्रथम **'भवति चात्र'** इन पदों का उपयोग करते हैं ।

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥ —अ० हृ० सू० १।२[१]

—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों (पुरुषमात्र के काम्यों) की साधनभूत आयु की इच्छा रखनेवाले पुरुष को आयुर्वेद के विभिन्न तन्त्रों (ग्रन्थों) में किये गये उपदेशों के प्रति अत्यन्त आदर (प्रयत्न) करना चाहिए । —तन्त्रों में कहे वचनों के अर्थावबोध और तदनुकूल आचरण का निष्ठा-पूर्वक प्रयास करना चाहिए ।

चिकित्सायाः सर्वतोभद्रता

इसी वस्तु को अष्टाङ्गसंग्रहकार ने चिकित्सा की सर्वतोभद्रता दर्शाते हुए सुन्दर पदों में कहा है —

क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्धर्मः क्वचिद्यशः ।

कर्माभ्यासः क्वचिच्चैव चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

—अ० सं० उ० ५०[२]

—चिकित्सा-कार्य का विचार किसी भी दृष्टि से उसका कुछ-न-कुछ उपयोगी फल होता ही है । प्रथम तो इससे अर्थ-प्राप्ति होती है । वह न हो तो मैत्री तथा लोकों में परिचय की वृद्धि होती है । ये दोनों न हों तो धर्म-लाभ तो होता ही है । उसका भी विचार न करें तो अपने यश का विस्तार होता है । यह सब भी न हो तो कर्म में कुशलता तो बढ़ती ही है । सो यह चिकित्सा-शास्त्र सर्व प्रकार से उपादेय और अनुष्ठेय शास्त्रोत्तम है इसमें संशय नहीं । आयुर्वेद की इसी उपयोगिता को तन्त्रकार ने आयुर्वेद की चातुर्वर्ण्यमात्र के लिए उपादेयता के रूप में अगले प्रकरण में निर्दिष्ट प्रकार से दर्शाया है ।



१—x x उपदेशा आयुर्वेद-तंत्रादि । तेषु परमादरः पाठावबोधानुष्ठानरूप उत्कृष्टो यत्नः कार्यः । आयुर्वेदोपदेशेष्विति बहुवचनादयमर्थो बोध्यते । बहुष्वायुर्वेदतन्त्रेषु यत्नः कार्यः । अनेकायुर्वेदावलोकनाद्धि चिकित्सायां वैद्यस्य न मनागपि सन्देहो जायते । x x x । सुखं द्विविधम्-तादात्विकमात्यन्तिकं च । x x । आत्यन्तिकं सुखं मोक्षाख्यम्—अरुणदत्त ।

२— इसी काल के कविराज विनोदलाल सेन गुप्त ने अत्यन्त प्रयत्न करके **भैषज्यरत्नावली** नामक निदान-चिकित्सा का ग्रन्थ लिखा है । इसमें वृद्धत्रयी (चरक-सुश्रुत-वाग्भट) से उपयुक्तांशों का ग्रहण कर रस-ग्रन्थों से भी रस-चिकित्सा का संग्रह किया है । कुछ टीकाकारों ने इसमें नवीनों द्वारा आविष्कृत रोगों का भी निवेश कर इसकी उत्तम हिन्दी टीकाएँ प्रकाशित की है । उक्त पद्य इस ग्रन्थ में तथा रसरत्नसमुच्चय से भी उद्धृत है ।

चातुर्वर्ण्येनाप्यध्येतव्योऽनुष्ठातव्यश्चायुर्वेदः

जाति (जन्म) और प्रकृति-भेद से प्रत्येक देश का समाज इन चार वर्णों में विभक्त हुआ देखा जाता है । ब्राह्मण (शिक्षक), क्षत्रिय (आन्तर-बाह्य रक्षक), वैश्य (व्यवसायी) तथा शूद्र (अन्य योग्यता न होने से उक्त वर्णों की सेवा करने वाले) इन सभी को अपने-अपने जाति तथा प्रकृति-नियत शास्त्रोपदिष्ट कर्तव्य करने में आयुर्वेद से परम सहायता प्राप्त होती है । देखिये—

स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः । तत्रानुग्रहार्थं प्राणिनां ब्राह्मणै, आरक्षार्थं ('आत्मरक्षार्थम्' इति पाठान्तरम्) राजन्यैः, वृत्त्यर्थं वैश्यैः । सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः । तत्र यदध्यात्मविदां धर्मपथस्थानां धर्मप्रकाशकानां वा मातृपितृबन्धुगुरुजनस्य वा विकार-प्रशमने प्रयत्नवान् भवति, यच्चायुर्वेदोक्तमध्यात्ममनुध्यायति वेदयत्यनुविधीयते वा, सोऽस्य परो धर्मः । या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात् सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्थावाप्तिरारक्षणं च, या च स्वपरिगृहीतानां प्राणिनामातुर्यादारक्षा, सोऽस्यार्थः । यत्पुनरस्य विद्वद्ग्रहणयशः शरण्यत्वं च, या च संमानशुश्रूषा, यच्चेष्टानां विषयाणामारोग्यमाधत्ते सोऽस्य कामः।।

—च० सू० ३०।२६

—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों को इस आयुर्वेद का अध्ययन करना चाहिए— (अनागत रोगों का प्रतिषेध और उत्पन्न रोगों की चिकित्सा द्वारा) प्राणिमात्र का[१] अनुग्रह करने के लिए ब्राह्मणों को; (इन्हीं कर्मों द्वारा) अपनी ओर अन्यों की रक्षा द्वारा अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए क्षत्रियों को; एवं वृत्ति (उदर-भरण) के लिए वैश्यों को । अथवा—धर्म, अर्थ और काम इन पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए मानव-मात्र को इसका अध्ययन करना चाहिए ।

—(आयुर्वेद से धर्मादि पुरुषार्थ की सिद्धि अधोलिखित प्रकार से होती है) अध्यात्म के ज्ञाताओं, धर्म-मार्ग के पथिकों, धर्म के प्रकाशकों (प्रचारकों) एवं माता, पिता, भ्राता, बन्धु (स्वजन) और गुरुजनों के विकारों की शान्ति के लिए आयुर्वेदवित् जो प्रयत्नवान् होता है, अथ च आयुर्वेदोक्त अध्यात्म का चिन्तन, प्रतिपादन (अन्यों को शिक्षण) तथा अनुष्ठान करता है वह इसका परम धर्म है; नाम इस रीति से आयुर्वेद द्वारा धर्म की सिद्धि होती है । राजाओं (राज्याधिकारियों)

१— आयुर्वेद केवल मानवों के लिए नहीं है । विभिन्न पशु-पक्षी ही नहीं, वृक्षों की भी रोगानुत्पत्ति और रोग-शान्ति आयुर्वेद का प्रयोजन है । अश्वायुर्वेद पर **शालिहोत्र संहिता** (शालिहोत्रकृत) तथा नकुल (पाण्डव) कृत और जयदत्त सूरिकृत **अश्ववैद्यक** आज भी उपलब्ध है ।

गजायुर्वेद-विषयक पालकाप्यकृत **पालकाप्य-संहिता** भी प्राप्त होती है । गवायुर्वेद पर **गौतम-संहिता** के उद्धरण ही यत्र-तत्र मिलते हैं । **वृक्षायुर्वेद** भी संप्रति उपलब्ध है ।

अथवा धनपतियों से अपनी सुख-शान्ति के निमित्त जो द्रव्य-लाभ एवं आत्मादि का रक्षण करता है, तथा अपने परिगृहीत (आश्रित भृत्यादि) प्राणियों की रोग से रक्षा करता है वह **अर्थ-प्राप्ति** है ।[१] विद्वानों की उपासना से प्राप्त यश, प्रजा में अपना संमान और शुश्रूषा एवं अपने इष्ट (प्रिय) स्त्री आदि को आरोग्य-प्रदान ही **काम** है ।



१— स्वयं आयुर्वेद का ज्ञान न हो तो अपने भृत्यादि का उपचार चिकित्सक से कराने से धन का व्यय होता है । स्वयं को आयुर्वेद का ज्ञान हो तो अनुकूल उपचार से इस व्यय की रक्षा हो सकती है । इसी को यहाँ अर्थ-प्राप्ति कहा है —**Money saved is Money earned**–धन की रक्षा भी धन की प्राप्ति ही है ।

आयुर्वेद-पदार्थः

आयुर्वेद शब्द का विस्तृत अर्थ देते हुए आचार्य ने दर्शाया है कि आयुर्वेद से किस प्रकार इन प्रयोजनों की सिद्धि होती है । सो, प्रथम आयु शब्द का शास्त्रोक्त अर्थ देकर अनन्तर आयुर्वेद शब्द की व्याख्या देते हैं—

आयुषो लक्षणम्

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगी धारि जीवितम् ।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते[1] ॥ —च० सू० १-४२

तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः ॥

—च० सू० ३०।२२

—पञ्च महाभूतों का विकार-रूप (उनसे बना) तथा आत्मा का भोगायतन (कर्मफल के भोग आदि का स्थान) यह शरीर, चक्षु आदि इन्द्रियाँ, सत्त्व (मन), और विभिन्न इन्द्रियों और मन से होनेवाले ज्ञान या प्रतिसंधाता (उनका परस्पर संबन्ध जोड़नेवाला) आत्मा इन सब के अदृष्ट (भाग्य)—वश हुए संयोग तथा तज्जन्य चैतन्य की अनुवृत्ति (संतान, परम्परा) को आयु कहते हैं ।

—धारि, जीवित, नित्यंग और अनुबन्ध ये आयु के पर्याय हैं । आयु को धारि इस हेतु कहते हैं कि जब तक यह आयु रहता है तब तक शरीर को पूति (सड़ा) नहीं होने देता—स्व-रूप में धारण किये रहता है । जीवित (या जीवन) इस निमित्त कहते हैं कि यह पूर्वकथित प्राणों का धारण किये रहता है । इस पद में प्राणधारणार्थक जीव धातु है । नित्यग इसे इसलिए कहते हैं कि शरीर के क्षणिक होने से यह नित्य जाता रहता है—नाश की ओर गति करता रहता है । इसे अनुबन्ध कहने का कारण यह है कि आयु के अवयव-भूत शरीरादि का गर्भ से मरण-पर्यन्त परस्पर संबन्ध रहता है । इन पर्यायों में जीवित को छोड़, शेष पदों का व्यवहार नहीं होता ।

अथायुर्वेद-पदस्यः निरुक्तिः (व्युत्पत्ति)

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ —च० सू० १।४१

१— चक्रपाणिटीका-आयुर्वेदपदे पूर्वपदवाच्यमायुराह-शरीरेत्यादि । शरीरं पञ्चमहाभूतविकारात्मकमात्मनो भोगायतनम्, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि; सत्त्वं मनः, आत्मा ज्ञानप्रतिसंघाता; एषां सम्यगदृष्टतन्त्रितो योगः संयोगः । x x x । तस्यायुषः पर्यायानाह-धारीत्यादि । धारयति शरीरं पूतिता गन्तुं न पदातीति धारि । जीवयति प्राणान धारयतीति जीवितम् । नित्यं शरीरस्य क्षणिकत्वेन गच्छतीति नित्यगः । अनुबध्नात्यायुरपरापरशरीरादिसंयोगरूपतयेत्यनुबन्ध : x x x,

तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः । कथमिति चेत् ?—उच्यते । स्वलक्षणतः सुखासुखतो हिताहितः प्रमाणाप्रमाणतश्च । यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्य-गुण-कर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः ॥
—च० सू० ३०।२३

'आयुर्वेदयति बोधयति इति आयुर्वेदः' नाम, यह शास्त्र आयु का वेदन (ज्ञान, बोध) कराता है, अतः इसे आयुर्वेद कहा जाता है । इसका उत्तरपद ज्ञानार्थक विद् धातु से बना है । आयुर्वेद में आयु का स्वरूप अनेक प्रकार से बताया गया है । तथाहि, आयु का सामान्य लक्षण, सुखयुक्त तथा दुःखयुक्त आयु लक्षण, हित (हितकर) तथा अहित आयु का लक्षण; आयु का प्रमाण (अवधि, मर्यादा) आयु का अप्रमाण एवं आयुष्य (आयु के लिए अनुकूल) तथा अनायुष्य द्रव्य, गुण और कर्म-आयु के संबन्ध में इन सब बातों का बोध आयुर्वेद में कराया गया है ।

ऊपर दी आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति में विद् धातु का ज्ञान अर्थ में प्रयोग है । विद् धातु भिन्न-भिन्न गणों में भिन्न-भिन्न अर्थों में आती है । उनसे भी आयुर्वेद शब्द की व्युत्पत्ति बतायी गयी है । तथाहि —

आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः ॥ —सु० सु० १।५१

—प्रतिपाद्य विषय के रूप में आयु इसमें विद्यमान है, अतः इसे आयुर्वेद कहते हैं । यहाँ सत्तार्थक विद् धातु है । अथवा—इससे पुरुष आयु को प्राप्त करता है, अतः इसे आयुर्वेद कहते हैं । यहाँ लाभार्थक विद् धातु है । टीकाकार डल्हन ने इस स्थल पर दो अन्य भी निरुक्तियाँ दी हैं ।

आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति आयुर्वेदः । आयुर्विद्यतेविचार्यतेऽनेन वेत्यायुर्वेदः ।

—आयु इससे जानी जाती है अतः इसे आयुर्वेद कहते हैं । यहाँ ज्ञानार्थक विद् धातु है । अथवा —आयु का इसके द्वारा विचार (विवेचन) किया जाता है, अतः इसे आयुर्वेद कहते हैं । यहाँ विचारणार्थक विद् धातु है । इस प्रकार आयुर्वेद पद की पाँच व्युत्पत्तियाँ हैं ।

सुखादीनामयुषां लक्षणम्

आयु का लक्षण तथा सुख-युक्तादि आयुओं का निरूपण आयुर्वेद में होता है, यह ऊपर कहा है । प्रसंगवश आयु के इन प्रकार-भेदों का लक्षण दिया जाता ।—

तत्रायुरुक्तं स्वलक्षणतो यथावदिहैव पूर्वाध्याये च । तत्र शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्यामनभिद्रुतस्य, विशेषेण यौवनवतः समर्थानुगतबलवीर्यशः-पौरुषपराक्रमस्य, ज्ञानविज्ञानेन्द्रियेन्द्रियार्थबलसमुदये वर्तमानस्य, परमर्द्धिरुचिरविविधोपभोगस्य, समृद्धसर्वारम्भस्य, यथेष्टविचारिणःसुखमायुरुच्यते । असुखमतो विपर्ययेण ॥
—च० सू० ३०।२४

—आयु का लक्षण ऊपर कह आये हैं । सुख (सुखयुक्त) आयु का स्वरूप यह है : पुरुष शारीर और मानस रोगों से पीडित न हो; विशेषेण युवा हो; समर्थ नाम उत्तम प्रयोजनवाले (सदुपयोग में आनेवाले) बल[१], वीर्य, यश, पौरुष (कर्म) और पराक्रम से युक्त हो; ज्ञान, विज्ञान (शिल्प), इन्द्रिय और इन्द्रियों के अर्थ (विषय)—इनके उत्कर्ष से युक्त हो; जिसके उत्कृष्ट वैभव तथा सुन्दर और विभिन्न प्रकार का (सर्व विषयों तथा सर्व इन्द्रियों का) उपभोग हो ऐसा; जिसके सभी आरम्भ (उद्योग, प्रयत्न) सफल ही होते हैं ऐसा, एवं जिसका गमन सर्वत्र अप्रतिहत (अनिवारित) हो—ऐसा हो तो उसकी आयु को सुख कहते हैं ।

उक्त लक्षण से विपरीत आयु को असुख कहते हैं ।

हितैषिणः पुनर्भूतानां परस्वादुपरतस्य, सत्यवादिनः, शमपरस्य, (सामपरस्य' इति पाठान्तरम्), परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य, त्रिवर्ग परस्परेणानुपहत-मुपसेवमानस्य, पूजार्हसंपूजकस्य, ज्ञानविज्ञानोपशमशीलस्य, वृद्धोपसेविनः, सुनियतरागरोषेर्ष्यामदमानवेगस्य, सततं विविधप्रदानपरस्य, तपोज्ञानप्रशम-नित्यस्याऽध्यात्मविदस्तत्परस्य, लोकमिमं चामु चावेक्षमाणस्य, स्मृतिमतिमतो हितमायुरुच्यते । अहितमतो विपर्ययेण ॥

—च० सू० ३०।२४

—हित और अहित आयुओं के लक्षण अधोलिखित हैं । —पुरुष प्राणिमात्र का हितैषी हो; अन्यों के द्रव्यों के प्रति पराङ्मुख हो; सत्यवादी और शमपरायण (पाठान्तर में साम-परायण) हो; परीक्ष्यकारी—प्रत्येक कार्य को विचार कर ही करनेवाला–हो; धर्म और काम (सांसारिक सुख) का सेवन इस प्रकार करता हो कि एक का सेवन करते अन्य की हानि न हो; पूज्यों की पूजा करता हो विज्ञान और उपशम (मनःशान्ति) के स्वभाव वाला हो; वृद्धोपसेवी हो; जिसके राग (प्रीति), रोष, ईर्ष्या, मद और मान (अभिमान[२]) के वेग सर्वथा नियत (देशकाल का विचार कर तथा उचित प्रमाण में) हो; जो सतत विविध दान करता हो; तप, ज्ञान और प्रशम में नित्य लगा हो; अध्यात्म का ज्ञाता तथा उसके अनुष्ठान में तत्पर हो; इह और पर दोनों लोकों को दृष्टि में रखता हो; स्मृति और मतियुक्त हो, तो उसकी आयु हित कही जाती है ।

हित–लक्षण विपरीत आयु को अहित कहते हैं ।

१— बल-शारीर और मानस श्रम करने की शक्ति, अनुत्पन्न या उत्पन्न रोगों का सामना करने की शक्ति (पर्याय-क्षमता : **Resistance**-रेजिस्टेन्स) तथा रोग होने पर औषधों के वीर्य (क्रियाशक्ति) को सहन करने की शक्ति—इन तीन का नाम आयुर्वेद में बल है ।

२— अपने गुणों का ज्ञान और उनके लिए अहंभाव होना मान या अभिमान कहाता है । परन्तु उसके साथ इतरों में इन्हीं गुणों का अभाव दिखाकर अपना उत्कर्ष दर्शाने और अन्यों का तिरस्कार करने की वृत्ति भी हो तो इसे मद कहते हैं ।

प्रमाणमायुषस्त्वर्थेन्द्रियमनोबुद्धिचेष्टादीनां विकृतिलक्षणैरुपलभ्यतेऽनिमित्तैः- अयमस्मात्क्षणान्मुहूर्त्ताद्दिवसात्त्रिपञ्चसप्तदशद्वादशाहात् पक्षान्मासात् षण्मासात् संवत्सराद्वा स्वभावमापत्स्यत इति । x x । इत्यायुषः प्रमाणम् । अतो विपरीतमप्रमाणमरिष्टाधिकारे; देहप्रकृतिलक्षणमधिकृत्य चोपदिष्टमायुषः प्रमाणमायुर्वेदे ॥

—च० सू० ३०।१५[1]

—आयु का प्रमाण (मर्यादा) प्रथम तो आकस्मिक-अकस्मात् उत्पन्न हुए—विकृति-रूप लक्षणों से जाना जाता है । इन लक्षणों को अरिष्ट (अथवा रिष्ट) कहा जाता है ।[2] अरिष्टों में विकृतियाँ विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चेष्टा आदि

१—विकृतिरूपैर्लक्षणैः विकृतिलक्षणैः । तेषामेव विशेषणम—अनिमित्तैराकस्मिकैररिष्टैरित्यर्थः । अनिमित्ता हि विकृतिरर्थेन्द्रियाणामरिष्टम तत्रार्थविकृतिर्यथा—नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य भाति दिवानिशम् । पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रुमलतावतः ॥ तमाहुः पुष्पितं धीरा नरं मरणलक्षणैः । स ना संवत्सराद्देहं जहातीह विनिश्चयः—च० इ० २।८ इति । इन्द्रियविकृतिर्यथा—यश्च पश्यत्यदृश्यान्वै दृश्यान् यश्च न पश्यति । तावु भौ पश्यतः क्षिप्रं यमक्षयमसंशयम्—च० इ० ४।१८ इति । मनो विकृतिर्थता-यैः पुरा विन्दते भावैः समेतैः परमां रतिम । तैरेवारभमाणस्य ग्लास्नोर्मरणमादिशेत्—च० इ० ८।२१ इति । बुद्धिविकृतिर्यथा—बुद्धिबलमहेतुकम् इत्यादि । चेष्टाविकृतिर्यथा-निकषन्निव यः पादौ च्युतांसः परिधावति । विकृत्या न स लोकेऽस्मिंश्चिरं वसति मानवः—च० इ० १२।४ इति । आदिग्रहणात्परिजन-विकृत्यादयो ज्ञेयाः । x x x । अन्यदपि चायुः प्रमाणज्ञानमाह-देहप्रकृतीत्यादि । देहश्च प्रकृतिश्च लक्षणं च देहप्रकृतिलक्षणम् । तत्र देहप्रकृतिमधिकृत्यायुः प्रमाणं यथा— ''सर्वैःसारैरुपेता'' इत्यारभ्य यावत् ''चिरजीविनश्च भवन्ति'' (च० वि० ८।१११) इति प्रकृतितो —श्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति—च० वि० ८।९६ इति । लक्षणतो यथा—तत्रेमान्यायुष्मतां कुमाराणां लक्षणानि भवन्ति (च० शा० ८।५१) इत्यादि । किंवा, देहस्य सहजलक्षणं प्रकृतिलक्षणम्; तच्च सर्वसारप्रकृत्यादिलक्षणं बोद्धव्यम् ।— चक्रपाणि ।

२—अरिष्ट लक्षणम् नियतमरणख्यापकं लिङ्गमरिष्टम्—नाम जो लिङ्ग (चिन्ह) मरण का निश्चित सूचक हो तो उसे अरिष्ट कहते हैं, यह अरिष्ट का प्रसिद्ध लक्षण है ।

इस विषय में चरक के निम्न वचन स्मरणीय हैं-

पुष्पं यथा पूर्वरूपं फलस्येह भविष्यतः ।
तथा लिङ्गमरिष्टाख्यं पूर्वरूपं भविष्यतः ॥
अप्येवं तु भवेत् पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत् ।
फलं चापि भवेत् किंचिद्यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥
न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते ।
मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरः सरम् ॥

—च० इ० २।३-५

की होती हैं । इनको देख कर निदान किया जाता है कि इस व्यक्ति का मरण एक क्षण, एक मूहुर्त, एक दिवस; तीन, पाँच, सात, दश या द्वादश दिवस, एक पक्ष, एक मास, छ मास किंवा एक वर्ष में होगा ।

विषय आदि की विकृति के उदाहरण ये हैं,[1] —नाना वृक्षों और लताओं वाले पुष्पित वन के विभिन्न पुष्पों के सदृश जिस पुरुष के शरीर से रात और दिन गन्ध आवे उसे पुष्पित कहते हैं । ऐसा पुरुष, निःसंशय एवं वर्ष के अन्दर पञ्चत्व को प्राप्त होता है । यह विषय—अर्थ—की विकृति-रूप अरिष्ट का उदाहरण है ।

—इन्द्रिय-विकृति रूप अरिष्ट का उदाहरण—जो पुरुष अदृश्य वस्तुओं को देखता है और जो दृश्य वस्तुओं को नहीं देखता वे उभय शीघ्र ही यमराज के गृह को देखते हैं ।

—मनो-विकृति रूप अरिष्ट का उदाहरण—जिन वस्तुओं का संपर्क होने पर पुरुष पहले परम आनन्द पाता था, उन्हीं से उसे अब आनन्द न प्राप्त हो, प्रत्युत ग्लानि प्राप्त हो, समझना चाहिए कि वह मुमूर्षु है ।

—बुद्धि की विकृति-रूप अरिष्ट यथा—अकारण ही बुद्धि या बल की वृद्धि होना ।

—चेष्टा-विकृति-रूप अरिष्ट का उदाहरण । जो पुरुष विकृतिवश च्युत अंस-संधिवाला हो गया हो, सदैव जो पैरों को जैसे घसीटता हुआ दौड़े वह इस लोक में बहुत नहीं रहता ।

मूल में जो 'आदि' शब्द कहा उससे परिजनों (यथा, चिकित्सक को बुलाने को गये दूतों) में हुई विकृति, स्वप्न-विकृति आदि अरिष्ट-लक्षमों का भी ग्रहण करना चाहिए ।

—अरिष्टाधिकार में अरिष्ट के लक्षणों द्वारा संहिता में आयु का प्रमाण कहा गया है । इससे विपरीत अप्रमाण समझना चाहिए । नाम, ये विकृतियाँ

—पुष्प जैसे भावी फल का पूर्वरूप होता है, वैसे अरिष्ट—नामक लिङ्ग मुमूर्ष का पूर्वरूप होता है । प्रकृति में कई पुष्प ऐसे देखे जाते हैं, फल जिनका अनुगामी (अनुबन्धी नहीं होता; यथा—वेतस-पुष्प । उधर, कई फल ऐसे होते हैं, पुष्प जिनका पुरोगामी नहीं होता; यथा—अश्वत्थादि का फल । इन दृष्टान्तों को देखते पुष्प और फल में भले नियत (अव्यभिचारी शत-प्रतिशत) सम्बन्ध न हो परन्तु अरिष्ट और मरण में तो सम्बन्ध नियत होता है । उत्पन्न हुए अरिष्ट का मरण के बिना नाश नहीं होता; एवं मरण कोई ऐसा नहीं जिसका पुरोभावी अरिष्ट न हो ।

१—उदाहरणों के मूल वचन पृ० २४ की टिप्पणी में देखिए ।

गोचर न हों तो आयु का प्रमाण निश्चित नहीं जताया जा सकता ।[1]

विकृतियों के अतिरिक्त प्रकृति-लक्षणों के रूप में भी आयु का प्रमाण आयुर्वेद में कहा गया है । यथा—जो पुरुष सर्वसारों से युक्त हों उनके अन्य लक्षणों के साथ कहा गया है कि वे चिरजीवी होते हैं । अथ च, श्लेष्मलो के विषय में कहा गया है कि—ये बलवान्, धनवान्, विद्यावान्, ओजस्वी, शान्त और आयुष्मान् होते हैं । अपि च—शिशु के नामकर्म के अनन्तर उसकी आयु का प्रमाण जानने के लिए कहा गया है कि—आयुष्मान् कुमारों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के क्या लक्षण होते हैं ।



१—प्रत्येक संहिताकार ने प्रतिरोगाधिकार में उसके असाध्य लक्षणों के अतिरिक्त एक स्थान में अरिष्टों का निर्देश सामान्य तथा विशेष रूप से किया है । **चरक** ने इन्द्रियस्थान में (समस्त अध्याय बारह), **सुश्रुत** ने सूत्रस्थान में (अध्याय २८ से ३५), **लघुवाग्भट** (अष्टाङ्गहृदय) ने शारीरस्थान में (अध्याय ५-६), एवं **वृद्धवाग्भट** (अष्टाङ्गसंग्रह) ने शारीरस्थान में (अध्याय ६ से १२) । प्रत्येक चिकित्सक को ये प्रकरण पुनः-पुनः देखते रहना चाहिए । 'कालाज्ञान' नाम से ये **लक्षण** ग्रन्थबद्ध भी मुद्रित उपलब्ध होते हैं ।

अष्टांङ्ग आयुर्वेद

आयुर्वेद-प्रयोजनम्

आयु के सम्बन्ध में उल्लिखित विषयों के प्रतिपादन में आयुर्वेद के दो प्रयोजन हैं—स्वस्थ पुरुषों को स्वस्थ-वृत्त के नियमों का उपदेश कर उनके स्वास्थ्य का संरक्षण तथा कारण-विशेष से रोग उत्पन्न हुए तो उनका प्रतिकार। तथाहि—

इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च ॥

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च ॥

—सु० सू० ३०।२६

—स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य के रक्षण के लिए विधेय वृत्त (आचरण) का जिस प्रकरण में उल्लेख होता है, उसे **स्वस्थवृत्त** कहते हैं। आधुनिकों ने स्वस्थवृत्त के दो भेद किये हैं—**असाधारण** (पर्सनल हाईजीन) तथा **साधारण** (पब्लिक हाईजीन)।[1] प्राचीनों ने साधारण स्वस्थवृत्त का भी उल्लेख प्रत्येक पुरुष

१—नवीन लेखक इन संज्ञाओं के लिए वैयक्तिक और जानपद आदि पदों का व्यवहार करते हैं। जनपदोध्वंसनीय अध्याय (च० वि० ३) की अवतरणिका में चक्रपाणि ने रोग-निदान (रोग कारण) दो प्रकार के कहे हैं—असाधारण नाम प्रत्येक पुरुष में प्रज्ञापराधवश हुआ दोष-वैषम्य; तथा **साधारण** नाम विकृति वातादि, जो सारी जनता को प्रभावित करते हैं। देखिये—

द्विविधो हेतुर्व्याधिजनकः प्राणिनां भवति—साधारणोऽसाधारणश्च। तत्रा-साधारणं प्रतिपुरुषनियतं वातादिजनकमहाराद्यमिधाय बहुजनसाधारणं वातजल-देशकालरूपं साधारणरोगकारणमभिधातुं जनपदोदध्वंसनीयोऽमिधीयते ॥

—च० वि० ३।१-२ पर चक्रपाणि

—प्राणियों में व्याधिजनक हेतु द्विविध (दो प्रकार का) होता है—**असाधारण** और **साधारण**। प्रतिपुरुषनियत (प्रत्येक पुरुष में प्रज्ञापराधवश उपलभ्य) वातादि दोषों के प्रकोपक आहार आदि असाधारण कारण का उल्लेख पूर्व अध्यायों में करके, बहुजनसाधारण (समस्त जनता के लिए समान रूप से विकृत हुए) वात, जल, देश और काल-रूप साधारण रोग-कारण का उपदेश करने के लिए जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय आरम्भ किया जाता है।

यहाँ आया बहुजन शब्द प्राचीन वाङ्मय में उसी अर्थ में आता है, जिस अर्थ में आजकल प्रचलित जनता शब्द। भगवान् बुद्ध के प्रसिद्ध वचन **बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** में बहुजन पद इसी अर्थ में प्रयुक्त है। हिन्दी में भी अब इस पद का प्रयोग होने लगा है।

साधारण का अर्थ समान (**Common**–कॉमन)—सारी जनता पर समान रूप से लागू होनेवाला है। इसके विपरीत असाधारण।

के लिए आचरणीय स्वस्थवृत्त में ही किया है। यथा—जलाशय, चतुष्पथ आदि में मल, मूत्र, श्लेष्मा, सिंघाणक आदि न डालना; हँसते-छींकते-खाँसते समय मुख पर हाथ आदि रखना।[1] कारण, प्राचीनों ने योगजनक जीवाणुओं का प्रत्यक्ष किया हो या नहीं, रोगों के संक्रमण का तो ज्ञान उन्हें था ही। तथाहि—

प्रसंगाद्गात्रसंस्पर्शान्निः श्वासात्[2] सह भोजनात्।

सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥

कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।

औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥

—सु० नि० ५-३३-३४

औपसर्गिकरोगाः शीतलिकादयः—डल्हन। औपसर्गिका रोगाः सामान्याधर्मप्रवृत्ता मसूर्यादयः—गयदास।[3]

—पुनः-पुनः शरीर का स्पर्श, निःश्वास, सह (एक साथ बैठ कर) भोजन, सह (एक बिस्तर पर) शयन, सह (एक कुर्सी आदि पर) आसन—बैठना; (अन्य पुरुष के उपयोग किये वस्त्र, पुष्प और लेप का उपयोग—इन कारणों से कुष्ठ (त्वचा के रोग, रक्तविकार), ज्वर, शोष (राजयक्ष्मा), नेत्राभिष्यन्द (आँख आना)

---

१ — एतद्विषियक वाक्य इसी ग्रन्थ में आगे उद्धृत है।

२ — यहाँ आये 'प्रसंगात्' का अर्थ टीकाकार 'पुनः-पुनः' करते हैं। देखिये-**प्रसंगादिति प्रसंगेन अभ्यासेन कृतात् पुनः-पुनः कृतादित्यर्थः**—डल्हन; **प्रसंगात् प्रसंगेन कृतादत्यन्ताभ्यासेन कृतादित्यर्थः गयदास**। नव्य मत से भी यही अर्थ शुद्ध है। कुष्ठादि रोग चिरकाल सहवास से ही होते हैं। कई लेखक प्रसंग का अर्थ समागम (ग्रामधर्म) लेते हैं। वह संक्रमण का कारण अवश्य है, परन्तु उसका ग्रहण तो 'गात्र-संस्पर्श' से हो ही जाता है।

पद्योक्त 'प्रसंगात् (पुनः-पुनः) का सम्बन्ध आगे आये कारण मात्र से है।

३—यहां आये उपसर्ग और रोग-संक्रमण के एक अन्य कारण संसर्ग का प्राचीनाभिमत भेद ज्ञातव्य है। सूत्र स्थान के चौबीसवें अध्याय में प्रतिपादित रोग-भेदों में **सुश्रुत** ने **उपसर्गज** और **संसर्गज** ये दो भेद बताये हैं। इनका भेद **बताते डल्हन कहते हैं— उपसर्गजसंसर्गजयोरयं विशेषः—उपसर्गजा ज्वरादिरोग-पीडितजनसंपाद्भवन्ति; संसर्गजाश्च देवाविद्रोहकजनसंपर्काद्भवन्ति** — सु० सू० २४।७ पर। —उपसर्गज और संसर्गज में भेद यह है कि, उपसर्गज नाम उन व्याधियों का है, जो ज्वरादि उक्त रोगों से पीडित पुरुषों के संपर्क से होती है; तथा संसर्गज व्याधियाँ वे हैं जो देव, गुरु आदि का अनादर करनेवाले व्यक्तियों के संग से होती हैं।

संसर्गज, सांसर्गिक आदि पदों का व्यवहार नवीन लेखक आधुनिकों के जीवाणुजन्य संपर्कज रोगों के लिए करते हैं। यह उक्त अर्थ को देखते चिन्त्य है।

एवं सामान्य अधर्म से होनेवाले मसूरिका (शीतला) आदि औपसर्गिक (छूत के) रोग एक पुरुष से पुरुषान्तर में संक्रान्त होते हैं ।[1]

वृद्धवाग्भट में भी ऐसा ही एक पद्य आया है ।—

स्पर्शैकाहारशय्यादिसेवनात् प्रायशो गदाः ।

सर्वे संचारिणो नेत्रत्वग्विकारा विशेषतः ।। —अ० सं० नि० १४

सर्व संचारी (संक्रामक) रोग, विशेषतया नेत्र-विकार तथा त्वग्विकार प्रायः स्पर्श, सहभोजन, सहशयनादि कारणों से होते हैं ।

जो हो । स्वच्छता के इन तथा अन्य रोग-प्रतिषेधक नियमों के पालन का उत्तरदायित्व राज्य का भी था । कौटलीय अर्थशास्त्र (चाणक्य कृत; काल-५०० वर्ष ई० पू०) में एक अध्याय ही इस विषय पर है । यथा उसमें मार्ग पर विष्ठा, मृत मूषक आदि फेकना इत्यादि कार्य करनेवालों को दण्ड-विधान है । आज से पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व के खुदाई में निकले मोहन जोदड़ो आदि के स्नानगृहों और बड़ी-बड़ी गटरों को देखने से सहज ही अनुमान होता है कि—इनकी व्यवस्था का कार्य भी शासन (सरकार) या नगरपालिका ही करती होगी ।

इसके अतिरिक्त बहुजन के स्वास्थ्य के लिए शासन की ओर से बड़े-बड़े यज्ञ किये जाते थे । इसका प्रयोजन रोग-शान्ति ही था । तथाहि —ऋतु संधियों में नाना रोग प्रादुर्भूत होते हैं । इनके प्रतिषेधार्थ यज्ञ होते थे । देखिये—

भैषज्ययज्ञा वा एते । तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते । ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते ।। —गोपथ ब्राह्मण उ० प्र० १।१६

निःसंशय ये यज्ञ औषधरूप यज्ञ हैं । इसीसे इनका प्रयोग ऋतुसंधियों में होता है । ऋतुसंधियों में व्याधियाँ जो होती हैं ।

वेद, ब्राह्मण, रामायण, महाभारत, पुराण, अर्थशास्त्र आदि का अवगाहन कर प्राचीनों के साधारण स्वस्थवृत्त का विशेष दोहन करना विद्वानों का कर्तव्य है ।

अष्टावङ्‌ गान्यायुर्वेदस्य

ऊपर आयुर्वेद के जो प्रयोजन बताये गये हैं, उनका सविस्तार उपदेश करने के लिए इसे आठ विभागों में विभक्त किया गया है । इन विभागों को अङ्ग नाम दिया गया है । ये आठ अङ्ग तथा उनके विषय अधोलिखित हैं ।—

१—ध्यान दीजिए—यहाँ 'एक पुरुष' से पुरुषान्तर में रोग-संक्रमण की बात लिखी है—'एक रोगी' से नहीं । कारण, कई व्यक्ति स्वयं रोगी नहीं होते, परन्तु अपने में रहे जीवाणुओं के कारण अन्य पुरुष में रोग का संक्रमण करते हैं । आधुनिकों ने इन्हें वाहक (Carrier-कैरीअर) कहा है ।

इह खल्वायुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्र-मध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयंभूः । ततोऽल्पायुस्त्वमल्पमेधस्त्वं चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान् । तद्यथा-शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्रमिति । अथाऽस्य प्रत्यङ्गलक्षणसमासः ॥ —सु० सू० १।६-७

—ब्रह्मा ने प्राणि-सृष्टि उत्पन्न करने के पूर्व ही (जन्म के पूर्व से आमरण प्राणिमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी होने से) एक सहस्र अध्याय और एक लक्ष श्लोकों के रूप में अथर्ववेद का उपाङ्ग आयुर्वेद रचा । पश्चात् काल में मानवों की अल्प आयु और अल्प मेधा को दृष्टि में रख इसे आठ भागों में विभक्त किया । तद् यथा—**शल्यतन्त्र, शालाक्यतन्त्र, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायन तन्त्र, तथा वाजीकरणतन्त्र ।**

प्रत्येक विभाग (अङ्ग) का संक्षेप में लक्षण देते हैं ।

तत्र, शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्टास्थिबालनखपूया-स्त्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थ, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्राणिधानव्रणविनिश्चयार्थ च ॥ —सु० सू० १।८ (१)

x x x न केवल काष्ठतृणादि शल्यं, किन्तु ''अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम् । यत्किंचिदाबाधकरं शरीरे तत् सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्'' इति ॥ —डल्हन

—शल्यतन्त्र का उपदेश स्थावर या जङ्गम प्राणिमात्र के शरीर में स्थित विविध तृण, काष्ठ, पाषाण (पत्थर), धूलि, धातु, ढेला (मृत्पिण्ड), अस्थि, बाल, नख, पूय तथा अन्य स्त्रावों को दुष्ट व्रणों में से एवं (मूढ—किसी कारण अटके हुए) गर्भरूप शल्य को निकालने के लिए, अथवा शरीर में कोई मल, दोष (या धातु-उपधातु) प्रवृद्ध होकर व्यथा उत्पन्न करें और शल्य-रूप[1] हो जाय तो उसके भी निर्हरण के लिए अथ च यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि के उपयोग (बताने) तथा व्रणों के **विनिश्चय** (व्रण-विषयक विवरण) के लिए होता है ।

मनःशरीराबाधकराणि शल्यानि ॥ —सु० सू० ७।४

सर्वशरीराबाधकरं शल्यम् । तदिहोपदिश्यत इत्यतः शल्यशास्त्रम् ॥ —सु० सू० २६।५

१—चुरादिगण की हिंसार्थक शल् धातु से शल्य शब्द बना है । इसका मुख्य अर्थ बाण प्रसिद्ध है । युद्धों में बाणों के लगने से प्रथम शल्यतन्त्र का आविर्भाव बाणों से हुए व्रणादि के उपचार के निमित्त ही हुआ । पश्चात् इसका विस्तार हुआ और बाण के समान पीड़ादायी आगन्तु पदार्थ मात्र के लिए ही नहीं शरीर में ही वृद्धि को प्राप्त होकर संचित दोषादि के लिए भी शल्य शब्द का व्यवहार होने लगा ।

मन् और शरीर को जिससे भी कष्ट हो उस सब को **शल्य** कहते हैं। उसका जिसमें उपदेश हो उसे **शल्यशास्त्र** कहा जाता है।

तद्द्विविधं शारीरमागन्तुकं च ॥ —सु० सू० २६।४

—शल्य के दो प्रकार हैं—**शारीर** और **आगन्तु**।

तत्र शारीरं दन्तरोमनखादि धातवोऽन्नमला दोषाश्च दुष्टाः। आगन्त्वपि शारीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो भावा दुःखमुत्पादयन्ति ॥ —सु० सू० २६।६

—दन्त, रोम, नख आदि; दुष्ट हुए धातु-उपधातु, अन्न के मल (मूत्र, पुरीष, कर्णमल, स्वेद, नेत्रमल प्रभृति) तथा वातादि दोष ये **शारीर शल्य** हैं। शारीर शल्यों के अतिरिक्त जितने भी दुःखोत्पादक (बाह्य) पदार्थ हैं वे सब **आगन्तु शल्य** कहाते हैं।

शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम् ॥ —सु० सू० १।८ (१)

घ्राणादिसंश्रितानामित्यत्र आदिशब्दाच्छिरः कपालादिसंश्रितानाम् ॥

—**डल्हन**

—ग्रीवा के मूल किंवा वक्ष (छाती) और अंस (कन्धे) की संधि को **जत्रु** कहते हैं। इस जत्रु के ऊपर स्थित कर्ण, नेत्र, मुखकुहर, नासिका, शिरः-कपाल आदि अवयवों में विद्यमान रोगों के उपशमनार्थ जिन अङ्ग का प्रतिपादन हुआ है उसे **शालाक्यतन्त्र** या केवल शालाक्य कहते हैं।[1]

कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्तशोषोन्मादापस्मार कुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम् ॥ —सु० सू० १।८ (३)

कायोऽत्राग्निरुच्यते; तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा ॥

—सु० सू० १।७ पर **डल्हण**

कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा कायचिकित्सा ॥ —सु० सू० ३०।२८ **चक्रपाणि**

१—च० सू० ३०।२८ की टीका में **शिवदास सेन लिखते हैं : शलाका पटलवेधनी, तस्याः कर्म शालाक्यम्। ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ। शालाक्यप्रधानमङ्गं** शालाक्यम्। —लिङ्गनाश (मोतीया) आदि रोगों के निवारणार्थ पटलों के वेधनार्थ शलाका का व्यवहार होता है। शलाका के व्यवहार के कारण नेत्ररोग-विज्ञानीय तन्त्र को और वह जिसमें प्रधानतया उपदिष्ट है उस ऊर्ध्वजत्रुगतरोग-विज्ञानीय तन्त्रमात्र को **शालाक्य** कहते हैं।

बाह्य तेज (प्रकाश की किरण) जिन माध्यमों (**Refracting Media**-रिफैक्टिंग मीडिआ) में होकर जाती है उन्हें **पटल** तथा ये पटल जिससे आवृत रहते हैं उन आवरणों (**Coats**-कोटस्) को **मण्डल** कहते हैं।

x x x कायशब्देनाग्निरुच्यते । उक्तं च भोजें—''जाठरः प्राणिनामाग्निः काय इत्यभिधीयते । यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः'' इति । युक्तं चैतत्—यतो ज्वरातीसारादयः कायचिकित्सा-विषया रोगा अग्निदोषादेव भवन्ति ॥

— च० सू० ३०।२८ पर **शिवदाससेन**

—काय नाम जठराग्नि का है। इसकी मन्दता से होनेवाले सर्वाङ्गत ज्वर; रक्तपित्त (पित्त की वृद्धि से शरीर के किसी द्वार से रक्तस्राव), शोष (राजयक्ष्मा), उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ (रक्तविकार, त्वग्रोग), प्रमेह (मूत्र-विकार), अतिसार आदि व्याधियों के निदान-लक्षण-चिकित्सा का निर्देश जिस अङ्ग में होता है उसे कायचिकित्सा कहते हैं ।[1]

भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् ॥ —सु० सू० १।८ (४)

x x एते ग्रहणाद् ग्रहाः प्रोच्यन्ते ॥ —**डल्हण**

—देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग आदि योनियों के प्राणी (अदृश्य रहकर) मन का ग्रहण कर—उसे आविष्ट कर—पुरुष को पीड़ित करते हैं, अतः इन्हें **ग्रह** कहते हैं । इन्हीं को भूत भी कहते हैं । इनके उपशमनार्थ शान्तिकर्म; बलि आदि का उल्लेख जिस तन्त्र में हो उसे **भूतविद्या** कहते हैं ।[2]

कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम् ॥ —सु० सू० १।८ (४)

१—पक्वाशय और आमाशय के मध्य जो अग्नि या पाचक पित्त रहता है उसे जाठराग्नि कहते हैं । यह शरीर के इतर भागों में स्थित अग्नियों (धात्वाग्नियों) को भी अनुगृहीत करता है—उसके बल के अनुसार ही इतर अग्नियों का भी बल होता है । (देखिए—सु० सू० २१।१०) सो, जाठराग्नि मन्द हो तो शेष अग्नि भी मन्द रहते हैं । परिणामतया सर्वाङ्गगत रोग उत्पन्न होते हैं ।

भूतविद्या के अर्थ के विषय में भ्रान्ति

२—नव्यमताभिभूत कई व्यक्ति भूतविद्या का अर्थ मानसरोग-विज्ञान कहते हैं । अन्य महानुभाव भूत का अर्थ प्राणी और प्राणी का अर्थ जीवाणु लेकर भूतविद्या का अर्थ जीवाणुशास्त्र करते हैं । परन्तु, कुछ रोगियों में भले जिसे भूतावेश समझ लिया गया हो वह विकार मनोविकृतिजन्य ही हो, अन्य रोगियों में भूतयोनि का स्पष्ट आवेश होता है और भूतविद्या-विशारदों के उपचार से ही उसकी निवृत्ति होती है । भूत का अर्थ जीवाणु लें तो फिर आयुर्वेद में कहे निज रोगों का और उसका आधारभूत त्रिदोष सिद्धान्त, जो आयुर्वेद की प्रमुख विशेषता है, उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता । कारण, नव्यप्रत्यक्षानुसार प्रायः रोग जीवाणुओं से ही होते हैं । जो विद्वान् भूतविद्या के उक्त अर्थ करते हैं, उन्हें आयुर्वेद में आये एतद्विषयक समस्त वचनों का स्वमतपरक अर्थ लगा कर दिखाना चाहिए ।

x x दुष्टस्तन्येन शारीराः, दुष्टग्रहेणागन्तवः ॥ **—डल्हण**

—कुमार (बालक) के भरण नाम धारण-पोषण[1] एवं धात्री के स्तन्य के दोषों के निवारण के लिए, अथ च दूषित स्तन्य किंवा नौ बालग्रहों के आवेश से उत्पन्न रोगों की शान्ति के लिए जिस अङ्ग का उपदेश हुआ है, उसे **कौमारभृत्य** (या **बालतन्त्र**) कहते हैं ।[2] दुष्ट स्तन्य से शारीर तथा दुष्ट ग्रहों से आगन्तु रोग होते हैं ।

१—(डु) (भृ) (ञ्) **धारणपोषणयोः** से भरण शब्द व्युत्पन्न है । अतः इसके दोनों अर्थ लिए हैं ।

कौमारभृत्य की व्यापक मर्यादा

२—कौमारभृत्य का विषय यहाँ यद्यपि इतना ही कहा है तथापि अन्य प्रकरणों में इसका विस्तार अधिक बताया है । उसका निर्देश उचित प्रतीत होता है ।

सु० सू० ३।३७ में कहा है—**कुमारतन्त्रमित्येतच्छारीरेषु च कीर्तितम्**—अर्थात् यहाँ कुमारतन्त्र का विषय कहा है । इसके अतिरिक्त शारीरस्थान में भी कुमारतन्त्र का विषय बताया है । टीका में **डल्हण** कहता है—**किमेतावदेव-कुमारतन्त्रमथवाऽन्यदप्यस्तीति पुष्ट आह-शारीरेषु च किर्तिमिति । किं तच्छारीरेषुक्तम ? तद्यथा-रजः शुद्धिः गर्भावक्रान्तिरित्यादि** । —अर्थात् प्राकृत और दोष-दूषित रज (आर्तव) के लक्षण, दूषित रज के शोधन (साम्म) के उपाय तथा गर्भ का प्रादुर्भाव, उसका अवतरण (प्रसूति) आदि जो विषय शरीरस्थान के द्वितीय, तृतीय तथा दशम अध्याय में कहे हैं, वे भी कौमारभृत्य के ही अङ्गभूत हैं ।

कुमार या बाल शब्द से सामान्यतः छोटे बच्चे का ही ग्रहण होता है । परन्तु कौमारभृत्य में इसका अर्थ बहुत व्यापक है । सु० शा० १०।५२ में कहा है—**शक्तिमन्तं चैनं ज्ञात्वा यथावर्ण विद्या ग्राहयेत्** ।—नाम, कुमार विद्योपार्जन–सुलभ क्लेश के सहन में समर्थ हो जाये तो उसे अपने वर्ण के अनुसार उचित विद्या का ग्रहण कराए । अगले सूत्र में आचार्य कहते हैं— **अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षा पत्नीमावहेत्** ।—कुमार पचीस वर्ष का हो जाये तो इसके लिए षोडशी पत्नी विवाहित करके लाए । इन वचनों का फलितार्थ यह है कि— विद्याभ्यास और विवाहपर्यन्त पुरुष कुमार ही कहता है और ये दोनों कुमारभृत्य के ही विषय हैं ।

ऊपर रज-शुद्धि, गर्भवृद्धि और प्रसूति को कौमारभृत्य का ही अङ्ग विशेष कहा है । प्रकरणान्तर में रजःशुद्धि विषय का '**योनिव्यापत्**' नाम से विस्तार किया है । योनि शब्द यहाँ समूचे गर्भयन्त्र के लिए आया है । एवं योनिव्यापत् का यहाँ वह अर्थ है, जिसे नवीन लेखकों ने स्त्रीरोग नाम दिया है ।

प्रसूतिकर्म कौमारभृत्य का ही है । अर्थशास्त्र में **कोटिल्य** ने स्पष्ट कहा है— **आपन्नसत्त्वायां कौमारभृत्यो गर्भ-भर्मणि प्रजनने च वियतेत** (प्रथमाधिकरण, अ० १७)— स्त्री के आपन्नसत्त्वा (गर्भिणी) होने पर कौमारभृत्य को गर्भ के पोषण और प्रसव-संबन्धी प्रयत्न करना चाहिए । प्राचीन काल में कौमारभृत्य यह कार्य करते भी थे । रघुवंश का अधोलिखित पद्य इसका प्रमाण है ।—

अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतावृश्चिकमूषकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविध-विषसंयोगोपशपनार्थं च । —सु० सू० १।८ (८)

—सर्प विविध कीट, लूता (मकड़ी) वृश्चिक, मूषक प्रभृति प्राणियों के दंश से हुए विष–लक्षणों के ज्ञान के लिए तथा विविध (स्वाभाविक) विषों, संयोग विषों एवं गर विषों (कालान्तर में प्रकुपित होनेवाले विषों) के लक्षणों के ज्ञान तथा उनके निवारण के निमित्त जिस अङ्ग का उपदेश होता है उसे **अगदतन्त्र** या **विषतन्त्र** कहते हैं । मुढगर्भ के आहरण का विषय **शल्यतंत्र** का है ।

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भमर्मणि ।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥ —अ० ३।१२

—कौमारभृत्य में कुशल चिकित्सकों द्वारा रानी सुदक्षिणा के गर्भ का पोषण कर देने पर पति (राजा दिलीप) ने प्रसन्नता से अपनी आसन्नप्रसवा पत्नी का अभ्रयुक्त आकाश (मूल में उपमा की पूर्णता के लिए स्त्रीलिङ्गी 'द्यौः' शब्द दिया है ।) के सदृश पाया ।

बाल या कुमार कितने वय तक कहना इस बात का निर्देश करते हुए प्रकारान्तर से संहिताकार ने यही बात कही है । चरक कहता है—

तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसंपूर्णबलं श्लेष्म-धातुप्रायमाषोडशवर्षम् । विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टम् ॥

बाल के दो भेद हैं—**अपरिपक्वधातु** तथा **परिपक्वधातु** । जिस बाल के धातु परिपक्व (पुष्ट, Developed-डिवेलपृड) न हुए हों; व्यञ्जन (लिङ्गद्योतक बाह्य चिन्ह; Secondary Sex Characters-सेकंडरी सेक्स केरेक्टर्स) प्रादुर्भूत न हुए हों, जो सुकुमार हो, क्लेश-सहिष्णु और संपूर्ण बलवाला न हो, जिसमें श्लेष्मा का प्रायः प्राधान्य हो उसे **अपरिपक्वधातु** नामक बाल कहते हैं । इसके अनन्तर तीस वर्ष के वय तक, जिसमें रस-रक्तादि धातुओं के (अपने-अपने) गुण–विवर्धमान (उत्तरोत्तर पुष्ट) होते रहते हैं एवं जिसमें प्रायः सत्त्व (मन) अस्थिर प्रकार का होता है (बुद्धि और हृदय की वृत्ति में चञ्चलता रहती है), उस वय में वर्तमान पुरुष को **विवर्धमानधातु** नामक बाल कहते हैं ।

सुश्रुत ने वयोविभाग कुछ भिन्न किया है । परन्तु उसमें भी बाल की जो मर्यादा कही है, वह द्रष्टव्य है । वह कहता है; **तत्रोनषोडशवर्षीया बालाः** (सु० सू० ३५।२३)—नाम, सोलह वर्ष से न्यून वय वाले पुरुषों को बाल कहते हैं ।

स्मरण रहे, कौमारभृत्य की परिभाषा बताते हुए सुश्रुत ने पचीस वर्ष के वय तक पुरुष को कौमारभृत्य के संरक्षण का विषय कहा है ।

हारीतसंहिता के अधोलिखित पद्य में यह सब बात **बालचिकित्सित** (कौमारभृत्य) की परिभाषा करते स्पष्ट लिखी है—

गर्भोपक्रमविज्ञानं सूतिकोपक्रमं यथा ।
बालाना योगशमनं क्रिया बालचिकित्सितम् ॥

रसायनतन्त्रं नाम वयः स्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च ।

—सु० सू० १।८ (७)

वयःस्थापनं वर्षशतमायुः स्थापनम् । आयुष्करं शताधिकमपि करोति । अन्ये तु वयःस्थापनं जरापहरणम्, तारुण्यं बहुकालं स्थापयतीत्यर्थः । —**डल्हण**

—गर्भ के आदि कारणभूत शुक्र और शोणित की शुद्धि (उनका गर्भोत्पादन-क्षमता के लक्षण), उनकी दुष्टि के लक्षण, पुष्टि का उपचार, गर्भ की अनुत्पत्ति किंवा विकृति के हेतुभूत योनिव्यापत् (स्त्रीरोग) तथा उनकी चिकित्सा, शुक्र और शोणित के संमूर्च्छन (एकीभाव; **Fusion**-फ्युशन; **Fertilization**-फर्टिलाइजेशन) के उत्पन्न गर्भ और शरीर की स्थिति, पुष्टि और वृद्धि के लक्षण (गर्भ = तीन मास पर्यन्त भ्रूण; शरीर = तीन मास के पश्चात् भ्रूण), गर्भ और गर्भिणी को होनेवाले रोगों के निदान-लक्षण-चिकित्सा, प्रसव की विभिन्न अवस्थाओं के लक्षण, प्राकृत–वैकृत प्रसव में सूतिका तथा शिशु की परिचर्या, प्रसवोत्तर प्रसूता के आरोग्य का रक्षण; धात्री तथा क्षीरोपयुक्त प्राणियों के शुद्ध और अशुद्ध स्तन्य का लक्षण, दूषित स्तन्य की शुद्धि का उपाय, बालों (कुमारों) का पोषण एवं स्तन्यादि दूषित अन्नपान किंवा बालग्रहों के कारण होनेवाले रोगों की अनुत्पत्ति (**Prevention**-प्रिवेन्शन) तथा प्रशमन (**Treatment**-ट्रीटमेण्ट) के उपाय—इन विषयों का प्रतिपादन आयुर्वेद के आठ अङ्गों में जिस अङ्ग में हुआ है उसे **कौमारभृत्य**, **बालतन्त्र, बालचिकित्सा** या **कुमारतन्त्र** कहते हैं ।

संक्षेप में नव्य मत से कहना हो तो आधुनिकों की मिडविफरी या प्रसूतितन्त्र, गायनेकॉलॉजी या योनिव्यापत् (स्त्री-रोग-विज्ञान), पीडियेट्रिक्स या बाल रोग-विज्ञान एवं चाइल्ड एजुकेशन या कुमार के शिक्षण और प्रशिक्षण का शास्त्र इन सब का एक अङ्ग प्राचीनों ने कौमारभृत्य में समावेश किया है ।

इस प्रकार पुरुष के शारीर-मानस निर्माण का आधार कौमारभृत्य ही है । अतएव, काश्यपसंहिता में कहा है—

कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते ।

आयुर्वेदस्य महतो देवानामिव हव्यपः ॥

—जैसे देव-समाज में इन्द्र श्रेष्ठ हैं, वैसे महान् आयुर्वेद के आठ अङ्गों में कौमारभृत्य का पदअग्र है ।

वयःस्थापनमिति प्रशस्ततरुणवयःस्थापनम् । यदुक्तम्—'अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति (च० चि० १।१।७७)' इत्यादि । अनियतायुषि युगनियतस्यायुषः करणमायुष्करण् ॥ —चक्रपाणि

x x x x x भेषजं द्विविधं च तत् ।
स्वस्थस्योर्जस्करं किंचित् किंचिदार्तस्य रोगनुत् ।
स्वस्थुस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्यं तद्रसायनम् ॥
प्रायः प्रायेण रोगाणां द्वितीयं प्रशमे मतम् ।
प्रायः शब्दो विशेषार्थो, ह्युभयं ह्यभयार्थकृत् ॥
दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः ।
प्रभावर्णस्वरौदार्य देहेन्द्रियबलं परम् ॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात् ।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥

—च० चि० अ० १, पा० १-४-७

x x x स्वस्तत्वेन व्यवह्रियमाणस्यपुंसोजरादिस्वाभाविकव्याधिहरणत्वेन तथाऽप्रहर्ष—व्यवायक्षयित्वानुपचितशूक्रत्वाद्यप्रशस्तशारीरभावहरत्वेन ऊर्जः प्रशस्तं भावमादधातीति स्वस्थस्योर्जस्करम् x x x रसादिग्रहणेन स्मृत्यादयोऽपि गृह्यन्ते ॥

—चक्रपाणि

वयः तरुणं स्थापयतीति वयःस्थापनम् ॥ —च० सू० ४।८ पर चक्रपाणि

वयःस्थापनमिति यावदेवायुः प्रमितं तावदेवायुः स्थापयत्यनाबाधम् ॥

—च० सू० ४५।६६ पर डल्हण

वयसे हितं वयस्यम् । जरामभिहत्य यौवनं रक्षति ॥

—रसवैशेषिक सूत्र पृ० १८३

(औषधों का वर्गीकरण आयुर्वेद में अनेक प्रकार से किया जाता है । इनमें एक वर्गीकरण यह है) । औषध दो प्रकार के हैं; प्रथम, स्वस्थ पुरुषों के लिए उर्जस्कर । इसका अर्थ यह है कि, जिन पुरुषों को सामान्यतया स्वस्थ समझा जाता है उनमें उनके बार्धक्य आदि स्वाभाविक रोगों का निवारण करके, एवं हर्ष (स्त्री के प्रति आकर्षण तथा समागम के समय लिङ्ग का यथोचित उत्थान) का नाश, व्यावाय (मैथुन) का असामर्थ्य, शुक्र का अनुपचय (पुष्टि न होना) आदि अप्रशस्त शारीर भावों को दूर कर जो औषध प्रशस्त भावों (ऊर्ज) को उत्पन्न करे उसे स्वस्थ के लिए ऊर्जस्कर कहते हैं । इस वर्ग के दो उपभेद हैं । प्रथम भेद को रसायन तथा द्वितीय को (**वृष्य** या **बाजीकर**) कहते हैं । द्वितीय भेद का विचार आयुर्वेद के आगे कहे अङ्ग बाजीकरण तंत्र में किया जाता है ।

—औषधों का द्वितीय वर्ग रुग्ण पुरुषों के रोग का निवारण करता है ।

—औषधों के ये दोनों वर्ग प्रायिक हैं—नाम, उसके मुख्य कर्म को लक्ष्य में रख कर रचे गये हैं। कारण बहुत-से प्रथम वर्ग (कक्षा) के औषध रोगापहरण भी करते हैं, जबकि द्वितीय वर्ग के कतिपय द्रव्य रसायन और वृष्य भी होते हैं।

—प्रथमवर्गोक्त रसायन द्रव्य वे हैं, जो उत्कृष्ट नाम सम और सर्वप्राकृतगुणोपेत रस-रक्तादि धातुओं की प्राप्ति कराएँ। रसायन का (व्युत्पत्ति-लब्ध) अर्थ ही है, रस का (रक्तादि धातुओं का) अयन अर्थात् प्राप्ति।[१] रसादि धातुओं के पोषण के परिणामस्वरूप रसायन द्रव्य वृद्धावस्था को दूर कर—उसको शीघ्र उत्पन्न न होने देकर–तारुण्य को चिरस्थायी एवं आरोग्य, बल प्रवृति आगे कहे गुणों से युक्त करते हैं। इन द्रव्यों के सेवन से सौ वर्ष आदि युग नियत ही नहीं, उससे भी आयु की प्राप्ति होती है।

—विशेषतः उक्त कर्म करने वाले—तारुण्य की मर्यादा बढ़ानेवाले—रसायन द्रव्यों की **वयःस्थापन** या **वयस्य** यह विशेष संज्ञा है। दीर्घ वय और आयु प्रदान करने के अतिरिक्त अपने रसादि-पोषक स्वभाव के रसायन द्रव्य मेधा (ग्रन्थों तथा भाषण को समझने का सामर्थ्य-ग्रहणशक्ति), स्मृति (धारणशक्ति) वचन (गृहीत धारित तथा चिन्तित विषय को औरों के आगे प्रस्तुत करने की शक्ति-वाक्सिद्धि),[२] रोगों की अनुत्पत्ति तथा उत्पन्न रोगों का प्रशमन, प्रभा, वर्ण, कान्ति, स्वर, शरीर और इन्द्रियों का उत्कृष्ट बल और प्रणति (लोकों को वन्दनीयता) को भी उत्पन्न करते हैं।[३]

१—अयन शब्द में गत्यर्थक इ (ण्) धातु है और गति में तीन अर्थ व्याकरण-प्रसिद्ध हैं—ज्ञान, गमन (चेष्टा) और प्राप्ति। दोषों में प्रधान वायु के वाचक बात या वायु शब्द में भी गत्यर्थक वा धातु है। इससे वायु के तीन प्रमुख कर्म ज्ञान, चेष्टा और प्राप्ति सूचित होते हैं।

२—**Expression**-एक्स्प्रेशन। इस अंग्रेजी शब्द के लिए प्राचीन पर्याय वचन है। नवीन लेखकों ने अभिव्यक्ति, अभिव्यञ्जन आदि नये पदों की रचना की है। प्राचीन पद रहते उसी का व्यवहार करना चाहिए।

रसायन द्रव्यों के कर्म की कुछ व्याख्या

३—रसायन द्रव्यों तथा विहार (शारीर-मानस चेष्टा) का व्याकरण-सिद्ध अर्थ इनके कर्म का स्वरूप समझाने में सविशेष सहायक होने से वह प्रस्तुत किया जाता है।

रस शब्द का नव्य मत से पर्याय **'लिम्फ'** बताया जाता है। परन्तु आयुर्वेद में इसका हृदय से धमनियों द्वारा सर्व शरीर में प्रसर, वहाँ पहुँचकर शरीर के धातुओं का तर्पण (क्षति-पूर्ति), वर्धन (पोषण), धारण और यापन आदि कर्म करना और पुनः सिराओं द्वारा हृदय में लौट आना प्रभृति जो स्वरूप बताया गया है उससे प्रतीत होता है कि आयुर्वेदोक्त रस केवल लिम्फ नहीं, प्रत्युत प्लाज्मा भी होना चाहिए। यों भी लिम्फ और प्लाज्मा के रासायनिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। इन दो द्रवों के अतिरिक्त रसवाहिनियों से क्षरित हुआ द्रव जिसके मध्य शारीर कोष तैरते रहते तथा अपने लिए उपयोगी द्रव्यों का जिससे ग्रहण और धातुपाकोत्थ मलों का जिसमें उत्सर्जन करते हैं वह

बाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजनननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च ॥ —सु० सू० १।८ (८)

द्रव्य (टिश्यु फ्लुइड) भी आयुर्वेदोक्त रसधातु के अन्तर्गत हैं । इस प्रकार नवीनों के तीन द्रव्य आयुर्वेद के रस-वर्ग में परिगणित हैं-प्लाज्मा, लिम्फ और टिश्यू फ्लुइड । जिज्ञासुओं को यह विषय सविस्तार मत्कृत **'आयुर्वेदीय क्रिया शारीर'** में देखना चाहिए ।

परन्तु रस शब्द का कभी-कभी व्यापक अर्थ भी होता है । रस शब्द में गत्यर्थक रस धातु है । रस क्योंकि अनवरत गति करता रहता है, अतः इसे रस नाम दिया गया है—**तत्र (रसे) रसगतौ धातुः । अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः**–सु० सु० १४।१३। अपने द्रवगुण के कारण अर्जित गतिशीलता के कारण रस शब्द कभी शरीरगत द्रव द्रव्य मात्र के लिए आता है । देखिए— **रसतीति रसो द्रवधातुरुच्यते; तेन रसरुधिरादीनामपि द्रवाणां ग्रहणं भवति**—च० चि० १५।३६ पर **चक्रपाणि** ।

रसायन शब्द के उक्त अर्थ की सिद्धि के लिए व्याकरण के अतिरिक्त स्वयं आयुर्वेद का अधोलिखित वचन प्रस्तुत किया जा सकता है ।—

स्रोतासु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः ।
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ॥
वातश्लेष्मविकाराणां शतं चापि निवर्तते ॥ —च० चि० १४।८७-८८

अर्श के प्रकरण में तक की फलश्रुति बताते हुए कहते हैं-स्रोत तक्र से शुद्ध होने पर जो रस सम्यक् धातुओं को प्राप्त होता है उससे पुरुष में पुष्टि, बल, पूर्ण और उत्साह उत्पन्न होते हैं । वात और कफ के (क्रमशः ८० और २० मिल कर) सौ रोग भी निवृत्त होते हैं ।

यहाँ तक्र से स्रोतों की शुद्धि और रस के अयन (उप + इ धातु) से ही उक्त सत्परिणाम होते दर्शाए हैं ।

रसायन शब्द में पूर्वपद रस का यह व्यापक अर्थ लिया जा सकता है । अयन का अर्थ गमन है । महास्रोत में अन्न, अन्नरस तथा मल; मूत्रवह स्रोतों (मूत्र-यन्त्र) में मूत्र; प्राणवह स्रोतों में कफ; रसवह स्रोतों में रस तथा रक्त; पित्तवह स्रोतों में पित्त एवं अन्यान्य स्रोतों में अन्यान्य द्रव गुण द्रव्यों का (रस द्रव्यों का) गमन सदा होता रहता है । इन रस द्रव्यों का अपने-अपने स्रोतों में गमन समभाव से होता रहे तो धातुओं की पुष्टि सम्यक् होती रहती है साथ ही पुरीष, वात, कफ, पित्त आदि मल जैसे-जैसे बनते जाते हैं, वैसे-वैसे अपने-अपने वहिर्मुख स्रोत से बाह्य छिद्र (द्वार) की दिशा में उनकी प्रवृत्ति होती जाती है और अन्त को उनका निर्हरण हो कर उनका शरीर में साम्य बना रहता है । आर्तववह स्रोत (फेंलोपिअन ट्यूब) में इसी प्रकार अन्तरार्तव या स्त्रीबीज की गर्भशय्या (गर्भाशय) की दिशा में गति समभाव से होती रहती है ।—**'स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुनः'** —च० इ० ८।३६। प्रत्येक धातु की अपने-अपने (रस पहुँचानेवाले) स्रोत द्वारा रसधातु से पुष्टि होती रहती है, इस वचन में धातुओं की पुष्टि का सिद्धान्त बताते हुए स्रोतों के इस प्राकृत रूप का ही उल्लेख किया है ।

अल्परेतसः प्रकृत्यैव स्तोकरेतसः, तेषामाप्यायननिमित्तम् । दुष्टरेतसोवातादिदुष्टरेतसः तेषां प्रसादनिमित्तम् । क्षीणरेतसः कारणैः स्वमानादल्पीभूतरेतसः, तेषामुपचयनिमित्तम् । विशुष्करेतसः स्वमानादत्यर्थ क्षीणरेतसः, तेषां जनननिमित्तम् ।। **—डल्हन**

कुपित हुए दोषों से धातुओं और मलों का वैषम्य हो कर किंवा तत्-तत् स्रोत की दुष्टि हो कर रोगोत्पत्ति होती है । स्रोतोदुष्टि का ही अपर नाम स्रोतोरोध है, जिसका आशय यह है कि दुष्टि किसी भी दोष से हुई हो स्रोत का विवर अल्प हो कर उसके बाह्य द्रव्य की गति में विक्षेप स्रोतोदुष्टिमात्र में होता है । रसायन द्रव्य तत्तत् दोष पर क्रिया कर स्रोत को विवृत (खुला) कर रस (बाह्य द्रव्य) के अयन की (गति को) समावस्था में लाते हैं, अतएव, उनका नाम रसायन है ।

पित्त से स्रोत के अन्दर या बाहर पाक (सूजन, इन्फ्लेमेशन) होकर स्रोतोरोध होता है । जैसे धमनी-पाक (आर्टराइटिस), हृदय-पाक (एण्डोकार्डाइटिस आदि), सिराशोथ (फ्लेबाइटिस), गर्भाशयपाक (एण्डोमेट्राइटिस), आर्तववह-पाक (सेल्पिंजाइटिस) आदि में कफ से स्रोतों के घटक कोषों में पोषक रस का अतिसंचय (कन्जेशन) होता है; कभी उनकी संख्यावृद्धि (हाइपर प्लाजिया) होती है; कभी उनकी आकार-वृद्धि (हाईपरट्रॉफी) होती है; कभी अर्बुद (ट्यूमर न्यू ग्रोथ) होता है । बात से स्रोतों में अनेक प्रकार से दुष्टि (विकृति) होती है । जैसे, कभी उनका स्तम्भ (कंट्रेक्शन, स्पैजम) होता है; यथा तमक श्वास प्राणवह स्रोतों का; अथवा रेनोड्ज डिसीस में रक्तवह स्रोतों (केपीलरीज) का, जिसके कारण अङ्ग की मृत्यु होती है; अपतानक (धनुःस्तम्भादि) में अन्नवह स्रोत का स्तम्भ होता है । हृदय के पोषक रस—रक्तवहों का स्तम्भ होने से तीव्र हृच्छूल का वेग होता है । कभी बात के रूक्ष गुण के कारण शरीर के समान स्रोतों के कोषों की परिणामतया स्रोत की ही कृशता होने से भी विवर की अल्पता हो कर वातिक स्रोतोरोध होता है । कभी वात के खर गुण के प्रकोप से धमनियों में खरत्व (आर्टीरिओस्क्लेरोसिस) हो कर उनमें संकोच-विकास का ह्रास हो उनसे पोषित अवयवों में रस-रक्त का आयात अल्प होने से वृद्धत्व होता है । मस्तिष्क की धमनियों में यह स्थिति हो जाये और क्रोध, आयास आदि के कारण उनमें रक्त के वेग की तीक्ष्णता बढ़ जाये तो वे विदीर्ण हो जाती है, जिससे पक्षवध (लकवा) होता है । पक्षवध को इसी कारण आयुर्वेद में वातमूलक कहा है । वसामेह में वातवश मूत्राशय की खर अतएव भंगुर हुई रस-वाहिनियाँ श्लीपद-जीवाणुओं के शिशुओं और अण्डों के भराव और उससे हुए तनाव को सहन न कर टूट जाती है और ऊपर से रस की अधोगति और मूत्रमार्ग से प्रवृत्ति होती है । अतएव वसामेह (काइलयूरिआ) की गणना आयुर्वेद में वातिक प्रमेहों में की है । कभी स्रोतों में वातप्रकोपवश व्यास (विस्तरण) होता है । जैसे; वृद्धों के क्षयज जराकास में (ब्रॉङ्किएक्टेसिस में) अपस्तम्भ में यह स्थिति होती है । अथवा, गुल्म रोग (मेगा-कोलन) में अन्त्रों के एक अथवा अनेक देशों (भागों) में व्यास हो कर वायु के कारण उत्सेध (फुलावा) होता है । यह स्थिति कभी हृदय में होती है, जिसे अंग्रेजी में 'डावलेटेशन' कहते हैं । कभी वायु का रूक्ष गुण बढ़ कर बाह्य द्रव्य का वर्त (वर्तुलीभाव, पिण्डीभाव, शुक्र ग्रन्थि) होता है । जैसे पक्काशय में पुरीष का, याकृ-

येन नारीषु सामर्थ्य वाजीव लभते नरः ।
व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥ —च० चि० २।४।५१

अनेन निरुक्तेन त्रिविधिमपि वृष्यमवरुध्यते; यथा-शुक्रवृद्धिकरं माषादि, तथा स्रुतिकरं संकल्पादि, शुक्रस्रुतिवृद्धिकरं क्षीरादि । यदुक्तमन्यत्र-'शुक्रस्रुतिकरं किञ्चित्; किञ्चिच्छुक्रविविर्धनम् । स्रुतिवृद्धिकरं किञ्चित्त्रिविधं वृष्यमुच्यते ।' त्रिविधमपि हीदं व्यवाये बलवत्त्वं पुनः पुनर्व्यवायशक्तिञ्च करोति ॥

—चक्रपाणि

सेवमानो यदौचित्याद्वाजीवात्यर्थवेगवान् ॥
नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते ॥ —सु० चि० २६।६

तत् त्रिविधं जनकं, प्रवर्तकं जनकप्रवर्तकं चेति । तत्र जनकं मांसघृतादिकं, यतस्तद्रसादिधातुक्रमेण परिणतं सत् प्रधानधातुपुष्टिं करोति । प्रवर्तकमुच्चटाचूर्णादिकं शुक्रवैरेचनिकोक्त्य शुक्रक्षयकारित्वं स्यात्, अतोविरेचनं शुक्रस्य पतनायाभिमुखीभावनमात्रकरणम् । जनकंप्रवर्त्तकं तु गव्यघृतगोधूममाषकाकाण्डफलादिकम् । केवलं देहबलकरं जनकं गोधूमादि; केवलमनोबलकरं संकल्पादि तु प्रवर्तकं, घृतक्षीरादि देहमनोबलकरं सदुभयकरमिति ॥

—डल्हन

यस्माच्छुक्रस्य वृद्धिस्याच्छुक्रलं तु तदुच्यते ।
यथाऽश्वगन्धा मुशली शर्करा च शतावरी ॥
दुग्धं माषाश्च भल्लातफलमज्ञामलानि च ।
प्रर्वतकानि कथ्यन्ते जनकानि च रेतसः ॥
प्रवर्तनी स्त्री शुक्रस्य, रेचनं वृहतीफलम् ।
जातीफलं स्तम्भकं च शोषणी च हरीतकी ॥ —शार्ङ्गधर प्र० खं० ४

तपित्तवह स्रोतों में पित्त का, मूत्रवह स्रोतों में मूत्र का । पिछले दो स्रोतों में बाह्य द्रव्य की शुष्कता से अश्मरियाँ बनती हैं; और उनके निर्हरणार्थ वायु का प्रकोप (उद्दीपन) हो कर तीव्र शूल होता है । इसी से इन रोगों (शूलों) को आयुर्वेद में वातज कहा है । इन स्थितियों में लक्षण की शान्ति के लिए अहिफेन-सत्त्व (मार्फिया) देने से स्रोत की गति मन्द हो; द्रव्य के शोषण का अवसर अधिक मिलने से ग्रन्थियाँ और शुष्क हो कर रोग में वृद्धि ही होती है ।

आर्तववह स्रोतों में किसी भी दोष से स्रोतोरोध हो कर स्त्रीबीज के कवच की पुष्टि तथा स्त्रीबीज के अयन के लिए अवकाश नहीं रहता; जिससे वन्ध्यत्व होता है ।

ये तथा अन्य स्रोतोरोध रसायन द्रव्यों के सेवन से दूर होते हैं, अतएव, इन्हें रसायन कहा है ।

—वाजीकरण-तन्त्र का प्रयोजन जन्म से ही अल्पशुक्र पुरुषों के शुक्र की वृद्धि, वातादि दूषित शुक्रवाले पुरुषों के शुक्र का प्रसादन (निर्मलीकरण), किसी कारण क्षीण-शुक्र हुए पुरुषों के शुक्र का पोषण एवं जिनमें शुक्रक्षय अत्यधिक हो गया हो ऐसे पुरुषों में शुक्र का पुनर्जनन है । इन उपचारों से पुरुष में प्रहर्ष नाम समागमेच्छा और स्त्रियों की तथा अपनी तृप्ति का सामर्थ्य होता है ।

—**वाजीकर** अथवा **वृश्य**[1] उन द्रव्यों को कहते हैं जिनके यथोचित सेवन से पुरुष अतिहर्ष (काम) से आविष्ट हो अश्व (वाजी) के सदृश स्त्रियों का अधिक बार समागम कर सकता है तथा उन्हें **संतुष्ट** कर सकता है ।

—बाजीकर या बृष्य द्रव्य कर्म-भेद से चतुर्विध है । १—जो द्रव्य शुक्र की वृद्धि करते हैं, यथा माष (उर्द), दूध, मांस घृत, अश्वगन्धा, शतावरी, मुशली, कपिकच्छू, काकण्ड़ोला (पंजाबी कपिकच्छू), सितोपला प्रभूति । ये द्रव्य रसादि धातुओं की पुष्टि कर अन्त में प्रधान धातु शुक्र की पुष्टि करते हैं । इन्हें **शुक्रजनन** (शुक्रजनक) या **शुक्रल** कहते हैं । २— **शुक्रप्रवर्तक** या **शुक्रस्रुतिकर**—ये द्रव्य शुक को पतनोन्मुख करते हैं । इन्हें शुक्रविरेचन भी कहते हैं । यथा, उच्चटा (उटिंगन); स्त्री का संकल्प या स्पर्श इत्यादि । ३ —जनन और प्रवर्तन उभय क्रिया करनेवाले द्रव्य **शुक्रस्रुतिवृद्धिकर** कहाते हैं । जैसे, माष, दूध, भल्लातकफलमज्ञा आदि । प्रथम प्रकार के द्रव्य देह-बलकर, द्वितीय प्रकार के मनोबलकर तथा तृतीय प्रकार के द्रव्य देहमनोबलकर होते हैं । ४—**शुक्रस्तम्भन** —ये शुक्रपतनकाल दीर्घ करते हैं; यथा—जायफल, अहिफेन आदि ।

यह वाजीकरणतन्त्र पश्चात् काल में कामशास्त्र नाम से प्रसिद्ध हुआ । इस पर वात्स्यायन के कामसूत्र तथा अनङ्गरङ्ग पञ्चसायक आदि -ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं ।

रसायनपदस्य प्रचलितमर्थान्तरम्

रसायन आयुर्वेद के अष्टाङ्गों में एक है और उसका अर्थ तथा विषय ऊपर बताया है । परन्तु इन दिनों इस संज्ञा का व्यवहार एक अन्य अर्थ में भी होता है । उसका भी निर्देश कर दूँ ।

रस शब्द के संस्कृत वाङ्मय और आयुर्वेद में अनेक अर्थ हैं । इनमें एक पारद भी है । पारद को रस इस हेतु कहते हैं कि यह—

१—उत्कृष्ट मैथुन शक्ति के लिए संस्कृत वाङ्मय में वाजी के समान साँढ (बृष) को भी उपमान रूप में पसंद किया गया है । अतएव इसी शक्ति के वर्धक द्रव्यों को वृष्य भी कहते हैं ।

समागम के लिए वृष की इच्छा रखनेवाली गाय को वृषस्यन्ती कहा है । लक्षणा से रिरंसु (समागमेच्छु) स्त्री-मात्र को वृषस्यन्ती कहा जाता है ।

रसति सर्वान् लोहान् इति रसः ।

पारद सुवर्ण-प्रभृति सर्व लोहों को[1] को अपने में लीन कर लेता है—उनका अपने में ग्रास कर लेता है, अतः उसे रस कहते हैं । नीचे के पद्य में यही बात कही है—

परमात्मनीव सततं भवति लयो यत्र सर्वसत्त्वानाम् ।
एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते ॥

—रसहृदयतन्त्र, अवबोध १, श्लोक १

—परमात्मा में जैसे (मुक्ति या प्रलय की दशा में) सर्व पदार्थों का लय हो जाता है, वैसे सर्व लोहों का लय (ग्रास, एकरूपता) जिसमें होता है, वह रसराज (पारद) शरीर को अजर-अमर कर देता है ।

पारद अर्थ में भक्षणार्थक रस धातु से रस शब्द की व्युत्पत्ति होती है ।

यद्यपि संहिता-काल में भी धातुओं तथा प्रबालादि का उपयोग औषध-रूप से होता था[2] तथापि बौद्ध-युग में पारद-घटित कल्पों का विशेष प्रयोग होने लगा, और इनके प्रतिपादक तन्त्र के लिए रसायन, रसतन्त्र, रसशास्त्र आदि संज्ञाओं का व्यवहार प्रवृत्त हुआ । दक्षिणापथ में इसके सिद्धतन्त्र, सिद्ध संप्रदाय आदि नाम हैं । द्राविड़ भाषाओं में इस संप्रदाय के अनेक उत्तम ग्रन्थ हैं । रसतन्त्र की उपयोगिता का द्योतक अधस्तन पद्य प्रसिद्ध है—

स्वल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसंगतः ।
क्षिप्रमारोग्यदायित्वाद् भेषजेभ्योऽधिको रसः ॥ —**रसेन्द्रसारसंग्रह**

—अत्यल्प मात्रा में उपयोगी होने से, (मात्रा की अल्पता आदि के कारण) (औषधद्वेष) का कोई अवकाश ही न होने से एवं शीघ्र आरोग्यदायी होने से रस-कल्पनाएँ काष्ठौषधों से उत्कृष्ट हैं ।

इतना होते हुए भी भावनाओं तथा अनुपानों के रूप में रसवैद्यों ने भी काष्ठौषधों का सुबहु उपयोग ही किया है । यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि,

---

१—सुवर्ण, रौप्य, ताम्र, नाग, बङ्ग आदि के लिए हिन्दी आदि भाषाओं में **धातु** शब्द का प्रयोग होता है; परन्तु संस्कृत में प्रधानतः इसके लिए **लोह** शब्द का प्रयोग होता है और लोह के लिए **अयस्** शब्द का प्रयोग होता है । संस्कृत भाषा में हिंगुल, माक्षिक, गैरिक सौवीराञ्जन प्रभृति जिन खनिज द्रव्यों से पारद, ताम्र, अयस्, नाग आदि लोह (मेटल्स) प्राप्त होते हैं, उनके लिए मुख्यतया धातु शब्द का प्रयोग होता है—वैद्य यादवजी विक्रमजी आचार्यकृत **रसामृतम्**, पृ १६ टि० ।

२—इस विषय का विचार इसी पुस्तक में आगे किया है । विशेष 'रसामृतम्' की प्रस्तावना तथा नवम परिशिष्ट आदि में देखना चाहिए ।

अनुपान के बिना रस-द्रव्य कार्मुक (क्रिया में समर्थ) नहीं होते । कई रसवैद्य तो अनुपान को इतना महत्त्व देते हैं कि उनका मत है कि, यथार्थ औषध तो अनुपान ही हैं, रस द्रव्य तो योगवाही होते हैं—नाम, अनुपान में प्रयुक्त औषध के सामर्थ्य में वृद्धि करना ही उनका प्रयोजन होता है ।

रसायन-शास्त्र का आरोग्य के अतिरिक्त एक अन्य भी उपयोग होता था—अयस् आदि सुलभ और अल्पमूल्य लोहों का सुवर्ण-प्रभृति दुर्लभ एवं महार्घ लोगों के रूप में परिणमन । इस द्वितीय प्रयोजन को **लोह-सिद्ध** तथा प्रथम प्रयोजन को **देह-सिद्धि** नाम दिया गया है ।

निघण्टवः

औषध-द्रव्यों के गुण-धर्म प्रतिपादक तन्त्रों की निघण्टु यह विशेष संज्ञा आयुर्वेद-प्रसिद्ध है । निघण्टु नाम मूलतः उन वैदिक कोशों का है, जिनमें चारों वेदों से एकार्थक कठिन पदों का संग्रह किया गया है । इनकी निरुक्ति (निर्वचन, व्युत्पत्ति, प्रकृति-प्रत्यय के निर्देश द्वारा अर्थावबोधन) जिन ग्रन्थों में बताया जाता है उन्हें **निरुक्त** कहते हैं । संप्रति यास्क-कृत निरुक्त उपलब्ध है । इस पर दुर्गाचार्य की व्याख्या प्रसिद्ध है । निघण्टु शब्द की निरुक्ति बताते हुए यास्क कहते हैं—

तमिमं समाम्नायं निघण्टवः इत्याचक्षते । निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति । x x ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव इत्युच्यन्त इत्यौपमन्यवः । अपि वाऽऽहननादेव स्युः, समाहता भवन्ति । यद्वा समा हृता भवन्ति ॥

—निरुक्त अध्याय १, खण्ड १

—इस सामाम्नाय (संग्रह, शब्ह-संग्रह) को निघण्टु कहा जाता है । (इसे निघण्टु कहने में अनेक निर्वचन किए जा सकते हैं ।) यथा, **औपमन्यव** आचार्य कहता है कि, ऐसे कोश-ग्रन्थों को निघण्टु इस निमित्त कहते हैं कि ये निगम (वेदार्थ ज्ञापक) होते हैं । निगम होने से इन्हें निगन्तु कहते हैं । निगन्तु शब्द में ही (ग को घ और त को ट तथा उसके कारण न को ण इस प्रकार वर्ण-विपर्यय हो कर) इन्हें निघण्टु कहा जाता है । (यहाँ गम धातु का अर्थ ज्ञान है । अवगत शब्द इस अर्थ में भाषा में भी प्रसिद्ध है) ।

—अथवा—समाहत (वेदों से संचय करके एक स्थान पर पठित) होने से इन्हें निघण्टु कहते हैं । (यहाँ 'सम्' उपसर्ग के स्थान पर समानार्थक 'नि' उपसर्ग 'आङ्' उपसर्ग का अध्याहार तथा 'हन्' धातु पाठ के अर्थ में व्यवहृत है । इस प्रकार इस अर्थ में इनका मूल नाम निहन्तु है । यहाँ भी ह को घ और त को ट वर्ण-व्यत्यय हो कर निघण्टु पद बनता है)।

—अथवा—समाहृत (वेदों से समाहरण—संग्रह—करके एकत्र स्थापित किए) होने से इन वैदिक कोशों को निघण्टु कहते हैं । (इस निरुक्ति में भी 'सम्' के

स्थान में 'नि' उपसर्ग, 'आ' का अध्याहार तथा 'हृ' धातु ले कर मूल संज्ञा निहर्तु बनती है । रेफ का लोप; हकार को धकार, तकार को टकार तथा मध्य में न का प्रक्षेप हो कर निघण्टु पद बनता है ।)

सो, यह निघण्टु शब्द मूल में तो वेदार्थ-बोधनार्थ आचार्यों द्वारा वेद-चतुष्टय से विशिष्ट पदों का संग्रह कर बनाए कोश-ग्रन्थों का है । पश्चात् काल में प्राचीन आयुर्वेदीय संहिताओं से भी औषधीय द्रव्यों का संग्रह कर उनके संहितोक्त तथा स्वानुभूत गुण-कर्मों का प्रतिपादन करने वाले जो ग्रन्थ रचे गये, उनके लिए भी निघण्टु संज्ञा का व्यवहार होने लगा । ऐसे ग्रन्थों में अकबर के समय में (सोलहवीं शती के परार्ध तथा सत्रहवीं शती के पूर्वार्ध में) हुए भावमिश्र द्वारा रचित **भाव-प्रकाश** नामक संग्रह-ग्रंथ का अङ्गभूत **भावप्रकाश निघण्टु** प्रसिद्ध है । **धन्वन्तरिनिघण्टु** और **राजनिघण्टु** भी प्रचरित हैं । **कैयदेवनिघण्टु** नामक एक अन्य ग्रन्थ भी कुछ ही पूर्व दिवगंत **आचार्य सुरेन्द्रमोहन** कृत टीका-समेत प्रकाशित हुआ है ।

नये पाठ्यक्रमों में काष्ठौषधों तथा जङ्गम द्रव्यों के गुण-धर्म-द्योतक ग्रन्थों तथा विषय को **द्रव्यगुणविज्ञान** एवं पारदादि खनिज द्रव्यों के गुण-धर्म-प्रतिपादक विषय एवं ग्रन्थों को **रसशास्त्र** नाम दिया जाता है ।

निघण्टुओं के समान ही निदान और चिकित्सा के भी संग्रह-ग्रन्थ यवन-काल में बने । निदान में माधव-कृत **माधवनिदान** प्रसिद्ध है । यवन काल में ही **शार्ङ्गधरसंहिता** नामक संग्रह-ग्रंथ रचा । भावप्रकाश तथा शार्ङ्गधरसंहिता में चिकित्सोपयुक्त प्रायः सारे आयुर्वेद तथा उस काल तक विशेष प्रचरित हो गये रस-शास्त्र का भी समावेश किया गया है ।



आयुर्वेदीयाः प्रसिद्धग्रन्थास्तदितिहासश्च

आयुर्वेद के स्वाध्याय-प्रवचन (अध्ययनाध्यापन) में **वृद्धत्रयी** और **लघुत्रयी** प्रसिद्ध हैं । वृद्धत्रयीं में **चरक-संहिता, सुश्रुत-संहिता** तथा **अष्टांग-हृदय** की गणना है; एवं लघुत्रयी में **माधवनिदान, भावप्रकाश** और **शार्ङ्गधर** की ।

प्राचीन काल में आयुर्वेद के प्रत्येक अङ्ग पर पृथक् संहिताएँ प्रचलित थीं । संप्रति प्रधानत्वेन कायचिकित्सा का प्रतिपादन करनेवाली चरक-संहिता एवं प्रधानत्वेन शल्यशालाक्य का उपदेश करनेवाली सुश्रुत-संहिता ये प्राचीनतर ग्रन्थ प्रायः संपूर्ण शेष रहे हैं । **वाग्भट** नाम के आचार्य के आठों अङ्गों का पृथक्-पृथक् संहिताओं (ग्रन्थों) से अध्ययन-अध्यापन अपने काल में अशक्य होने से सभी अङ्गों के ग्रंथों का अवगाहन कर प्रथम **अष्टांग-संग्रह** नामक गद्य-पद्यात्मक समुच्चय-ग्रन्थ लिखा, पश्चात् उसे और भी संक्षिप्त कर **अष्टांङ्ग हृदय** —संज्ञक पद्यमय ग्रन्थ-की रचना की ।

यवनों के राज्यकाल में संक्षेप और भी आवश्यक होने से **लघुत्रयी** के संग्रह-ग्रन्थ रचे गये । पिछले दो ग्रन्थों में उस काल में प्रचलित रसविद्या का भी प्रतिपादन किया गया है । इसी काल में और पीछे रसशास्त्र पर पृथक् भी ग्रन्थ लिखे गये । इनमें **रसरत्नसमुच्चय, रसेन्द्रसारसंग्रह** आदि पर प्रचार विशेष है । वर्तमान शती के श्री सदानन्द शास्त्री की ललित संस्कृत पद्यों में लिखी **रसतरङ्गिणी** इन दिनों आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम में विशेष स्थान रखती है ।

इतना संक्षिप्त परिचय देने के अनन्तर प्रत्येक संहिता का कुछ विशेष परिचय नीचे दिया जाता है ।—

अथाऽग्निवेशसंहिताया अवतरणम्

दीर्घञ्जीवितमन्विच्छन् भरद्वाज उपागमत् ।
इन्द्रमुग्रतपा बुद्ध्वा शरण्यममरेश्वरम् ॥
ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमार्वेदं प्रजापतिः ।
जग्राह निखि लेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः ॥
अश्विभयां भगवाञ्छक्रः प्रतिपेदे हि केवलम् ।
ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत् ॥ —च० सू० १।३-५

—उग्रतपा महर्षि भरद्वाज (अपने और अन्य मानवों के) दीर्घ जीवन की कामना से देवराज इन्द्र को शरणागतवत्सल मान (आयुर्वेद के ग्रहणार्थ) उनके पास पहुँचे ।

—(सृष्टि के आरम्भ में) दक्ष प्रजापति को ब्रह्मा ने आयुर्वेद का जो उपदेश किया उसे दक्ष ने संपूर्णतया ग्रहण किया । प्रजापति से अश्विनीकुमारों

ने और अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने संपूर्ण आयुर्वेद को प्राप्त किया । अतः, ऋषियों से आविष्ट भरद्वाज इन्द्र के समीप पहुँचे ।

विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम् ।
तपोपवासाध्यनब्रह्मचर्यव्रतायुषाम् ॥
तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः ।
समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे ॥
अङ्गिरा जगग्निश्च वसिष्ठः कश्यपो भृगुः ।
आत्रेयो गौतमः सांख्यः पुलस्त्यो नारदोऽसितः ॥
अगस्त्यो वामदेवश्च मार्कण्डेयाश्वलायनौ ।
परिक्षिर्भिक्षुरात्रेयो भरद्वाजः कपिञ्ज (ष्ठ) लः ।
विश्वामित्राश्मरथ्यौ च भार्गवश्च्यवनोऽभिजित् ।
गार्ग्यः शाण्डिल्यकौण्डिल्यौ (न्यौ) वार्क्षिर्देवलगालवौ ।
सांकृत्यो बैजवापिश्च कुशिको बादरायणः ॥
वडिशः शरलोमा च काप्यकात्यायनावुभौ ।
कांकायनः कैकशेयो धौम्यो मरीचकाश्यपौ ॥
शर्कराक्षो हिरण्याक्षो लोकाक्षः पौङ्गिरेव च ।
शौनकः शाकुनेयश्च मैत्रेयो मैमतायनिः ॥
वैखानसा बालखिल्यास्तथा चान्ये महर्षयः ।
प्रह्मज्ञानस्य निधयो द (य) मस्य नियमस्य च ॥
तपसस्तेजसा दीप्ता हूयमाना इवाऽग्नयः ।
सखोपविष्टास्ते तत्र पुण्यां चक्रः यथामिमाम् ॥

—च० सू० १।६-१५

—(कृतयुग के अनन्तर)[1] जब चान्द्रायणादि तप, क्रोधादि अवगुणों का परित्याग तथा सत्यादि सद्गुणों का ग्रहण-रूप उपवास,[2] वेदादि सच्छास्त्रों का अध्ययन; उपस्थादि इन्द्रियों के निग्रह के रूप में ब्रह्मचर्य, एवं अभीष्ट वस्तु की

१—रोगों का प्रादुर्भाव कृतयुग (सत्ययुग) के अनन्तर हुआ, ऐसा चरक ने लिखा है । यह प्रकरण इसी ग्रन्थ में आगे लिखा है ।

२—**उपवासः, कोधादिपरित्यागः, सत्याद्युपादानं च । वचनं हि—''उपावृत्तस्य पापेभ्यः सहवासो गुणे हि यः । उपवासः विज्ञेयो न शरीरस्य शोषणम्'' इति—चक्रपाणि**—उपवास का अर्थ (अनशन द्वारा) शरीर का शोषण नहीं है, किन्तु पापकर्मों से पराङमुख हो गुणों का ग्रहण करना इसी का नाम उपवास (उप = समीप, गुणों के समीप-वास) है ।

प्राप्ति के निमित्त नियम-विशेष का पालन रूप व्रत— इनमें जिनकी आयु (व्यतीत हो रही) है, ऐसे शरीर धारियों—प्राणियों-के (सर्व कर्मों में) विघ्नभूत रोग प्रादुर्भूत हुये तो हिमाचल के शुभ पार्श्व (तलहटी) में पुण्यकर्मा, ब्रह्मज्ञान, दम (यम) तथा नियम के निधि (भण्डार) एवं तप के तेज से इस प्रकार प्रदीप्त जैसे आहुति दिये जाते अग्नि के पुञ्ज हों ऐसे अङ्गिरा जमदग्नि, बसिष्ठ-कश्यप, भृगु, आत्रेय (पुनर्वसु), गौतम, सांख्य, पुलस्त्य, नारद, असित, अगस्त्य, वामदेव, मार्कण्डेय, आश्वलायन, पारिक्षि, भिक्षु, आत्रेय, भारद्वाज, कपिञ्ज (ष्ठ) ल, विश्वामित्र, अश्मरथ्य, भार्गव, च्यवन, अभिजित् गार्ग्य, शाण्डिल्य, कौण्डिल्य (न्य), वार्क्षि, देवल, गालव, सांकृत्य, बैजवापि, कुशिक, वादरायण, बंडिश, शरलोमा, काप्य, कात्यायन, काङ्कायन, कैकर्शेय, धौम्य, मारीच, काश्यप, शर्कराक्ष; हिरण्याक्ष, लोकाक्ष, पैङ्गि, शौनक, शाकुनेय, मैत्रेय, मैमतायनि, वैखानस (वातनप्रस्थ) तथा बालखिल्य (अंगूष्ठ-प्रमाण ऋषि-वर्ग)—ये तथा अन्य महर्षि प्राशिमात्र पर अनुग्रह को लक्ष्य कर एकत्र हुए ।[१] सुख से एक साथ बैठ कर उन्होंने यह पुण्य कथा (चर्चा) की ।

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥
प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम् ।
कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्तवा ध्यानमास्थिताः ॥
अथ ते शरणं शक्रं ददृशुर्ध्यानचक्षुषा ।
स वक्ष्यति शमोपायं यथावदमरप्रभुः ॥ —च० सू० १।१५-१८

(पुरुष के चार पुरुषार्थों—जीवन के प्रयोजनों या चतुर्वर्ग नाम) धर्म, अर्थ, काम (शारीर सुख) और मोक्ष का सर्वोत्तम मूल आरोग्य है । रोग इस आरोग्य के एवं कल्याणकारक जीवन के अपहर्ता (नाशक) है । सो, मानवों के मार्ग में यह (रोग-रूप) महान् अन्तराय (विघ्न) प्रादुर्भूत हुआ है । इसकी शान्ति का क्या उपाय हो यह कह वे महर्षि—ध्यान-रूप समाधि में स्थित हो गये । ध्यान-दृष्टि से उन्होंने इन्द्र को अपना शरण (रक्षक) पाया । (यह भी उन्होंने ध्यान-दृष्टि से जाना कि) अमराधिपति वह इन्द्र ही इन रोगों के शमन का यथावत् उपाय कहेंगे ।

कः सहस्राक्षभवनं गच्छेत्प्रष्टुं शचीपतिम् ॥
अहमर्थे नियुज्येयमत्रेति प्रथमं वचः ।
भरद्वाजोऽब्रवीत्तस्मादृषिभिः स नियोजितः ॥

१—इस प्रकार की अन्य भी भिन्न-भिन्न स्थलों पर हुये संभाषाओं का उल्लेख चरक में आता है ।

स शक्रभवनं गत्वा सुरर्षिगणमध्यगम् ।
ददर्श बलहन्तारं दीप्यमानमिवानलम् ॥
सोऽभिगम्य जयाशीर्भिरभिनन्ध सुरेश्वरम् ।
प्रोवाच विनयाद्धीमानृषीणां वाक्यमुत्तमम् ॥
व्याधयो हि समुत्पन्नाः सर्वप्राणिभयंकराः ।
तद्ब्रूहि मे शमोपायं यथावदमरप्रभो ॥
तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः ।
पदैरल्पैर्मतिं बुद्ध्वा विपुलां परमर्षये ॥ —च० सू० १।१८।२३

—अब (प्रश्न उठा कि) शची-पति (इन्द्राणी के पति भगवान् इन्द्र) के निकट उनके भवन में कौन जाये ? इस पर सर्वप्रथम महर्षि भरद्वाज ने कहा कि—इस कार्य में मेरी नियुक्ति की जाये ।[1] अतएव ऋषियों ने इस निमित्त उन्ही की योजना की । इन्द्र के भवन में जा महर्षि ने देवर्षियों के समाज के मध्य में विराजमान, (अपनी कान्ति के प्रभाव से) दीप्यमान (प्रज्वलित) अग्नि के सदृश, बल (नामक असुर) के हन्ता इन्द्र का दर्शन किया । बुद्धिशाली महर्षि ने निकट जा, 'जय' इस आशीर्वचन से सुरेश्वर का अभिनन्दन कर सविनय ऋषियों का उत्तम वाक्य (संदेश) सुनाया ।—(हमारे देश में) सर्वप्राणिभयंकर व्याधियों का प्रादुर्भाव हुआ है । सो, हे अमराधिपते, उनके शमन का उपाय मुझे यथावत् बताइए । (इस पर), भगवान शतक्रतु (इन्द्र) ने परमर्षि भरद्वाज की बुद्धि की विपुल (शुश्रुषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह और सत्य के लिये आग्रह, इन गुणों से युक्त)[2] जानकर उन्हें अल्प शब्दों में ही आयुर्वेद का उपदेश दिया ।

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम् ।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः ॥
सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः ।

१—पदों के झगड़ों में पड़े हुये अमुक प्रसंग पर हमें किसी ने बुलाया नहीं इत्यादि—प्रकारक निरर्थक विवाद में पड़कर आयुर्वेद के हित की उपेक्षा करने वाले आज के अस्मादृश वैद्यों के लिये भारद्वाज आदर्श के अप्रतिम उदाहरण हैं । आयुर्वेद के हितार्थ जो भी कार्य उचित लगे स्वयं आगे बढ़कर स्वीकार करना और उसके लिये प्रयास करना यही हम वैद्यों का कर्तव्य होना चाहिये ।

२—**देखिए—सा च मतिः शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण धारणोहापोह-तत्वाभिनिवेशवतीह विपुला बोद्धव्य—चक्रपाणि** । शुश्रुषा का मुख्यार्थ गुरु के उपदेश (भाषण) के श्रवण की इच्छा है । यह मनोगत इच्छा गुरु की सेवा ही व्यक्त होती है अतः सेवा में ही शुश्रूषा शब्द रूढ़ हो गया है । ग्रहण = समझना; धारण = स्मरण; ऊहापोह = तर्कवितर्क; तत्वाभिनिवेश = ज्ञात सत्य के मानने और उपदेश के लिये मन की दृढ़ता ।

यथावदचिरात् सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः ॥

तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितम् ।

ऋषिभ्योऽनधिकं तच्च शशंसानवशेषयन् ॥ —च० सू० १।२४।२६

—(कौन-सा था वह आयुर्वेद, जिसका उपदेश इन्द्र ने भरद्वाज को किया ?) रोगों के क़ारणों, रोगों और आरोग्य के लक्षणों तथा रोगोवस्था में रोगों का शमन करने-वाले एवं आरोग्यावस्था में उसको स्थिर रखनेवाले औषधों (आहार, विहार-चेष्टा, औषध, देश और काल) इन तीन का ज्ञान कराने वाले; स्वस्थ और रोगी दोनों जिसके प्रतिपाद्य हैं ऐसे हेतु, लिङ्ग (लक्षण) और औषध इन तीन का सूत्रण (प्रतिपादन) करने वाले, शाश्वत (सनातन) और पुण्य (पावन) जिसका (जिस आयुर्वेद का सर्वप्रथम) ज्ञान पितामह ने प्राप्त किया था ।

—अनन्तपार (आर-पार से रहित), तीन स्कन्धोंवाले (तीन सूत्रोंवाले; हेतु, लिङ्ग और औषध रूप तीन विभागों से प्रविभक्त) उस समग्र आयुर्वेद को महामति और मुनि (मननशील) भरद्वाज ने तन्मय होकर यथावत् एवं शीघ्र ही जान लिया ।

उससे (आयुर्वेदोक्त रसायन-विधि के आचरण से महर्षि भरद्वाज ने अमित तथा सुखयुक्त आयु प्राप्त की । एवं, ऋषियों को उस आयुर्वेद का (न अधिक और न न्यून अर्थात् जो, जैसा और जितना इन्द्र से जाना था तैसा) उपदेश किया ।[1]

ऋषयश्च भरद्वाजाज्जगृहुस्तं प्रजाहितम् ।

दीर्घमायुश्चिकीर्षन्तो वेदं वर्धनमायुषः ॥

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा ।

सामान्यं च विशेषं च गुणाम् द्रव्याणि कर्म च ॥

समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थितः ।

लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम् ॥

—च० सू० १।२०-२६

१—जीवित अवस्था में ही और हिमाचल में जाकर, मानव भाषा में ही आयुर्वेद की प्राप्ति के इस कथन से तथा प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के अवगाहन से विदित होता है कि : देव नामक कोई मानव जाति थी, जो हिमाचल में कहीं रहती थी । इनके राजा को 'इन्द्र' कहते थे जैसे आज हैदराबाद के राजा को 'निजाम' और बड़ौदा के राजा को 'गायकवाड़' कहते हैं । आधुनिक इतिहास के ग्रन्थों में भारतीयों के सदृश ही चीन भी प्राचीन संस्कृति का धाम माना जाता है । अनेक आविष्कार चीनियों के द्वारा ही किये कहे जाते हैं, जैसे कागज आदि के । संभव है, संस्कृत की देव जाति चीनियों की ही कोई शाखा हो ।

—दीर्घ आयु की इच्छा रखनेवाले ऋषियों ने प्रजा के हितकारी और आयु के वर्धक इस वेद का ग्रहण भरद्वाज से किया। ज्ञानचक्षु (की सहायता) से उन महर्षियों ने सामान्य,[1] विशेष,[2] गुण, द्रव्य, कर्म और समवाय[3] का ज्ञान यथावत् प्राप्त किया। इसके अनन्तर तन्त्रोक्त (शास्त्रोक्त विधि का उन्होंने अवलम्बन किया। परिणाम-तथा वे परम सुख (आरोग्य) और स्थिर आयु को प्राप्त हुये।

१—**सामान्य**—अनेक व्यक्तियों (पदार्थों) में ये व्यक्ति परस्पर समान हैं, इस प्रकार समानता (एकत्व) की प्रतीति जिससे हो उस धर्म (विशिष्टता) को **सामान्य** कहते हैं। इस का ज्ञान आयुर्वेद में इस हेतु आवश्यक है कि जिस दोष, धातु, उपधातु या मल का शरीर में क्षय हुआ हो उसकी वृद्धि द्वारा साम्य के लिये समान (सामान्य-युक्त) द्रव्य का ही सेवन करना चाहिये। इस विषय के प्रमाण **आयुर्वेदीय क्रियाशारीर** तथा **आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान** में संगृहीत है। ये सामान्य-युक्त द्रव्य बी तीन प्रकार के हैं। **समान** (यथा माँस की वृद्धि के लिये मांस, रक्त की वृद्धि के लिये रक्त इत्यादि); **समानगुण, समानगुणभूयिष्ठ**। देखिए: **स्वयोनिवर्धनमपि समानेन द्रव्येण, समानगुणेन समान-गुणभूयिष्ठेन**। वा XXX **द्रव्यग्रहणमुपलक्षणम्। तेन कर्मापि यद् यस्य धातोरभिवृद्धिकरं तत्क्षये तत्सेव्यम्** —सु० सू० १५।१० पर— **डल्हण**।

यह टीका अधस्तन मूल वचन पर है। **तत्रापि (धात्वादीनां क्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतीकारः)**। इसका अर्थ यह है—धातु आदि का क्षय होने पर उसकी (क्षीण धातु की) योनि नाम उत्पादक महाभूत की शरीर में वृद्धि करनेवाले द्रव्यों का उपयोग ही उसका प्रतीकार (चिकित्सा) है। टीकाकार के वचन का अर्थ यह है—स्वयोनि वर्धन द्रव्य तीन प्रकार के हैं। समान अर्थात् स्वयं वह धातु जिसका क्षय हुआ है; समान गुण; तथा समानगुणभूयिष्ट नाम जिसमें अन्य भी गुण हों परन्तु अधिकांश गुण क्षीण धातु के सदृश हों। यहां द्रव्य शब्द उपलक्षण है। इससे क्षीण धातु के वर्धक कर्म (विहार), देश और काल का भी ग्रहण करना चाहिये।

उपलक्षण ऐसे शब्दों को कहते हैं जो अपने प्रसिद्ध अर्थ को तो ग्रहण कराए ही, साथ ही प्रकरण के बल पर अन्य भी अर्थों का ग्रहण कराये। यथा, किसी कार्यालयादि में सूचना लिखी हो कि 'यहाँ बीड़ी पीना वर्जित है' इस वचन के बीड़ी शब्द से बीड़ी का तो ग्रहण होता ही है, सिगरेट, हुक्का आदि का भी ग्रहण और वर्जन होता है।

२—**विशेष**—विशेष उस धर्म को कहते हैं जो अनेक पदार्थों में पृथक्त्व या भिन्नता का द्योतक हो। विशेष का ज्ञान आयुर्वेद में इसलिये आवश्यक है कि, जिस दोषादि की वृद्धि हुई हो उसके साम्य के लिये उसके विशेषवाले (विरोधी स्वभाववाले) द्रव्यादि के अभ्यास (सतत् सेवन) द्वारा उसका क्षपण (क्षय) किया जाता है।— **ह्रासहेतुर्विशेषश्च**।

—च० सू० १।४४।

३—**समवाय**—महाभूतों तथा तदुत्थ द्रव्यों का अपने गुण-कर्मों के साथ संबन्ध **समवाय** कहाता है। यह संयोग से भिन्न है कारण, संयोग नश्वर है और समवाय जब तक द्रव्य रहता है तब तक स्थिर होता है।

अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः ।
शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया ॥
अग्निवेशश्च भेल (ड) श्च चतूकर्णः पराशरः।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः ।

—च० सू० १।३०-३१

—मैत्री-परायण नाम सर्व प्राणियों पर आत्मवत् बुद्धि रखनेवाले[1] (इन महर्षियों के एक आत्रेय-अत्रि-पुत्र-अथवा) पुनर्वसु ने सर्व प्राणियों पर अनुकम्पावश हो इस पुण्य आयुर्वेद का उपदेश **अग्निवेश,** भेल (भेड), जनकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि इन छ शिष्यों को किया । उन्होंने भी महर्षि आत्रेय पुनर्वसु के वचन को (यथावत्) ग्रहण किया ।

बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः ।
तन्त्रस्य कर्ता प्रथममग्निवेशो यथोऽभवत् ॥
अथ भेलादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं, कृतानि च ।
श्रावयामासुरात्रेयं सर्षिसंघं सुमेधसः ।
श्रुत्वां सूत्रणमर्थानामृषयः पुण्यकर्मणाम् ।
यथावत्सूत्रितमिति प्रहृष्टास्तेऽनुमेनिरे ॥
सर्व एवाऽस्तुवस्तांश्च सर्वभूतहितैषिणः ।
साधु भूतेष्वनुक्रोश इत्यु चैरब्रुवन् समम् ।
तं पुण्यं शुश्रुवुः शब्दं दिवि देवर्षयः स्थिताः ।
सामराः परमर्षीणां श्रुत्वा मुमुदिरे परम् ॥
अहो साध्विति निर्घोषो लोकांस्त्रीनन्ववादयत् ।
नभसि स्निग्धगम्भीरो हर्षाद्‌भूतैरुदीरितः ॥
शिवो वायुर्ववौ सर्वा भाभिरुन्मीलिता दिशः ।
निपेतुः सजलाश्चैव दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥
अथाग्निवेशप्रमुखान् विविशुर्ज्ञानदेवताः ।
बुद्धि सिद्धिः स्मृतिर्मेधा धृतिःकीर्तिःक्षमा दया ॥
तानि चानुमतान्येषां तन्त्राणि परमर्षिभिः ।
भ (भा) वाय भूतसंघानां प्रतिष्ठां भुवि लेभिरे ।

—च० सू० १।३२–४०

१—देखिए : **मैत्रीपरो मैत्रीप्रधान । मैत्री च सर्वप्राणिष्वात्मनीव बुद्धिः**

—चक्रपाणि ।

—इन शिष्यों में सर्वप्रथम अग्निवेश ने (ऋषि के उपदेशों को संकलित कर अपना) तन्त्र-संहिता-रची। (यही संहिता अग्निवेश-संहिता या आगे कहे कारणानुसार चरक-संहिता कहाती है) सर्वप्रथम अग्निवेश न संहिता रची, उसका कारण यह नहीं था कि उसे पुनर्वसु ने कुछ विशेष उपदेश (पृथक् बैठा कर) दिया था। इसका कारण उसकी बुद्धि का उत्कर्ष ही था।

—इसके अनन्तर अति मेधावी भेल प्रभृति ने भी अपने-अपने तन्त्र (अपने-अपने नाम से अंकित तन्त्र तथा-भेल-तन्त्र, जतूकर्ण-तन्त्र या संहिता इत्यादि) रचे और ऋषि संघ सहित अत्रि-पुत्र (पुनर्वसु) को सुनाये।[१]

—पुण्यकर्मा (इन अग्निवेशादि) के बताए आयुर्वेद-प्रतिपाद्य विषयों के सूत्रण को सुनकर प्रमुदित हुये उन ऋषियों ने इन शब्दों में अनुमति दी कि 'यह सूत्रण यथायोग्य हुआ है।' सर्व प्राणियों के हितैषी उन (अग्निवेशादि तन्त्रकारों)

१—संप्रति उपलब्धचरक-संहिता को ही अग्निवेश-संहिता भी कहते हैं। परन्तु अनुमान है कि, मूल संहिता यह नहीं है। कारण, चरक के टीकाकार चक्रपाणि (क्रदत्त), माधवनिदान के टीकाकार विजयरक्षित, वृन्द-कृत सिद्धयोग के टीकाकार श्रीकण्ठ तथा चक्रदत्त कृत द्रव्यगुण-संग्रह एवं चरक-संहिता के टीकाकार शिवदास सेन प्रभृति ने अपनी-अपनी टीकाओं में अग्निवेश के नाम से स्थान-स्थान पर वचन उद्धृत किये हैं। ये वचन उपलभ्यमान चरक-संहिता में दृग्गत नहीं होते। सो, उपलब्ध चरक-संहिता अधिकांश चरक और शेषांश दृढ़बल नामक आचार्यों की लिखी है। अवश्य ही इन्होंने बड़ी सहायता निज काल में उपलब्ध जीर्णावशिष्ट अग्निवेश-संहिता से ली होगी।

अन्तरङ्ग (स्वयं चरक-संहिता में आए) तथा बहिरंङ्ग (इतर वाङ्मय में आए) प्रमाणों से मूल अग्निवेश-तन्त्र का निर्माणकाल आज से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व माना जाता है।

अग्निवेश के सतीर्थ्य (सहाध्यायी) भेल-कृत **भेल-संहिता** भी कुछ ही काल पूर्व तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालय में प्राप्त हुई है, परन्तु अत्यन्त खण्डित दशा में। इसे कलकत्ता युनिवर्सिटी ने प्रकाशित किया है। जतूकर्ण, क्षारपाणि खारनादि आदि की संहिताएँ इस समय प्राप्त नहीं होती। टीकाकारों ने इनके वचन उद्धृत किए हैं, जिससे अनुमान है कि उनके काल में ये सम्पूर्ण किंवा अंशतः उपलभ्यमान थीं। यही स्थिति हारीत-संहिता की भी है। इन दिनों हारीत-संहिता नाम से एक मुद्रित ग्रन्थ पाया जाता है परन्तु रचना देखने से यह किसी नवीन अल्पबुद्धि वैद्ध का लिखा प्रतीत होता है।

उपरिनिर्दिष्ट ऋषि-संघंघ में एक मारीच काश्यप थे। इनकी कौमारभृत्य पर लिखी काश्यप-संहिता अति खण्डित स्वरूप में अभी ही उपलब्ध हुई है। विशाल संस्कृत उपोद्घात के साथ इसे नेपाल राजगुरु पण्डित-प्रवर श्री हेमराज शर्मा ने प्रकाशित किया है। कुछ ही काल पूर्व मूल उपोद्घात और संहिता सहित श्री सत्यपाल आयुर्वेदालंकार (गुरुकुल कांगड़ी) से अनुवाद और भाष्य कराकर काशी के प्रसिद्ध पुस्तक-विक्रेता चौखम्बा संस्कृत सीरीज ने इसे प्रकाशित कराया है।

की सब ने स्तुति की । सब ने मिलकर तार स्वर से घोष किया कि —'साधु (शाबाश), प्राणियों पर तुमने यह बड़ी अनुकम्पा की ।' परमर्षियों के इस पुण्य साधुवाद को आकाश में स्थित देवों और देवर्षियों ने सुना और वे अत्यन्त प्रहृष्ट हुए । (उस काल) हर्षवश आकाश में प्राणियों (देवादियों) द्वारा उच्चारित स्निग्ध—गम्भीर 'अहो, साधु' इस उच्च ध्वनि ने त्रिभुवन को गुंजा दिया । मंगल वायु बहने लगा, दीप्ति से सभी दिशाएँ विकसित हो उठीं तथा ऋषियों पर आकाश से जल-समेत दिव्य कुसुमों की वृष्टियाँ हुई ।

—इसके अनन्तर अग्निवेशादि मुनियों (के अन्तर) में बुद्धि, सिद्धि (साध्य और साध्य का ज्ञान), स्मृति, मेधा, धृति (धारण-शक्ति), कीर्ति (वचन-शक्ति), क्षमा और दया इनकी अधिष्ठात्री देवताएँ प्रविष्ट हो गयी । परमर्षियों द्वारा अनुमोदित उनके तन्त्र प्राणि वर्गों के कल्याण के लिये भूलोक में प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए ।

चरक-संहितायाः प्रविभागाः

तन्त्रस्यास्याष्टौ स्थानानि । तद्यथा-श्लोक-निदान-विमान-शारीरेन्द्रिय-चिकित्सित-कल्प-सिद्धिस्थानानि । तत्र त्रिंशदध्यायकं श्लोकस्थानम् अष्टाष्टाध्यायकानि निदान विमान शारीरस्थानानि, द्वादशकमिन्द्रियाणां, त्रिंशकं चिकित्सितानां, द्वादशके कल्पसिद्धिस्थाने भवतः ॥

—सु० सू० ३०।३३

—इस अग्निवेश-तन्त्र (चरक-संहिता) का (विभाग) आठ स्थानों में (स्थान नाम के आठ विभागों के रूप में) किया गया है । ये आठ विभाग अधस्तन हैं—श्लोक-स्थान (या सूत्र स्थान), निदानस्थान, विमानस्थान, शारीरस्थान, इन्द्रियस्थान, चिकित्सास्थान, (चिकित्सित स्थान), कल्पस्थान और सिद्धिस्थान ।

(इन स्थानों का प्रविभाग अध्यायों के रूप में किया गया है । प्रत्येक अध्याय गद्य-पद्यात्मक वचनों के रूप में उपनिबद्ध है । इनमें) श्लोकस्थान में तीस अध्याय हैं, निदान, विमान और शारीरस्थान में आठ-आठ; इन्द्रियस्थान में बारह; चिकित्सास्थान में तीस एवं कल्प तथा सिद्धिस्थानों में बारह-बारह अध्याय हैं । (चिकित्सास्थान के प्रथम दो अध्याय चार-चार पदों के रूप में प्रविभक्त हैं ।)

निरुक्तं तन्त्रणात्तन्त्रं, स्थानमर्थप्रतिष्ठया ।
अधिकृत्यार्थमध्यायनामसंज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ —च० सू० ३०।७०

—तन्त्र और स्थान शब्दों का निरुवत (व्युत्पत्ति) यह है । इस ग्रंथ को तन्त्र इसलिये कहते हैं कि यह तन्त्रम नाम शरीर का धारण किंवा

अभीष्ट विषय आयुर्वेद का प्रतिपादन करता है । इसके विभागों को स्थान इस हेतु कहते हैं कि उनमें तत्तत् अर्थ की प्रतिष्ठा (स्थिति; विवरण) है । अध्याय में आए विषय के अनुसार (उसे लक्ष्य में रख) प्रत्येक अध्याय का पृथक्-पृथक् नाम रखा गया है ।

प्रतिसंस्कृत-विषयः

उपलब्ध चरक—संहिता की मुद्रित प्रतियों में यह लिखा मिलता है :

महर्षिणा पुनर्वसुनोपदिष्टा, तच्छिष्येणाग्निवेशेन प्रणीतं, चरक—दृढ़बलाभ्यां प्रतिसंस्कृता चरक-संहिता ।

—नाम यह चरक-संहिता महर्षि (आत्रेय) पुनर्वसु द्वारा उपदिष्ट, उनके शिष्य अग्निवेश द्वारा प्रणीत तथा चरक और दृढ़बल द्वारा प्रतिसंस्कृत है । अधिकांश अध्यायों के अन्त में **अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते** ऐसा तथा शेष कतिपय आध्यायों के अन्त में **अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते दृढ़-बलसंपूरिते** एवं ग्रन्थ के अन्त में **अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । सिद्धिस्थानेऽष्टमे प्राप्ते तस्मिन् दृढ़बलेन तु । सिद्धिस्थानं स्वसिद्धमर्थ समासेन समापितम्**— ऐसा लेख मिलता है । अपने प्रतिसंस्कृत तथा संपूरित अंश का उल्लेख करते दृढ़बल कहता है :

अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पः सिद्धय एव च ।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरक-संस्कृते ॥
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढ़बलोऽकरोत् ।
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थ यथातथम् ॥

—च० चि० ३०।२८६।९०

सप्तदशाध्याया प्रति चिकित्सास्थाने सप्तदशाध्यायाः । ते च चरकासंस्कृतान् यक्ष्मचिकित्सितान्तानष्टावध्यायान, तथाऽर्शोतीसारविसर्पद्धिव्रणीयमदात्ययोक्तान् विहाय ज्ञेयाः ।

—चक्रपाणि

—अग्निवेश-रचित तथा चरक-प्रतिसंस्कृत इस तन्त्र के चिकित्सास्थान में सत्रह अध्याय तथा कल्प और सिद्धिस्थान सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं होते । महान् प्रयोजनवाले इस तन्त्र की यथावत् पूर्ति के लिये इन शेष अध्यायों और स्थानों की रचना कपिलबल सूनु दृढ़बल ने की ।

—प्रारम्भ से यक्ष्म-चिकित्सा तक के आठ अध्याय तथा अर्श, अतिसार, विसर्प, द्विव्रणीय और मदात्यय इन विषयों के अध्याय; जिनका संस्कार चरक ने किया है उन्हें, छोड़कर शेष सत्रह अध्याय दृढ़बल ने चिकित्सा-स्थान में बढ़ाए हैं, ऐसा टीकाकार चक्रपाणि कहता है ।

प्रतिसंस्कारस्वरूपम्

संस्करण अथवा प्रतिसंस्कार का अर्थ स्वयं दृढ़बल ने इन पदों में बताया है ।

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम् ।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् ।।
अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना ।
संस्कृतं तत्त्वसंपूर्ण त्रिभागेनोपलक्ष्यते ।।
तच्छंकरं भूतपतिं संप्रसाद्य समापयत् ।
अखण्डार्थ दृढ़बलो जातः पञ्चनदे पुरे ।।
कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्भो विशेषोञ्छशिलोच्चयम् ।
सप्तदशौषधाध्यायसिद्धिकल्पैरपूरयत् ।। —च० सि० १२।६३-६७

—संस्कर्ता संक्षेप में कहे (लेशोक्त) विषय का विस्तार करता है तथा अतिविस्तृत (अति विस्तार से कहे) विषय को संक्षिप्त करता है । इस प्रकार पूर्व विद्यमान ग्रन्थ को ही वह पुनः नया करता है—नवीन रूप देता है । महामति चरक ने इस तन्त्रोत्तम का (इस शैली से) संस्कार किया था । परन्तु उनका (कोई) तीसरा भाग असंपूर्ण रहा दीखता है । उसको अखण्डित बनाने के हेतु पञ्चनदपुर[1] में उत्पन्न दृढ़बल ने भूतपति शंकर भगवान् की आराधना कर, अन्य अनेक तन्त्रों से उञ्छ और शिल[2] के सदृश विशेष विषयों का ग्रहण कर चिकित्सास्थान के सत्रह अध्याय एवं कल्प और सिद्ध स्थान की रचना द्वारा पूर्ति की है ।

चरकस्यावतरणं संहितोद्धारश्च

भावमिश्र ने अपने ग्रन्थ में चरक के अवतार की कथा निम्न पद्यो में लिखी है-

---

१—राजतरङ्गिणी के अंग्रेजी अनुवाद में डॉ० स्टीन ने पञ्चनदपुर को वितस्ता और सिन्धु नदी के संगम पर स्थित पंज्यनोर नामक स्थान बताया है इससे दृढ़बल का कश्मीरदेशीय होना सिद्ध होता है इसका काल ईसा की चतुर्थ शदी माना जाता है ।

२—**भूमिपतितानामणूतां धान्यादिबीजानां शोधन्या संहरणमुञ्छः प्रविरलस्य तु कणिशादिरूपतया गतितस्य चयनं शिलः ।**

—चक्रपाणि ।

—(पौधे से दाना अलग करते हुये, अथवा बाजार में) नीचे गिरे हुये सूक्ष्म धान्यादि बीजों की बुहारी से संचित करना उञ्छ कहाता है, तथा सिट्टे के रूप में दूर-दूर पड़े हुये धान्य का संग्रह शिल कहाता है ।

यदा मत्स्यावतारेण हरिणा वेद उद्धृतः ।
तदा शेषश्च तत्रैव साङ्गं वेदमवाप्तवान् ॥
अथर्वान्तर्गतं सम्यगायुर्वेदं च लब्धवान् ।
एकदा स महीवृत्तं द्रष्टुं चर इवागतः ॥
तत्र लोकान् गदैर्ग्रस्तान् व्यथया परिपीडितान् ।
स्थलेषु बहुषु व्यग्रान् म्रियमाणांश्च दृष्टवान् ॥
तान्दृष्ट्वाऽतिदयायुक्तस्तेषां दुःखेन दुःखितः ।
अनन्तश्चिंतयामास रोगोपशमकारणम् ॥
संचिन्त्य स स्वयं तत्र मुनेः पुत्रो वभूव ह ।
प्रसिद्धस्य विशुद्धस्य वेदवेदाङ्गवेदिनः ॥
यतश्चर इवायातो न ज्ञातः केनचिद्यतः ।
तस्माच्चरकनाम्नाऽसौ विख्यातः क्षितिमण्डले ॥
स भाति चरकाचार्यो वेदाचार्यो यथा दिवि ।
सहस्रवदनस्यांशो येन ध्वंसो रुजां कृतः ॥
आत्रेयस्य मुनेः शिष्या अग्निवेशादयोऽभवन् ।
मुनयो बहवस्तैश्च कृतं तन्त्रं स्वकं स्वकम् ॥
तेषां तन्त्राणि संस्कृस्य समाहृत्य विपश्चिता
चरकेणात्मनो नाम्ना ग्रन्थोऽयं चरकःकृतः ॥ —भा० प्र० अ० १

—(आदि काल में किसी असुर ने वेदों को लेकर पाताल में छिपा दिया था। उनके उद्धार के लिये) जब भगवान विष्णु ने मत्स्यावतार लेकर उन वेदों का उद्धार किया— उन्हें पुनः प्राप्त किया, उसी काल पाताल-गत शेषनाग ने भी साङ्ग[1] वेदों को प्राप्त किया इन वेदों के साथ ही उसने अथर्ववेद के अन्तर्गत आयुर्वेद को भी जाना।

१—साङ्ग = अङ्गों (और उपाङ्गों) सहित।

वैदिक ग्रन्थों का किंचित् परिचय

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और **अथर्ववेद** ये चार वेद हैं, जिनमें आर्य (वैदिक, हिन्दू) धर्म के सिद्धान्तों के मूल बताए गए हैं। प्रसिद्ध है कि, सृष्टि के आदि में

—एक बार शेषनाग चार के सदृश पृथ्वी की दशा देखने को आए ! अनेक स्थलों पर उन्होंने लोकों को रोगों से ग्रस्त, व्यथा से पीड़ित, व्याकुल

ब्रह्मा ने **अग्नि, वायु, रवि** (आदित्य या सूर्य) और **अङ्गिरा** इन चार ऋषियों के अन्तःकरण में क्रमशः एक-एक वेद का ज्ञान दिया । इन चारों के चार **उपवेद** हैं—**ऋग्वेद** का **आयुर्वेद** यजुर्वेद का **धनुर्वेद**, सामवेद का **गान्धर्ववेद** और अथर्ववेद का **अर्थवेद** (शिल्प विद्या) ।

वेद की शरीरी (शरीरधारी) रूप में कल्पना कर उसके छः अङ्ग तथा उपाङ्ग किये गये हैं **शिक्षा** (वर्णज्ञान), **कल्प, व्याकरण, निघण्टु निरुक्त, छन्द** और **ज्योतिष** ये छ **अङ्ग** हैं ।

छ शास्त्र अथवा दर्शन वेद के छ **उपाङ्ग** कहे जाते हैं । इनके नाम तथा उनके कर्ताओं और भाष्यकर्ताओं के नाम अधोलिखित है : **पूर्वमीमांसा** जैमिनिकृत, व्यासकृत भाष्य : **वैशेषिकदर्शन** कणादकृत गौतमकृत प्रशस्तपाद-नामक भाष्य : गौतमकृत **न्यायदर्शन**, वात्स्यायनकृत भाष्य (प्रसिद्धि है कि यही वात्स्यायन **चाणक्य** नाम से प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त के मंत्री हैं; इन्होंने कौटलीय अर्थशास्त्र तथा कामसूत्र की भी रचना की), पतञ्जलिकृति **योगदर्शन**, व्यासकृत भाष्य (प्रसिद्धि हैं कि यही पतञ्जलि अग्निवेश-संहिता के प्रतिसंस्कर्ता चरक मुनि हैं; एवं इन्हीं ने पाणिनि को अष्टाध्यायी पर महाभाष्य भी लिखा है); कपिलमुनि कृत **सांख्यदर्शन**, भागुरिकृत भाष्य (मूल सांख्यसूत्र संप्रति उपलब्ध नहीं होते ईश्वर कृष्ण-नामक अर्वाचीन विद्वान् की लिखी सांख्यकारिका पुस्तक ही सांख्य-सिद्धान्त की प्रमाणभूत मुख्य पुस्तक के रूप में प्रचरित है); व्यासकृत **उत्तरमीमांसा** या **वेदान्तदर्शन** या **शारीरक सूत्र** (या ब्रह्मसूत्र) जैमिनि, बौद्धायन आदि के भाष्य ।

दस वैदिक **उपनिषदे** हैं, जिनके नाम ये हैं : **ईश, केन, कठ प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, छान्द्रोग्य** और **वृहदारण्यक** । इनमें ईश उपनिषद् यजुर्वेद का ही अन्तिम अध्याय है । छान्द्रोग्य तथा वृहदारण्यक ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों के ही अंश हैं ।

प्रत्येक वेद का एक-एक भाष्य है । ऋग्वेद का **ऐतरेय,** यजुर्वेद का **शतपथ** और सामवेद का **साम** और अथर्ववेद का **गोपथ** । इन्हें **ब्राह्मण** भी कहते हैं । इनके अतिरिक्त कर्मकाण्ड पर अनेक मुनियों के लिखे **गृह्यसूत्र** और **कल्पसूत्र** भी प्रसिद्ध हैं । विशेष कर लोक—व्यवहार सरल भाषा में सिखाने के लिये स्मृतियों का निर्माण हुआ । इनमें **मनुस्मृति** और **याज्ञवल्क्य** स्मृति प्रसिद्ध है ।

आयुर्वेदस्याथर्ववेदाङ्गत्वम्

ऊपर सुश्रुत के मत से लिखा ही है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है । चरक भी लिखता है—

तत्र चेत्प्रष्टारः स्युः, चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानां कं वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः-—

—च० सू० ३०।२००

तथा म्रियमाण देखा । उनको (इस स्थिति में) देख, उनके दुःख से दुःखित अति दयालु शेषनाग ने उनके रोगों के निवारण का उपाय विचारा । विचार कर वे स्वयं प्रसिद्ध, विशुद्ध, तथा वेदवेदाङ्ग के पण्डित एक मुनि के घर पुत्र-रूप में अवतीर्ण हुए ।

—अतः शेष भगवान् चर (गुप्तचर) के रूप में आए थे और अतएव किसी से पहचाने नहीं गए इसी से वे भूमण्डल पर चरक के नाम से विख्यात हुए । अमरपुरी में जैसे वेदाचार्य (बृहस्पति, देवगुरु) भूषित हैं वैसे शेषनाग के अंशावतार चरकाचार्य, जिन्होंने रोगों का ध्वंस किया, पृथ्वीलोक में भूषित हैं ।

—अत्रिपुत्र के अग्निवेश-प्रभृति अनेक मुनि शिष्य थे । उन्होंने अपना-अपना तन्त्र बनाया था । उनके तन्त्रों से समाहरण (संकलन, दोहन) कर और उनका संस्कार कर चरक ने अपने नाम से यह चरक-संहिता ग्रन्थ रचा ।

—नाम, कोई पूछे कि आयुर्वेद के विद्वान् ऋक् साम, यजुष् और अथर्व इन चार में किस वेद का उपदेश (अपने मूल वेद के रूप में) करते हैं ? तो--

तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादृश्या । वेदोऽह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनबलिमंगलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह । चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते ॥

—च० सू० ३०।२१

—ऐसा पूछने पर वैद्य को ऋक् यजु, साम और अथर्व इन चार वेदों में अपनी भक्ति अथर्ववेद के प्रति दिखानी चाहिये । कारण, अथर्ववेद में दान, **स्वस्त्ययन**, बलि, मंङ्गल, होम, नियम, प्रायश्चित, उपवास, मन्त्र आदि के प्रतिपादन के रूप में चिकित्सा का उपदेश किया है और चिकित्सा आयु के हित के निमित्त ही होती है ।

अथर्ववेद में इन विषयों के अतिरिक्त औषधों का भी निरूपण विशेष प्रमाण में किया है । चारों वेदों में चिकित्सा-विषय के उदाहरणों का अच्छा संग्रह **राजगुरु** हेमराज शर्मा जी ने अपने काश्यप-संहिता के उपोद्घात में किया है । वह जिज्ञासुओं को अवश्य देखना चाहिए ।

प्रसंगवश एक और बात । वैदिक विद्वान् कहते हैं कि प्रचलित निघण्टु में उन्हीं वैदिक-शब्दों का संग्रह किया है जो वैदिक देवताओं के समझने में सहायक हों । इसी पद्धति पर अथर्ववेद से केवल चिकित्सोपयुक्त द्रव्यों का समुच्चय कर प्राचीन काल में अन्य भी एक निघण्टु बनाया गया था, जो अब कालग्रस्त हो गया । पीछे से आयुर्वेदीय संहिताओं से चिकित्सोपयुक्त द्रव्यों का संग्रह कर उनके गुण-धर्म-निर्देश-विषयक ग्रन्थों की रचना की गयी । इन्हें भी क्रमागत निघण्टु नाम ही दिया गया । वैदिक शब्दों के लिये प्रख्यात निघण्टु शब्द के आयुर्वेद में प्रवेश का यह पूर्वेतिहास है ।

शेषनाग के इस अवतार-कृत्य पर आज का समाज कदाचित् विश्वास न करे । संभव है, आत्रेय-संप्रदाय के वैद्य पृथ्वी पर यत-तत्र विचरण करते हुये चिकित्सा करते होंगे, अतः उन्हें चरक नाम दिया गया हो । स्वयं चरक-संहिता में महर्षि का इसी प्रकार स्थान-स्थान पर शिष्यों-समेत भ्रमण करने का वृतान्त आता भी है । प्राचीन इतिहास में वस्तुतः ऐसे ही एक चरक नामक भिक्षु संप्रदाय का उल्लेख भी है । चिकित्सा के लिये प्रसिद्ध उपचार शब्द, शुश्रूषा के लिये परिचर्या शब्द तथा औषध-प्रदान के लिये अवचारण (डिस्पेन्सिंग) शब्द आयुर्वेद में प्रसिद्ध हैं (इतर वाङ्मय में भी) । ये सब चर धातु से ही बने हैं । यह भी इसी बात का गमक है कि प्राचीन चिकित्सक विचरण करते हुये ही चिकित्सा-कर्म करते होंगे । आजतक भी ऐसे कार्य—चकित्सक ही नहीं, प्राचीन पद्धति से शल्य-शालाक्यवेत्ता भी ग्राम-ग्राम में विचरण करते हुये ही चिकित्सा-कर्म करते देखे जाते हैं ।

सु० सू० ५।१७ में शस्त्रनिपात के लिए "आचार्य" यह चार धातु का ही शब्द आया है । च० वि० ८।१३ में चिकित्सा-व्यवसाय के लिये **प्रविचरण** शब्द ही अनेक बार व्यवहृत हुआ है ।

यह भी संभव है कि, नाग नाम से प्रसिद्ध प्राचीन जाति के शेष-संज्ञक किसी विद्वान् ने ही चरक-संहिता का प्रतिसंस्कार किया हो ।

वैद्यों में प्रसिद्ध है कि शेषनाग के अंशावतार-भूत एक ही व्यक्ति ने चरक नाम से अग्निवेश-संहिता का प्रतिसंस्कार किया तथा पतञ्जलि नाम से योग-सूत्र लिखे एवं पांणिनीय व्याकरण पर महाभाष्य लिखा । इस विषय पर एक वचन ऊपर भावमिश्र के नाम से दिया है । एक अन्य प्रसिद्ध पद्य दिया जाता है ।

योगेन चित्तस्य, पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलि प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।

--योगवार्तिक में **विज्ञानभिक्षु**

—जिन मुनि-प्रवर पतञ्जलि ने योग-दर्शन द्वारा (योगदर्शन रचकर) चित्त के मल को, पद (व्याकरण=व्याकरण महाभाष्य) द्वारा (अशुद्ध शब्दों के रूप में) वाणी के मल को एवं वैद्यक (अग्निवेश-संहिता के प्रतिसंस्कार) के द्वारा शरीर के मल को (कुपित दोषों को) दूर किया, उनको अञ्जलि-बद्ध प्रणाम करता हूँ ।

इस विषय में कश्मीर के राजा जयद्रथ-रचित हरचरितचिन्तामणि, चरक के टीकाकार चरक-चतुरानन चक्रपाणि, पातञ्जलिसूत्रवृत्तिकार भोज, मञ्जूषाकार नागेशभट्ट एवं रामभद्र दीक्षित-रचित पतञ्जलि चरित आदि से भी वचन उद्धृत किये जाते हैं ।

कई विद्वान् इस मत को नहीं मानते । वे ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित कर कहते हैं कि—कुशानवंशीय महाराज कनिष्क का चरक नामक राजवैद्य था । वही अग्निवेश-तंत्र का प्रतिसंस्कर्ता है । प्रसिद्ध कवि अश्वघोष तथा सुश्रुत का प्रतिसंस्कर्ता नागार्जुन भी इस राजा के राजपिण्ड थे । पतञ्जलि को प्रतिसंस्कर्ता माननेवालों के मत से प्रतिसंस्कार का काल आज से कोई इक्कीस सौ वर्ष पूर्व तथा कनिष्क के राजवैद्य चरक को प्रतिसंस्कर्ता माननेवालों के मत से यह काल कनिष्क का ही काल, नाम आज से कोई साढ़े अठारह हजार वर्ष पूर्व माना जाता है ।

अष्टाङ्गहृदयकार वाग्भट ने अनेक वचन दृढ़बल-पूरित चरक-संहिता से लिये हैं । वाग्भट के शिष्य जेज्झट ने भी अपनी चरक की टीका दृढ़बल-संपूरित अंशों पर भी की है । वाग्भट का काल ईसा की छठी शती माना जाता है । वकी काल जेज्झट का भी होना चाहिये । अतः दृढ़बल इन कम से कम दो शती पूर्व—ईसा की चतुर्थ शती में हुआ—ऐसा अनुमान किया जाता है ।

चरक-संहितायाः फलश्रुतिः

इत्यध्यायशतं विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम् ।
हितार्थं प्राणिनां प्रोक्तमग्निवेशेन धीमता ॥
दीर्घमायुर्यशः स्वास्थ्यं त्रिवर्गं चापि पुष्कलम् ।
सिद्धिं चानुत्तमां लोके प्राप्नोति विधिना पठन् ॥
एकस्मिन्नपि यस्येह शास्त्रे लब्धास्पदा मतिः ।
स शास्त्रमन्यदप्याशु युक्तिज्ञत्वात्प्रपद्यते ॥
यस्य द्वादशसाहस्त्री हृदि तिष्ठति संहिता ।
सोऽर्थज्ञः स विचारज्ञश्चिकित्साकुशलश्च सः ॥
रोगांस्तेषां चिकित्सां च स किमर्थं न बुध्यते ।
चिकित्सावहिनुवेशस्य सुस्थातुरहितं प्रति ॥
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ।
इदमखिलमधीत्य सम्यगर्थान्,
विमृशति योऽविमनाः प्रयोगनित्यः ।
स मनुजसुखजीवितप्रदाता,
भवति धृतिस्मृतिबुद्धिधर्मबुद्धः ॥ —च० वि० १२।६१-६२, ७४, ७८-८१

अत्रिपुत्र मुनि का एक सौ बीस अध्याय रूप वाङ्मय बुद्धिमान अग्निवेश ने प्राणियों के हितार्थ उपनिबद्ध किया है ।

—विधि-सहित (निर्दिष्ट पद्धति से एवं अनुष्ठान के साथ) इसका पाठ करता हुआ पुरुष इस लोक में दीर्घ आयु, यश, स्वास्थ्य, पुष्कल त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) एवं सर्वोत्तम सिद्ध को प्राप्त करता है ।

—जिसकी बुद्धि इस एक भी शास्त्र में (ग्रन्थ में) लब्धप्रतिष्ठ है वह युक्तिज्ञ (तन्त्रयुक्तियों को जानने वाला)[1] होने से अन्य भी शास्त्रों को शीघ्र समझ लेता है ।

—जो पुरुष इस समग्र तन्त्र को पढ़कर उसके अर्थों का सम्यक् विचार करता है एवं दृढ़ मन से नित्य (तदनुरूप) अनुष्ठान करता है वह मानवों को सुख (आरोग्य) और जीवन को देने वाला तथा प्रवृद्ध धृति (संयम व धारण-शक्ति), स्मृति, बुद्धि और धर्म से संयुक्त होता है ।

—यह द्वादश सहस्र वचनों वाली संहिता जिसके अन्तःकरण में स्थित है, वही अर्थज्ञ है, वही विचारज्ञ है और वही चिकित्सा में कुशल है । वह भला रोगों और उनकी चिकित्सा को क्यों न समझे ? कारण, स्वस्थ और आतुर (रोगी) पुरुषों के हितार्थ अग्निवेश द्वारा कही गयी यह चिकित्सा (तन्त्र) ही ऐसी है कि—इसमें जो कहा है । वही अन्यत्र कहा गया है, और इसमें जो नहीं कहा गया है, वह अन्यत्र भी कहीं नहीं कहा गया है ।

चरक-संहितायाः प्राचीना अर्वाचीनाश्च टीकाः

चरक की संपूर्ण और प्रसिद्ध टीका वङ्गीय वैद्य **चक्रपाणिदत्त** विरचित आयुर्वेददीपिका है । चक्रपाणि की सुश्रुत पर भी भानुमती नाम की अपूर्ण व्याख्या प्राप्त होती है । इसके अन्य दो ग्रन्थ चिकित्सा-संग्रह या चक्रदत्त-संग्रह (संक्षिप्त नाम चक्रदत्त) तथा द्रव्यगुण-संग्रह मुद्रित उपलब्ध है । चक्रपाणि का काल ईसा की ग्यारहवीं शती का मध्यभाग माना जाता है ।

चरक की अन्य प्राचीन टीकाएँ ये हैं—**भट्टारहरिचन्द्र** की चरकन्यास, **जेज्झट** की निरन्तरपदव्याख्या तथा **शिवदास सेन** की तत्वचन्द्रिका । ये सब अपूर्ण हैं । शिवदास सेन की चक्रदत्त तथा द्रव्यगुणसंग्रह पर टीकाएँ भी प्राप्त होतीं हैं । अर्वाचीन टीकाओं में **गङ्गाधर कविराज** की अल्पकल्पतरु संपूर्ण चरक पर, **योगीन्द्रनाथ सेन** की चरकोपस्कार अपूर्ण तथा **ज्योतिषचन्द्र सरस्वती** की चरक प्रदीपिका नामक असंपूर्ण टीकाएँ उपलब्ध होती हैं ।

१—किसी तन्त्र को समझने में सहायक संज्ञाओं तथा परिभाषाओं को **तन्त्रयुक्ति** या **युक्ति** कहा जाता है ।

हिन्दी में **जयदेव विद्यालंकार** तथा **अत्रिदेव विद्यालंकार** की टीकाएँ कई **खण्डों** में प्राप्त होती हैं ।

हाल ही में प्रसिद्ध आयुर्वेदोपासक **डॉ० प्राणजीवनदास मेहता** की अध्यक्षता में जामनगर की गुलाबकुँवरवा आयुर्वेदिक सोसायटी ने अंग्रेजी, हिन्दी और गुजराती में चरक की टीका छ खण्डों में प्रकाशित की है । यह सचित्र है । प्रथम खण्ड विस्तृत उपोद्घात के रूप में है ।

अथ सुश्रुत-संहिताया अवतरणम्

अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशिराजं दिवो-दासधन्वन्तरिमौपधे नववैतरणोरभ्रपौष्कलावतरकरवीर्य (र) गोपुररक्षित-सुश्रुप्र-प्रभृतय ऊचुः ॥[1]— —सु० सू० १।३

—(पूर्व जन्म में समुद्र-मन्थन के समय चतुर्दश रत्नों में एक रत्न के रूप में देवों के हितार्थ अमृत-कलश हाथ में लेकर समुद्र से आविर्भूत होने के कारण) देवों में श्रेष्ठ; देवर्षियों, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों से परिवेष्टित, वानप्रस्थाश्रम में स्थित, काशिराज धन्वन्तरि[2] दिवोदास को (प्राप्त हो) औषधेनव, वैतरण, उरभ्र, पौष्कलावत करवीर्य (र), गोपुररक्षित, सुश्रुत प्रभृति बोले ।—

भगवन् शारीरमानसागन्तुभिर्व्याधिभिर्विविधवेदनाभिघातोपद्रुतान् सनाथानप्यनाथवद्विचेष्टमानान् विक्रोशतश्च मानवानभिसमीक्ष्य मनसि नः पीड़ा भवति तेषां सुखैषिणां रोगोपशमार्थमात्मनश्च प्राणयात्रार्थं प्रजाहितहेतोरायुर्वेदं श्रोतुमिच्छाम इहोपदिश्यमानम् । अत्रायत्तमैहिकमामुष्मिकं च श्रेयः । तद्भगवन्तुपपन्नाः स्मः शिष्यत्वेनेति ॥ —सु० सू० १।४

x x तत्र शरीरा वातादिवैषम्यनिमित्ताः । मानसा रजस्तम :— संभूताः । आगन्तवो व्याघ्रादिकृताः शस्त्रादिकृताश्च ॥ —डल्हन

१—**अथेति मङ्गलार्थः । सत्तु श्रोतृव्याख्यात्रोः क्रियाफलसिद्धि कथयति । खलु वाक्य-शोभार्थः—डल्हन** । —अथ (और अथो) शब्द मङ्गलार्थ प्रयुक्त होते हैं । इनसे श्रोता और व्याख्याता दोनों के प्रयत्न की सिद्धि सूचित होती है । 'खलु' पद वाक्य की शोभा के लिए आता है ।

धन्वन्तरि शब्द की निरुक्ति

२—**धनुः शल्यशास्त्रं, तस्य अन्तं पारम् इयर्ति गच्छतीति धन्वन्तरिः —डल्हन**

'धनुः' शब्द (शस्त्र-विशेष तथा उसके साहचर्य से) शल्ययंत्र का वाचक है । उसके अन्त नाम पार को प्राप्त हुए, अतः धन्वन्तरि कहाए, धनुस्+अन्त+ऋ गतौ धातु से यह शब्द व्युत्पन्न हुआ है ।

—भगवन वात्, पित्त और कफ इन शारीर दोषों के वैषस्य (वृद्धि या क्षय) के कारण हुये **शारीर रोगों**, रज और तम इन मानस दोषों के[1] कारण हुये **मानस रोगों**; शस्त्रास्त्र या पशु आदि ब्राह्य हेतुओं से हुये **आगन्तु रोगों** (तथा क्षुधा-पिपासा-जरा प्रभृति **स्वाभाविक** रोगों) के कारण हुई विविध वेदनाओं के प्रहार से पीड़ित, (उपयुक्त चिकित्सा के अभाव में) सनाथ होते हुये भी अनाथवत् विचेष्टमान (चेष्टा करते हुये), आर्तनाद करते मानवों को देख हमारे अन्तःकरण में व्यथा होती है । सुखाभिलाषी मानवों के रोगापनयनार्थ तथा अपनी प्राणयात्रा के लिये — इस प्रकार संपूर्ण प्रजा की हितकाम्यावश—आयुर्वेद का उपदेश सुनने की हमारी इच्छा है । ऐहिक और पारलौकिक कल्याण इस आयुर्वेद पर ही अवलम्बित है । इस हेतु शिष्यभाव से हम भगवन् की (आप की) सेवा में उपस्थित हुए हैं ।

तानुवाच भगवान्-स्वागतं वः । सर्व एवामीमांस्या अध्याप्याश्च भवन्तो वत्साः ।।

—सु० सू० १।५

—भगवान् धन्वन्तरि उन्हें बोले--तुम्हारा शुभागमन हुआ । तुम सभी वत्सो (उच्च कुलादि लक्षणाविन्त होने से) अविचारणीय और अध्यापनीय हो ।

इसके अनन्तर धन्वन्तरि ने पूर्वोद्‌धृत प्रकार से आयुर्वेद के आठ अङ्गों का नामतः एवं लक्षणतः निर्देश कर कहा--

एवमयमायुर्वेदोऽष्टाङ् उच्यते । अत्र कस्मै किमुच्यतामिति ।।

—सु० सू० १।६

—इस प्रकार यह आयुर्वेद अष्टाङ (आठ अङ्गों वाला) कहा जाता है । इनमें किस अङ्ग का उपदेश किस शिष्य को किया जाए ?

त ऊचुः—अस्माकं सर्वेषामेव शल्यज्ञानं मूलं कृत्वोपदिशतु भगवानिति ।।

स उवाचैवमस्त्विति ।। —सु० सू० १।१०।११

१—यद्यपि वातादि शरीर तथा रज-तम इन मानस दोषों के अत्यन्त उपयोगी प्राकृत कर्म भी हैं, अतएव उन्हें धातु भी कहा जाता है; तथापि इनके लिये दोष शब्द ही शास्त्र और लोक में प्रसिद्ध है । कारण, अन्त को इस सारे शास्त्र का पर्यवसान रोगों के निदान-लक्षण-चिकित्सा में ही हो जाने से वातादि का दूषणात्मक स्वभाव (दृष्टि-कर्तृत्व) ही विशेष स्मरणीय है । चिकित्सक के पास स्वस्थ पुरुष तो आते नहीं, रुग्ण ही पुरुण आते हैं न ? आचार्यों की क्रियात्मक दृष्टि से सब वस्तुओं के दर्शन की यह पद्धति विद्यार्थी को सदा ध्यान में रखनी चाहिये ।

मानस दोषों में सत्व की गणना नहीं की है । वह केवल सत्कर्म ही करता है, किसी प्रकार की दुष्टि उनकी वुद्धि से नहीं होती ।

—वे बोले—हम सभी को शल्यशास्त्र-विषयक ज्ञान को मूल (मुख्य) रखते हुये भगवान् आयुर्वेद का उपदेश करें । धन्वन्तरि बोले—ऐसा ही हो ।

त ऊचुर्भूयोऽपि भगवन्तम्—अस्माकमेकमतीनां मतमभिसमीक्ष्य सुश्रुतो भगवन्तं प्रक्ष्यति । अस्मै चोपदिश्यमानं वयमप्युपधारयिष्यामः ॥

स उवाचैवमस्तिवति ॥ —सु० सू० १।१२-१३

—वे (शिष्य) पुनरपि भगवान् को बोले—एकमत हम लोगों का जान कर सुश्रुत भगवान् को प्रश्न किया करेगा । इसे (संबोधन कर) आप जो उपदेश (व्याख्यान) देगें उसे हम भी ग्रहण करेंगे । धन्वन्तरि बोले—अच्छा, ऐसा ही हो ।

वत्स सुश्रुत, इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च । —सु० सू० १।१४

वत्स सुश्रुत, आयुर्वेद का प्रयोजन (लक्ष्य) है—रोग से पीड़ित पुरुषों का रोग से विमोचन, तथा स्वस्थों के स्वास्थ का संरक्षण । (रोग शब्द से यहाँ विषम हुए वातादि शारीर-मानस दोष, उनके कार्यभूत ज्वरादि तथा रोगादि दुःखों का ग्रहण है । स्वास्थ्यसंरक्षण में रसायनों के सेवन द्वारा आयु के उत्कर्ष का भी अवरोध (ग्रहण) है । इसके पश्चात् आयुर्वेद की पूर्वकथित व्युत्पत्ति बता श्री भगवान बोले ।

तस्याङ्गवरमाद्यं प्रत्यक्षागमानुमानोपमानैरविरुद्धमुच्यमानमुपधारय ॥

—सु० सू० १।१५

—इस आयुर्वेद के श्रेष्ठ तथा प्रथम अङ्ग शल्यतन्त्र का उपदेश प्रत्यक्ष, आगम (आप्त), अनुमान तथा उपमान इन चारों प्रमाणों से अविरुद्ध (इन से समर्थित स्वरूप में) करता हूँ । सुनो ।

एसदध्यङ्गं प्रथमम् । प्रागभिघातव्रणसंरोहाद्यज्ञःशिरःसंधानाच्च श्रूयते हि यथा—"रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति । ततो देवा अश्विनावभिगम्योचुः—'भगवन्तौ नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथः । भवदभ्यां यज्ञस्य शिरः संधातव्यमिति ।' तावुचतुरेवमस्तित्वति । अथ तयोरर्थे देवा इन्द्रं यज्ञभागेन प्रासादयन् । ताभ्यां यज्ञस्य शिरः संहितम्" इति ॥ —सु० सू० १।१७

—प्रथम (शारीर रोग उत्पन्न होने के भी पूर्व देवासुर-संग्राम के प्रसंग में) अभिघात जन्य व्रणों का रोपण करने वाला होने से[1] एवं यज्ञ के छिन्न शिर का

१—पुराण-वर्णित संजीवनी-विद्या कईयों के मत में यह शल्यशास्त्र ही था । इसका विकास प्रथम असुरों में हुआ । उनसे सीखने के लिये देवों ने अपने गुरू बृहस्पति के पुत्र कच को असुरों के गुरू शुक्राचार्य के पास भेजा था ।

संधान करने वाला होने से (आयुर्वेद के आठ अङ्गों में) यह शल्यतन्त्र ही प्रथम और मुख्य है । सुना भी जाता है—"रुद्र ने पूर्वकाल में यज्ञ का शिर काट डाला था । इस पर देव अश्वियों (अश्विनीकुमारों) के पास जा बोले—भगवान् अश्विदेवो, आप दोनों हममें श्रेष्ठ होगे (श्रेष्ठ पदवी प्राप्त करोगे) । आप यज्ञ के शिर का संधान करिए । (उसे जोड़ दीजिए) । वे बोले—ऐसा ही होगा । इसके अनन्तर उन (अश्विदेवों) के लिये देवों ने इन्द्र को यज्ञभाग से (यज्ञ भाग देने के लिए) मना लिया । उन्होंने यज्ञ का शिर जोड़ दिया ।

भगवान् धन्वन्तरि पुनः बोले-—

अष्टास्वपि चातुर्वेदन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतम्—आशुक्रियाकरणा— ।

यन्त्र[1] शस्त्र[2] क्षाराग्निप्रणिधानात् सर्वतन्त्रसामान्याच्च ॥ —सु० सू० १।१८

—आयुर्वेद के आठों तन्त्रों (अङ्गों) में शीघ्र क्रियाकारी होने से यन्त्र; शास्त्र; क्षार, तथा अग्नि के व्यवहार के कारण एवं शेष तन्त्रों में जो विषय आया है वह इसमें भी समान होने से (इस शल्यतन्त्र में भी निर्दिष्ट होने से) यही अधिक **अभिमत** (सर्वप्रिय) है । अतएव—

तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरं चेति ।

—सु० सू० १।१६

—यह शल्यशास्त्र सनातन, पुण्य, स्वर्गदाता, यशःप्रद, आयु के लिये हितकारी और उसका वर्धक अथ च निर्बाहकर है ।

ब्राह्मा प्रोवाच । ततः प्रजापतिरधिजगे । तस्मादश्विनी । अश्विभ्यामिन्द्राः इन्द्रादहम् । मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः ॥ —सु० सू० १।२०

—इसका प्रथम उपदेश ब्रह्मा ने किया । उनसे दक्ष प्रजापति ने पढ़ा । उनसे अश्विनीकुमारों ने, उनसे इन्द्र ने और मैंने प्रजा की हितकामना से इसके अभिलाषियों को (मर्त्यलोक में) मुझे इसे देना है ।

भवति चात्र—

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम् ।

शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम् ॥ —सु० सू० १।२१

—कहा भी है— देवों के वार्धक्य, व्याधियों और मृत्यु का नाश करने वाला आदि देव मैं धन्वन्तरि आयुर्वेद के इतर अङ्गों-सहित शल्यशास्त्र का भूलोक में पुनः उपदेश करने के लिये अवतीर्ण हुआ हूँ ।

१—विकृत अवयवों के दर्शन आदि के लिये जिन साधनों का उपयोग होता है उन्हें यंत्र कहते हैं; यथा—अर्शो को देखने के लिये अर्शोयन्त्र (**Proctoscope**-प्राक्टोस्कोप) ।

२—छेदन-भेदनादि के लिये जिन साधनों का व्यवहार होता है, उन्हें **शस्त्र** कहते हैं; यथा—जलोदर में प्रस्रावण (जल-निर्हरण) के लिये ब्रीहिमुख (**Trocar** ट्रोकार) ।

वैद्यों में आज भी समारम्भों में धन्वन्तरि के ही जयकार, पत्र-व्यवहार आदि में भी उनको ही नमन आदि को देखते धन्वन्तरि को वैद्य-समाज में प्रमुखता सिद्ध ही है। यदि हमें उनको प्रणाम, उनके जयकार आदि को यथार्थ रूप देना हो तो उपेक्षित और लुप्तप्राय शल्य-शालाक्य तन्त्रों को पुनःप्रतिष्ठित करना चाहिये कारण, जैसा कि श्री भगवान् ने गीता में कहा है—अपने कर्मों के आचरण द्वारा आराध्य व्यक्ति की अर्चना करके ही हम वास्तविक सिद्ध प्राप्त कर सकते हैं; केवल नाम-स्मरणादि से नहीं। देखिए-—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

सुश्रुत-संहितायाः संविभागः

तच्च सविंशमध्यायशतं पञ्जासु स्थानेषु । तत्र सूत्र-निदान-शारीर-चिकित्सित-कल्पेष्वर्थवशात् संविभज्योतरे तन्त्रे शेषानर्थान् वक्ष्यामः ॥ —सु० सू० १।४०

सुश्रुत संहिता में (उत्तर-तन्त्र के अतिरिक्त) पाँच स्थान हैं, जिसमें एक सौ बीस अध्याय हैं। अर्थ (विषय) के भेद से संहिता के प्रतिपाद्य को सूत्रस्थान निदानस्थान, शारीरस्थान, चिकित्सितस्थान और कल्पस्थान इन पाँच स्थानों में विभक्त कर शेष वक्तव्य विषय को उत्तरतन्त्र में कहेंगे।

प्रागभिहितं सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु । तत्र सूत्रस्थानमध्यायाः षट्चत्वारिंशत् षोडश निदानानि, दश शारीराणि, चत्वारिंशच्चिकित्सितानि, अष्टौ कल्पाः । तदुत्तरं षट्षष्टिः ॥ —सु० सू० ३।३

—ऊपर कहा है कि, पाँच स्थानों में एक सौ बीस अध्याय हैं। इसमें सूत्रस्थान छियालीस अध्यायों का है, निदान सोलह का, शारीर दस का, चिकित्सास्थान चालीस का और कल्पस्थान आठ आध्यायों का है। इन एक सौ बीस अध्यायों के पश्चात् उत्तर तन्त्र छियासठ अध्यायों का है।

नवीन ग्रन्थलेखक संहिताओं से उद्धरण देते हुए ग्रन्थ के नाम तथा स्थान का उल्लेख उनके आद्यक्षर से करते हैं।

उपलब्ध सुश्रुत-संहिता का रचना काल आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व माना जाता है। सुश्रुत के प्रसिद्ध टीकाकार डल्हण ने लिखा है—**प्रतितंस्कर्ताऽपीह नागार्जुनः** ।

—नाम इस सुश्रुत-संहिता का प्रतिसंस्कार नागार्जुन ने किया है। परन्तु ऐतिहासिकों को सुश्रुत के प्रतिसंस्कार के विषय में शङ्का है।

सुश्रुत-संहितायाष्टीकाः

सुश्रुत पर डल्हन की टीका प्रसिद्ध है यह सम्पूर्ण उपलब्ध भी होती है। स्वयं टीकाकार ने आदि में ही लिखा है कि उसने जेज्झट, गयदास

(गयी), भास्कर, माधव, ब्रह्मदेव प्रभृति की लिखी प्राचीन टीकाओं का आश्रय लेकर अपनी सरल टीका लिखी है । इसी से इसका नाम भी उसने **निबन्ध-संग्रह** रखा है । गयदास की टीका के नाम न्यायचन्द्रिका, पञ्जिका आदि हैं । इसका केवल निदान-स्थान उपलब्ध हुआ है । प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थविक्रेता, निर्णय सागर, मुंबई ने वैद्यवर यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा संपादित करा डल्हण और गयी की टीकायुक्त सुश्रुत-संहिता छपाई है । चक्रपाणि-रचित भानुमती टीका केवल सूत्रस्थान पर प्राप्त होती है । यह भी हाल ही में प्रकाशित हुई है । डल्हण कोई ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ, ऐसा ऐतिहासिकों का मत है ।

वर्तमान टीकाओं में कविराज हराणचन्द्र सुश्रुत पर टीका मुद्रित प्राप्त होती है । नव्यमत के साथ तुलना आदि विषय समेत सुश्रुत का सुविस्तृत हिन्दी भाष्य डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकरजी का लिखा मुद्रित हुआ है । यह अत्यन्त उपयोगी है ।

अष्टाङ्गसंग्रहस्य निर्माणं तत्प्रयोजनञ्च

अष्टाङ्गसंग्रह के आदि में सूत्र स्थान के प्रथमाध्याय में आयुर्वेद के अवतरण का इतिहास देकर कर्ता ने अपने ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन अधोलिखित शब्दों में जताया है ।—

आयुः कामायमानेन धर्मार्थ सुखसाधनम् ।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

—धर्म, अर्थ और सुख (ऐहिक सुख=रति सुख प्रभृति इन्द्रियजन्य सुख तथा आमुष्मिक या पारलौकिक सुख=स्वर्गापवर्ग रूप) के साधन भूत आयु की कामना रखने वाले पुरुषों को आयुर्वेद के वचनों में परम आदर (प्रीति और प्रयत्न) रखना चाहिए ।

आयुर्वेदामृतं सार्थ ब्रह्मा बुद्ध्वा सनातनम् ।

ददौ दक्षाय सोऽश्विभ्यां तौ शतक्रतवे ततः ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां विघ्नकारिभिरामयैः ।

नरेषु पीड्यमानेषु पुरस्कृत्य पुनर्वसुम् ॥

धन्वन्तरिभरद्वाजनिमिकाश्यपकश्यपाः ॥

महर्षयो महात्मानस्तथाऽलम्बायनादयः ॥

शतक्रतुमुपाजग्मुः शरण्यममरेश्वरम् ।

तान्दृष्ट्वैव सहस्राक्षो निजगाद यथागमम् ।

आयुषः पालकं वेदमुपवेदमथर्वणः ।
कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषैः ॥
गतमष्टाङ्गतां पुण्यं बुबुधे यं पितामहः । —अ० सं० सू० १

—(सृष्ट्युत्पत्ति के पूर्व) ब्रह्मदेव ने शाश्वत (त्रिकालाबाधित) आयुर्वेदरूप अमृत को अर्थ समेत जान कर दक्ष प्रजापति को उसका उपदेश किया । उन्होंने अश्विनीकुमारों को और उन्होंने शतक्रतु (इन्द्र) को आयुर्वेद की शिक्षा दी । (एकदा) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधन में विघ्नकर्ता रोगों[१] से मानवों के पीड़ित होने पर धन्वन्तरि, भरद्वाज निमि[२] काश्यम, कश्यप, आलम्बायन आदि महात्मा महर्षि पुनर्वसु को आगे कर[३] शरणागत वत्सल, देवाधिप इन्द्र के आश्रय में गए । उनके दर्शन के साथ ही (मुलाकात के दिन से ही प्रारम्भ कर) इन्द्रदेव ने काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वाङ्ग, शल्य, दंष्ट्रा, जरा और वृषि इन (हेतुओं से) आठ अङ्गों[४] में विभक्त, अथर्ववेद के उपवेद, आयु के पालक वेद-आयुर्वेद को ब्रह्मदेव ने जैसा जाना था वैसा अप्तोपदेशानुसार सिखा दिया ।

१—यद्यपि पाणिनि-मत से 'अम रोग' (रोगार्थक अम) धातु से रोग-वाचक आमय शब्द व्युत्पन्न है तथापि आयुर्वेद-मत से आम नाम अपक्व रस से ही सर्व रोग उत्पन्न होने से आम शब्द से ही आमयपद की व्युत्पत्ति जाननी चाहिए । लङ्घनादि उपचारों से इस आम को पक्व कर जब तक विभिन्न मलद्वारों से बाहर न निकाल दिया जाय तब तक औषध भी गुण नहीं करता—अग्नि आम रस को पचाने में लगा होता है, अतः औषध को यह पचा नहीं पाता—सो आम में और वृद्धि ही होता है,—परिणाम में रोग भी सुतरां बढ़ता है । शरीर निराम हो जाए तभी सेवित औषध अमृत-तुल्य गुणकारी होता है । देखिए—

निरामदेहस्य हि भेषजानि भवन्ति युक्तान्यमृतोपमानि ॥

वररुचिकृत योगशतक

२—चरक-संहिता आदि प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों तथा उनकी टीकाओं में नाम तथा उद्धरणों के उल्लेख से विदित होता है कि—रामचन्द्र जी के श्वशुर राजा जनक के शालाक्य पर लिखे निमि-तन्त्र तथा विदेह-तन्त्र ये दो ग्रन्थ प्राचीन काल में उपलब्ध होते थे ।

३—धन्वन्तरि का उपदेश जैसे सुश्रुत को मुख्य शिष्य बनाकर ग्रहण किया गया, वैसे इन्द्र का उपदेश पुनर्वसु को आगे कर ग्रहण किया गया, यह आशय है ।

४—आठ अङ्ग यहाँ विषयों के नाम से बताए हैं । ऊर्ध्वाङ्ग से शालाक्य का निर्देश है । दंष्ट्रा (दाढ़) सविष प्राणियों की दाढ़ का वाचक है । यहाँ विष-मात्र का उपलक्षण है । वृष का अर्थ साँढ़ का होता है । उसके समान रतिसुख के आदान-प्रदान में समर्थ पुरुष को भी वृष कहा है । प्रसिद्ध वृष्य शब्द इसी वृष शब्द से बना है । अश्ववाचक वाजी शब्द का भी इसी अर्थ में व्यवहार हुआ है ।

गृहीत्वा ते माम्नायं प्रकाश्य च परस्परम् ।
आययुर्मानुषं लोकं मुदितां परमर्षयः ॥
स्थित्यर्थमायुर्वेदस्य तेऽथ तन्त्राणि चक्रिरे ।
कृत्वाऽग्निवेशहारीतभेडमाण्डव्यसुश्रुतान् ॥
करालादींश्च सच्छिष्यान् ग्राहयामासुरादृताः ।
स्ववं स्वं तन्त्रं ततस्तेऽपि चक्रुस्तानि कृतानि च ॥
गुरून् संश्रावयामासुः सर्षिसंघान् सुमेधसः ।
तैः प्रशस्तानि तान्येषां प्रतिष्ठां भुवि लेभिरे ॥

—अ० सं० सू० १

—उस वेद (आयुर्वेद) को ग्रहण कर (तथा उत्तम प्रकार से ग्रहण किया है या नहीं इत्यादि बातों की परीक्षा के लिए) परस्पर प्रकाशित कर (प्रवचन कर) वे परम् ऋषि मुदित-मन मानव-लोक (भारत) में आए ।

आयुर्वेद की स्थिति (ग्रन्थबद्ध होने से नष्ट न होने देने) के लिये उन्होंने (अपने-अपने) तन्त्र रचे । रचकर सप्रयत्न उन्होंने अग्निवेश, हारीत, भेड, माण्डव्य, सुश्रुत, कराल प्रभृति सच्छिष्यों को उनका बोध कराया । उन मेधावियों ने भी अपने-अपने तन्त्र बनाए और बना कर ऋषि-संघसमेत अपने गुरुओं को सुनाया । उनके द्वारा प्रशस्त (प्रशंसा किए गये) उनके तन्त्र (इस) पृथ्वी में प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए ।

तेषोमेकैकमव्यापि समस्तब्याधिसाधने ।
प्रतितन्त्राभियोगे तु पुरुषायुषसंक्षयः ॥
भवत्यध्यनेनैव यस्मात्प्रोक्तः पुनः पुनः ।
तन्त्रकारैः स एवाऽर्थः क्वचित्कश्चिद्विशेषतः ॥
तेऽर्थप्रत्यायनपरा वचने यच्च नादृताः । —अ० सं० सू० १

इन तन्त्रों के स्वाध्याय-प्रवचन (अध्ययनाध्यापन)—विषयक कठिनाइयों का उल्लेख कर अष्टाङ्ग-संग्रह के निर्माण की प्रयोजनवत्ता बताते संग्रहकार कहते हैं ।—

(इनमें प्रत्येक तन्त्र क्योंकि अष्टाङ्गायुर्वेद के केवल एक-एक अङ्ग का उपदेश करता है, इस कारण) उनमें एक-एक तन्त्र अकेला समस्त नाम आठों अङ्गों में मिलाकर निर्दिष्ट संपूर्ण व्याधियों का उपचार बताने के लिये उपयुक्त नहीं है । (संपूर्ण तन्त्र पढ़ कर समग्र व्याधियों के उपचार की जिज्ञासा किसी

को हो तो वह भी शक्य नहीं है । कारण), प्रत्येक तन्त्र के लिए पृथक् उद्योग किया जाए तो अध्ययनमात्र में पुरुष की संपूर्ण आयु का व्यय हो जाय (तदनुसार चिकित्सा देखने और करने का समय ही न मिले । अपरं च), प्रत्येक तन्त्रकार ने अपने तन्त्र (संहिता) में (प्रायः) वही बात कही है, जो अन्य तन्त्रकारों ने (प्रकरण-वश) अपने-अपने तन्त्रों में कही है । इस प्रकार अत्यधिक पुनरुक्ति तन्त्रों में हुई है । कहीं कुछ विशेष बात कही है । तन्त्र-रचना में अर्थ (प्रतिपाद्य विषय) के विषद करने वाले वचन भी ग्रन्थबद्ध नहीं किए गये हैं । अतः—

सर्वतन्त्राण्यतः प्रायः संहृत्याष्टाङ्गसंग्रहः ।
अस्थानविस्तराक्षेपपुनरुक्तादि वर्जितः ।।
हेतुलिङ्गौषधस्कन्धत्रयमात्रनिबन्धनः ।
विनिगूढार्थतत्त्वानां प्रदेशानां प्रकाशकः ।।
स्वान्यतन्त्रविरोधानां भूयिष्ठं विनिवर्त्तकः ।
युगानुरूपसंदर्भो विभागेन करिष्यते ।।
नित्योपयोगेऽदुर्बोध सर्वाङ्गव्यापि भावतः ।
संगृहीतं विशेषेण यत्र कायचिकित्सितम् ।।
न मात्रामात्रमप्यत्र किंचिदागमवर्जितम् ।
तेऽर्थाः स ग्रन्थबन्धश्च संक्षेपाय क्रमोऽन्यथा ।। —अ० सं० सू० १

—प्रायः सर्व तन्त्रों से संग्रह कर,[१] अस्थान-विस्तर (अनावश्यक स्थलों पर विस्तृत विवेचन), आक्षेप, पुनरुक्ति, आदि दोषों से रहित; रोगों के हेतु (निदान), लिङ्ग (लक्षण) और औषध इन तीन आयुर्वेद के स्कन्धों का ही ग्रन्थन करने वाला; जिन प्रदेशों में प्रतिपाद्य विषय का तत्त्व अस्पष्ट है उनकी व्याख्या करने वाला; अपने और अन्य तन्त्रों में आये विरोध का प्रायः परिहार करने वाला, नित्य उपयोग में जो दुर्बोध न हो ऐसा, अर्थतः समस्त अङ्गों को व्याप्त करने वाला (अपने में समाविष्ट कर लेने वाला), आठों अङ्गों में भी काय-चिकित्सा का जिसमें विशेषतः संग्रह किया है, ऐसा[२] यह अष्टाङ्ग-संग्रह

१—इन वचनों को देखते कल्पना होती है कि, संग्रहकार के समय में ये सब तन्त्र सुलभ थे । परमतासहिष्णु मुस्लिम आक्रान्ताओं का भारत में अभी प्रवेश नहीं हुआ था ।

२—काय चिकित्सा के इस संग्रह में प्राधान्य का अर्थ यह है कि, बौद्धों और जैनों के प्रचार-प्रसार के कारण शेष अङ्गों में मुख्य शल्यतन्त्र तथा अंशतः अन्य तन्त्रों का भी उस काल का लोप होने लगा था ।

नामक **युगानुरूप** (नये काल की परिस्थिति के अनुसार) संदर्भ ग्रन्थ नया विभाग करके बनाया है ।

—इसमें एक मात्रा भी अनाप्य (प्राचीन उपदेशों से विपरीत) नहीं है । वही विषय है, वही ग्रन्थ-रचना का प्रकार है, केवल संक्षेप को लक्ष्य में रखकर क्रम नया रखा गया है ।

तन्त्रस्यास्य परं चातो वक्ष्यतेऽध्यायसंग्रहः ॥ —अ० सं० सू० १

—इस तन्त्र के अध्यायों का विवरण अधोलिखित है ।—इससे चालीस अध्यायों का सूत्र-स्थान, बारह अध्यायों का शारीर, सोलह अध्यायों का निदान-स्थान, चौबीस अध्यायों का चिकित्सित स्थान, आठ अध्यायों का कल्पसिद्धिस्थान और अन्त में पचास अध्यायों का उत्तरस्थान है ।

ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय देते तथा ग्रन्थ-रचना का प्रयोजन पुनः बताते ग्रन्थकार ने जो पद्य लिखे हैं, उनसे विदित होता है कि, इतने उदात्त उद्देश्य और प्रचण्ड कौशल से संग्रह की रचना होने पर भी ग्रन्थ को वह आदर नहीं मिला, जिसका वह पात्र था । देखिए ।—

आयुर्वेदं श्लोकलक्षेण पूर्वं
ब्राह्मं त्वासीदग्निवेशादयस्तु ।
कृच्छ्राज्ज्ञेयान्प्राप्तपारान् सुतन्त्रां—
स्तस्यैकैकं नैकधाङ्गानि तेनुः ॥

—अ० सं० सू० १

—आदि काल में ब्रह्मदेवकृत लक्ष-श्लोकात्मक आयुर्वेद था । पश्चात् अग्निवेशादि ने उसके अनेक अङ्गों के तन्त्र बनाए, जिनमें एक-एक अङ्ग का अन्त (पार) तक वर्णन था, तथापि जो (कालक्रमवश) दुर्बोध हो गए ।[1]

भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे
पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य ।
सुतोऽभवत्तस्य च सिंहगुप्त—
स्तस्याप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा ॥
समधिगम्य गुरोरवलोकिताद्—

१—पद्य में **शालिनी** छन्द है । वृत्तरत्नाकर में इसका लक्षण यह दिया है । **शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः**—-नाम, जिसमें मगण, तगण; और दो गुरु तथा समुद्र (चार) और लोक (सात) वर्णों के अनन्तर यति (विराम, हो, उसे **शालिनी** कहते हैं ।

गुरुतराच्च पितुः प्रतिभामयम् ।
सुबहुभेषजशास्त्रविलोकनात्
सुचरिताङ्गविभागसुनिश्चितः ॥

—अ० सं० उ० ५०

—वाग्भट नामक वैद्यवर मेरे पितामह थे । मैं भी उन्हीं का नामधारी हूँ । (नाम, मेरा नाम भी पिताने पितामह के नामानुसार वाग्भट ही रखा था)। उनके पुत्र सिंहगुप्त और उनका भी सिन्धु देश में उत्पन्न हुआ मैं (वाग्भट-नामक) पुत्र हूँ, जो अवलोकित[१] नाम के गुरु से तथा गुरु से भी श्रेष्ठ पिता (सिंहगुप्त) से प्रतिभा संपन्न ज्ञान प्राप्त कर के, एवं आयुर्वेद के अनेक तन्त्रों के अवलोकन (पाठ) के कारण तथा सम्यक् आचरित (क्रिया में लाये आठों) अङ्गों के कारण सुनिश्चित (दृढ़ आत्मविश्वासयुक्त) हो गया है ।

पूर्वोक्तमेव वदता किमिवोदितं स्या—
च्छ्द्धालुतुष्टिजननं न भवत्यपूर्वम् ।
संक्षिप्तसंशयितविस्तृतसंप्रकीर्ण—
कृत्स्नार्थराशिरित साधु स एव दुष्टः ॥

—अ० सं० उ० ५०

—पूर्वाचार्यों ने अपने-अपने तन्त्रों में जो कहा उसी का उपदेश करते हुए क्या (नवीन) बात कही (यह कल्पना की जा सकती है । कारण,) अपूर्व-नयी-(संहिता) श्रद्धालु पुरुषों को संतोष नहीं दे पाती, यदि वह (पूर्वाचार्यों के तन्त्रों के सदृश ही कई स्थानों पर) संक्षिप्त परन्तु (इस संक्षेप के कारण ही) संशयोत्पादक अर्थात् अस्पष्ट हो, और विस्तृत हो तो (अङ्गभेद से अनेक तन्त्रों में) बिखरी हुई हो । इस कारण, सब अङ्गों का अर्थ (अभिधेय, प्रतिपाद्य विषय) का संग्रहभूत यह ग्रन्थ (रचना) ही ठीक माना है । कारण,

आयुर्वेदोदधेः पारमपारस्य प्रयाति कः ।
विश्वव्याध्यौषधिज्ञानसारस्त्वेन —समर्थितः ॥

—अ० सं० उ० ५०

—अपार आयुर्वेद-रूप समुद्र का पार कौन पा सकता है ? (इसी विचार से) संपूर्ण व्याधियों और उनके औषधों के ज्ञान का सार यह (ग्रन्थ) संगृहीत किया है ।

१—दोनों वाग्भट बौद्ध होने के अनेक कारण प्रस्तुत किये जाते हैं । उनमें एक गुरु नाम अवलोकित होता है । यह नाम बौद्धों में ही होता है ।

प्रश्न हो सकता है कि—

स्मृत्वेदमुदितं पूर्व श्रुत्वेदानीं द्वयोः पुनः ।

स्मर्तुः श्रोतुश्च सुतरां श्रद्धातुं कस्य युज्यते ॥

—पूर्वाचार्योक्त तन्त्रों का स्मरण करके तथा अब इस (मेरे रचे तन्त्र) का श्रवण करके, स्मरण करने वाले और श्रवण करने वाले को (प्राचीन तन्त्रों और इस संग्रह-ग्रन्थ इन दोनों में) किस पर श्रद्धा करना योग्य है ? (आशय यह है कि दोनों की तुलना करके स्वयं ही इस संग्रह को युगानुरूप देख कर उसे मान देना उचित है । तथापि, इस उत्तर में पूर्वाचार्यों के प्रति किसी को अनादर की कल्पना हो, इस धारण से ग्रन्थकार पुनः कहते हैं—

अथवा भूतमप्येत स्मर्तुरेव क्रमागतम् ।

अभिधातृविशेषेण किं तथाऽपि प्रयोजनम् ॥

—अथवा यह मेरा तन्त्र कुछ नया नहीं है, यह भी भूत-पूर्वकालिक, पूर्वाचार्योक्त ही है; केवल स्मरण करने वाले को (मुझको) बाल-क्रम से प्राप्त हुआ है । (और इसे मैंने इन शब्दों में प्रस्तुत कर दिया है । इस प्रकार यह सत्य है कि वर्तमान रूप में इनका वक्ता मैं; हूँ पर केवल इसी कारण तो मेरे इन वचनों के प्रति तिरस्कार नहीं होना चाहिये । कारण, बात सत्य और हित हो तो उसमें) वक्ता कौन है इस बात की जिज्ञासा का क्या प्रयोजन होता है ? उसके लिये वक्ता विशेष होने की आवश्यकता नहीं है । तथा हि—

ऊर्ध्वमेति मदनं[1] त्रिवृताऽधो वस्तुमात्रक इति प्रतिपाद्ये ।

मद्विधो यदि वदेदथवाऽत्रिः कथ्यतां क इव कर्मणि भेदः ।

—किसी भी वैद्यकीय विषय की वस्तु के सम्बन्ध में इस प्रकार प्रतिपादन करना हो कि मदनफल ऊर्ध्वगति करता है (वमन कराता है) तथा त्रिवृत् (निशोथ) अधोगति करता है (विरेचक है) तो यह बात कोई मादृश (अप्रसिद्ध, नया) पुरुष कहे, चाहे अत्रि ऋषि कहें दोनों के कर्म से क्या भेद हो सकता है ? तात्पर्य, वक्ता कौन है, यह बात न देख कर उसने क्या कहा और कैसा कहा यही देखना चाहिये ।

१— चरक सूत्रस्थान, अ० २५ में ३७-४० प्रकरणों में अमुक-अमुक कार्य करने में श्रेष्ठ द्रव्यों की गणना की है । इनमें मदनफल तथा त्रिवृत् के लिये कहा है—**मदनफल वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम् । त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्**—वमन, आस्थापन और अनुवासन में उपयोगी द्रव्यों में मदनफल श्रेष्ठ है । सुखविरेचन (बिना व्यापति विरेचन वाले) द्रव्यों में त्रिवृत् श्रेष्ठ है ।

साध्वसाध्वितिविवेकवियुक्तो लोकपंक्तिकृतभक्तिविशेषः ।
बालिशो भवति, नो खलु विद्वान् सूक्त एव रमते मतिरस्य ।।

—मूर्ख मनुष्य ही वस्तु अच्छी है या बुरी इस बात के विवेक (परीक्षा, विश्लेषण) से रहित तथा (अमुक ही) लोक-समाज के प्रति विशेष भक्ति (रुचि) रखने वाला होता है । विद्वान् ऐसा नहीं होता । उसकी बुद्धि तो सुक्त (सद्वचन, गुणयुक्त बात) में ही आसक्त होती है-— उसे ही पसन्द करती है ।[1] (इतना होने पर भी कोई पूर्वग्रहयुक्त पुरुष सद्धाक्य को छोड़कर प्राचीन तन्त्रों पर ही श्रद्धा व्यक्त करे तो उसे अपने प्रयत्न का परिणाम शून्य दिखाता हुआ ग्रन्थकार कहता है)—

अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढमूढकः ।
पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विद ।।

—जो वज्रमूर्ख अभिनिवेश (पूर्वग्रह) के कारण दुणयुक्त वचनः (तन्त्र) में आस्था नहीं रखता (आर्ष ग्रन्थ ही पढ़ने चाहिए ऐसा मत रखता है) वह भले सारी आयु भर विरक्त— रहित हो (चोटी को खूँटी से बाँध कर) आदिम (ब्रह्मोक्त) आयुर्वेद का यत्नपूर्वक अध्ययन करे । (तब उसे स्वयं वस्तुस्थिति का भान हो जायेगा । जो ऋषि-प्रणीत्त ग्रन्थों का आग्रह रखते हैं, वे भी अमुक ही आर्ष ग्रन्थों को मान देते हैं, अन्यों को नहीं । इसीसे सिद्ध है कि मान का कारण ऋषि प्रणीत होना नहीं, उनकी गुणवत्ता ही है । दखिए—

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरक-सुश्रुतौ ।
भेडाद्याः किं न पठयन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम् ।।

ऋषि—प्रणीत ही ग्रन्थों के (स्वाध्याय-प्रवचन के) प्रति प्रीति हो तो कहो, चरक-सुश्रुत इन दो (आर्ष ग्रन्थों) को छोड़ अन्य भेल संहिता आदि को स्वीकार क्यों नहीं करते ? (स्पष्ट उत्तर यह है कि, वे उतने गुणवान् नहीं हैं ।) तात्पर्य, सद्वचन जिससे, जहाँ से मिले ग्रहण करना चाहिए (वक्ता को न देखना चाहिए) ।

१—इसी आशय का कालिदास का यह पद्य प्रसिद्ध है--

पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
न चापि काव्यं (सर्व) नवमित्यवद्यय् ।
सन्तः परीक्ष्याऽन्यतरद् भजन्ते,
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।

—प्राचीन वस्तु सभी प्राचीन है इसी कारण प्रशस्त नहीं होती और न ही नवीन वस्तु, सभी केवल नवीन होने से ग्रहणीय होती हैं । विवेकी (परीक्षक) परीक्षा कर के दोनों में एक को स्वीकार करते हैं, जब कि मूढ़ पुरुष अन्यों के विश्वास (संमति) से वाहित होता है ।

इति मुनिवचनानां जीवितोपाश्रयाणा-
मभिलषितसमृद्धौ कल्पवृक्षोपमानाम् ।
यदुदितमिह पुण्यं कुर्वतो मेऽनुवादं
भवतु विगतरोगो निर्वृतस्तेन लोकः ॥

—अ० सं० उ० ५०

—आयु से सम्बन्ध रखने वाले तथा अभिलषित वस्तु (चार पुरुषार्थों) की संपूर्ण सिद्धि के लिये कल्पवृक्षों के समान मुनि-वचनों का अनुवाद करते हुए जो पुण्य प्राप्त हुआ है उससे लोक रोग-रहित तथा चिन्ता-मुक्त हो ।

अष्टाङ्गहृदयस्य तन्त्रणं तद्वैशिष्ट्यञ्च

मानना पड़ेगा, भगवान् ने वाग्भट को वज्र के समान हृदय दिया था । आयुर्वेद के अगणित ग्रन्थों का पर्यालोचन, उनमें प्रतिपादित विषयों के नये क्रम का निर्धारण और उनका नवीन पदों में गुम्फन कितने अध्यवसाय का कार्य है, इसकी कल्पना ही की जा सकती है । उस पर कठिनाई यह हुई कि, केवल बौद्ध होने से उसके संग्रह को विद्वानों में मान न मिला । ऊपर दिए पद्यों से यह बात समझ में आएगी । परन्तु उसने धैर्य न छोड़ा । उसी दिशा में प्रयत्न करके अष्टाङ्ग-संग्रह को ही और संक्षिप्त कहीं-कहीं परिवर्धित, परन्तु अधिक सुन्दर और पद्यबद्ध करके संग्रह की अपेक्षया अधिक आकर्षक रूप में **अष्टाङ्गहृदय** नाम से वैद्य-समाज के समक्ष प्रस्तुत किया । वस्तुतः इसे अभिलषित मान मिला । चरक-सुश्रुतादि को छोड़ तब से आज-तक **अष्टाङ्गहृदय** का ही विशेष प्रचार आयुर्वेद के स्वाध्याय-प्रवचन में चला आया है । यह और बात है कि, पीछे से रसशास्त्र का उदय हो जाने से उसका भी सन्निवेश करने वाले तथा और भी संक्षिप्त ग्रन्थों भावप्रकाश, शार्ङ्गधर और माधवनिदान (लघुत्रयी) का प्रचार भी कहीं-कहीं हो गया ।

अस्तु । अब अष्टाङ्गहृदय के निर्माण का इतिहास देखिए :—

ब्रह्मा स्मृत्वाऽयुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत् ।
सोऽश्विनौ सौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन् ॥
तेऽग्निवेशादिकांस्ते तु पृथक् तन्त्राणि तेनिरे ।
तेऽभ्योऽतिविप्रकीर्णेभ्यः प्रायः सारतरोच्चयः ॥
क्रियतेष्टाङ्गहृदयं नातिसंक्षेपविस्तरम् ॥

—अ० हृ० सू० १।३-५

—(सर्गारम्भ में) ब्रह्मदेव ने आयु के (रक्षक) वेद—आयुर्वेद का स्मरण करके (आयुर्वेद का सिद्धान्त जो त्रिकालाबाधित और नित्य है, उसकी रचना नहीं, प्रत्युत पूर्वविद्यमान उसका स्मरण-मात्र करके) दक्ष प्रजापति को उसका बोध कराया। उन्होंने अश्वियों को, अश्वियों ने सहस्राक्ष इन्द्र को तथा उन्होंने आत्रेय, पुनर्वसु; धन्वन्तरि; निमि, काश्यप-प्रभृति मुनियों को उसका ज्ञान दिया। इन मुनियों ने भी अग्निवेश, भेड (ल), जतूकर्ण, पराशर, हारीत, और क्षारपाणि को आयुर्वेद का ग्रहण कराया। इन (शिष्यों) ने अपने-अपने नाम से पृथक् तन्त्र बनाए।

—(एक-एक तन्त्र में एक-एक ही अङ्ग का प्रतिपादन होने के कारण) अत्यन्त बिखरे हुए इन तन्त्रों से प्रायः अत्यन्त सारभूत वस्तु का ही एकत्र संचय करके न अति संक्षिप्त और न अति विस्तृत अष्टाङ्गहृदय-नामक ग्रन्थ की रचना की जाती है।

अष्टाङ्गहृदय के अन्त में पुनः ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन आदि बताते तन्त्रकार ललित पदों में कहते हैं :—

इति तन्त्रगुणैर्युक्तं तन्त्रदोषैर्विवर्जितम्।
चिकित्साशास्त्रमखिलं व्याप्य यत्परितः स्थितम्॥
विपुलामलविज्ञानमहामुनिमतानुगम्।
महासागरगम्भीरसंग्रहार्थोपलक्षणम्॥
अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन,
योऽष्टाङ्गसंग्रहमहामृतराशिराप्तः।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां,
प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्॥

—अ० हृ० उ० ४०।७८-८०

—तन्त्र (शास्त्र) के गुणों से (तन्त्रयुक्तियों से) युक्त, तन्त्र के दोषों से रहित, समस्त चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद के आठों अङ्गों) को सब ओर से व्याप्त (अन्तर्भुक्त, समाविष्ट) करने वाला; विपुल तथा निर्मल ज्ञान वाले महामुनियों के मत का अनुसरण करने वाला; महासागर के समान गम्भीर अष्टाङ्ग-संग्रह में प्रवेश का द्वारभूत एवं अष्टाङ्ग-आयुर्वेद रूप महासमुद्र का मन्थन कर जो अष्टाङ्संग्रह रूप महान् अमृतराशि प्राप्त हुआ है उसी से (संग्रहीत कर, उस अष्टाङ्संग्रह की तुलना में) अनल्प परिणाम (आयुर्वेद का ज्ञान आदि) वाला, अपरंच अल्पपरिश्रमशील छात्रों की प्रीति के लिये (उनके हितार्थ) यह पृथक् ही तन्त्र बनाया है।

इदमागमसिद्धत्वात् प्रत्यक्षफलदर्शनात् ।
मन्त्रवत्सं प्रयोक्तव्यं सं मीमांस्यं कथञ्चन ॥
दीर्घ जीवितमारोग्यं धर्ममर्थं सुखं यशः ।
पाठावबोधानुष्ठानैरधिगच्छत्यतो ध्रुवम् ॥

—अ० हृ० उ० ४०।८१-८२

—यह तन्त्र आप्त प्रमाण से सिद्ध होने से तथा (इसमें कहे अनुष्ठान का) फल प्रत्यक्ष देख पड़ने से इसका प्रयोग मन्त्र के समान (आस्तिक-बुद्धि से, श्रद्धा सहित) करना चाहिए । किसी भी कारण से इसके विषय में तर्क नहीं करना चाहिये ।

—(इस तन्त्र के) पाठ, ग्रहण-धारण तथा एतदनुकूल अनुष्ठान (आचरण) से पुरुष इसके द्वारा निश्चित ही दीर्घ जीवन, आरोग्य, धर्म, अर्थ और यश प्राप्त करता है ।

एतत्पठन् संग्रहबोधशक्तः स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकम्प्यः ।
आकम्पयत्यन्यविशालतन्त्रकृताभियोगान् यदि तन्न चित्रम् ॥

--अ० हृ० उ० ४०।८३

—इस अष्टाङ्गहृदय को पढ़ कर वैद्य अष्टाङ्गसंग्रह के भी ग्रहण-धारण में समर्थ होता है और इसके अनुसार कर्म का अभ्यास करता हुआ (आत्म-विश्वास के कारण विकट रोग उपस्थित होने पर भी) विकम्पित नहीं होता । (अपनी इस योग्यता के कारण) वह यदि अन्य विशाल तन्त्रों में प्रयत्न करने वाले वैद्यों को प्रकम्पित (चकित) कर दे तो इस में आश्चर्य ही क्या ?

इस परिस्थिति का कारण दृष्टान्त से समझाते ग्रन्थकार कहते हैं—

यदि चरकमधीते तद् ध्रुवं सुश्रुतादि—
प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः ।
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः,
किमिव खलु करोतु व्याधितानां वराकः ॥

—अ० हृ० उ० ४०।८४

—कोई पुरुष यदि (केवल) चरक पढ़े तो निश्चित ही सुश्रुत आदि द्वारा वर्णित रोगों के नाममात्र से भी वह बाह्य (अनभिज्ञ) होता है । सुश्रुतादि द्वारा शल्यतन्त्रादि में कहे रोगों के हेतु, लक्षण और चिकित्सा की तो बात ही क्या ? इसके विपरीत वह यदि चरक-संहिता से शून्य हो तो (सुश्रुतोक्त) प्रक्रिया में परिश्रम किया होने पर भी वह बेचारा (कास-श्वास आदि कायचिकित्सोक्त) रोगों से पीड़ित रोगियों का क्या हितसाधन कर पायेगा ?

सत्य स्थिति यह होने पर भी अभिनिविष्ट (दुराग्रहयुक्त) कोई पुरुष इस ग्रन्थ की उपेक्षा ही करे तो उसे लक्ष्य में रख तन्त्रकर्ता कहते हैं : —

अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढ़मूढकः ।
यठतु यत्नपरः पुरुषायुषं स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः ॥

—अ० हृ० उ० ४०।८५

तथापि दुराग्रहवश कोई महामन्दमति पुरुष सदुक्ति के प्रति प्रेम न दर्शाए तो भले वह (हमारे इस ग्रन्थ की उपेक्षा कर) आजीवन अखिन्न हो आदिम (ब्रह्मोक्त) वैद्यक का पारायण किया करे । समझ नहीं आता सत्य और हित वस्तु कोई ऋषि-मुनि कहे तभी श्रवण; मनन और अनुष्ठान करने योग्य है, ऐसा क्यों लोकों का मत है ? तथाहि—

वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यं,
तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण ।
एतद्ब्रह्मा भाषतां ब्रह्मजो वा,
का निर्मन्त्रे वक्तृभेदोक्तिशक्तिः ॥

—अ० हृ० उ० ४०।८६

—वात, पित्त और श्लेष्मा—इनकी शान्ति के लिये क्रमशः तैल, घृत और मधु उपयुक्त हैं, यह (सत्य) स्वयं ब्रह्मदेव कहें या ब्रह्मा का पुत्र (कोई मनुष्य) मन्त्र-भिन्न (कर्मात्मक वस्तु) में वक्ता के भेद से वचन की शक्ति कैसी ? (वक्ता के भेद से वचन का सामर्थ्य और ग्राह्यता में भेद नहीं पड़ता) ।[१]

वात-पित्त-कफानां श्रेष्ठं प्रशमनं तैलादिकम्

१— दोषों के साम्य के दो उपाय आयुर्वेद में कहे हैं— **प्रशमन** और **संशोधन** प्रत्येक दोष का एक-एक श्रेष्ठ संशमन है और एक-एक श्रेष्ठ संशोधन । संशमन, जैसा कि इस प्रकरण में कहा है— वायु के लिये तैल, पित्त के लिये घृत और कफ के लिये मधु है । संशोधन वायु के लिये बस्ति, पित्त के लिये विरेचन तथा कफ के लिये वमन है । संशोधन का विचार विद्यार्थी उपयुक्त प्रसंग में पढ़ेंगे ही; यहाँ दोष भेद में श्रेष्ठ संशमन की क्रिया का विवरण आयुर्वेद-दृष्ट्या किया जाता है ।

तैलसर्पिर्मधूनि वातपित्तश्लेष्मप्रशमनार्थानि द्रव्याणि भवन्ति ।

तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद्वातं जयति सततमभ्यस्यमानम् ॥

वातो हि रौक्ष्यशैत्यलाघवोपपन्नो विरुद्धगुणो भवति । विरुद्धगुणसंनिपाते हि भूयसाऽल्पमवजायते । तस्मातैलं वात जयति, सततमभ्यस्यमानम् ॥

अभिधातृवशात् किंवा द्रव्यशक्तिर्विशिष्यते ।

अतो मत्सरमुत्सृज्य माध्यस्थ्यामवलम्ब्यताम् ॥

—अभिधाता (वक्ता) के कारण क्या द्रव्य की शक्ति में कुछ अन्तर आता है ? (नहीं) । सो मात्सर्य (द्वेषबुद्धि) छोड़कर तटस्थ भाव का (निष्पक्षता का) अवलम्बन करो ।

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।

भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम् ॥

—जो कहो कि हमारी श्रद्धा तो आर्ष (ऋषि-प्रणीत) वचनों में है तो (वैसा आचरण करो । साधारण मनुष्य कृत) चरक और सुश्रुत छोड़कर तुम (ऋषि-प्रणीत) भेड़-संहिता आदि का पठन क्यों नहीं करते ? (कारण यही है कि, तुम्हारा भी अन्तर—

—तैल, घृत और मधु वात, पित्त और श्लेष्मा के (क्रमशः श्रेष्ठ) प्रशमनोपयोगी द्रव्य है । (इसकी उत्पत्ति=स्पष्टीकरण—देते तन्त्रकार कहते हैं)—

—तैल का निरन्तर अभ्यास (उपयोग, सेवन) किया जाय तो स्नेह (स्निग्धता); उष्णता और गुरुता इन गुणों से युक्त होने से वह वायु को जीत लेता है—शान्त कर देता है । वायु रौक्ष्य, शैत्य और लाघव इन गुणों वाला होता हुआ (तैल से) विरुद्ध गुण वाला होता है । और विरुद्ध गुण वाले दो द्रव्यों का मेल हो तो जो अधिक होता है । उससे न्यून का पराभव हो जाता है । (यह नियम है) । इस लिये निरन्तर सेवन के कारण (जिसके गुणों का आधिक्य हो गया है ऐसा) तैल वायु को शान्त कर देता है ।

—घृत इसी प्रकार (निरन्तर सेवित होकर) अपने माधुर्य, शैत्य और मन्दत्व से पित्त को शान्त कर देता है । कारण पित्त अमधुर (रौक्ष्य, लाघव, अर्वृष्यत्व आदि के कारण मधुर-विपरीत अर्थात् कटुरस—**चक्रपाणि**), उष्ण और तीक्ष्ण है ।

—मधु इसी प्रकार (निरन्तर अभ्यस्त हो) अपनी रूक्षता, तीक्ष्णता और कषायता से कफ का प्रशमन करता है । कारण, कफ, स्निग्ध, मन्द और मधुर है ।

सर्पिः खल्वेवमेव पितं जयति माधुर्याच्छैत्यान्मन्दत्वाच्य । पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च ॥

मधु च श्लेष्माणं जयति, रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यात् कषायत्वाच्च । श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च ॥

यच्चान्यदपि किंचिद् द्रव्यमेवं वातपित्तकफेभ्यो गुणतो विपरीतं स्यात्तच्चैताञ्जयत्यभ्यस्यमानम् ॥ —च० वि० १।१३—१७

—इसी प्रकार जो कोई भी द्रव्य गुण-दृष्ट्या वात, पित्त और कफ के विरुद्ध गुण वाला हो, निरन्तर अभ्यास से वह उन को शान्त कर समावस्था में लाता है ।

दोषों के प्रशमन में विरुद्ध गुणवाले द्रव्यों के निरन्तर सेवन से इस नियम को स्मरण में रखना चाहिए । द्रव्य शब्द से यहाँ बिहार (चेष्टा), देश और काल का भी ग्रहण करना चाहिए । उदाहरणतया शरीर माधुर्य (ग्लायसीमिया) तथा मूत्रमाधुर्य में वैद्य मधुर-विरोधी निम्ब, नाई (मामेजवा), विषतिन्दुक, शिलाजतु, करेले के पत्र अथवा फल इत्यादि तिक्त रस वाले द्रव्यों का निरन्तर सेवन करते हैं । अपरंच, मधुरविरोधी विभिन्न व्यायामों का उपदेश करते हैं ।

अभ्यास-लक्षणम्—

उल्लिखित अभ्यास एक गुण है, जिसका लक्षण अधोलिखित है ।

भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया ॥

—च० सू० २६।३४

भावस्य षष्टिकादेर्व्यायामादेश्चाभ्यसनमभ्यासः । अभ्यासमेव लोकसिद्धाभ्यां पर्यायाभ्यां विवृणोति-शीलनं सततक्रियेति ॥

—चक्रपाणि

—भाव-रूप षष्टिक चावल आदि द्रव्यों का किंवा व्यायाम आदि चेष्टाओं का निरन्तर सेवन, जिसे लोक में (अनु) शीलन या सतत-क्रिया भी कहते हैं, उसका नाम अभ्यास है । तो सद्वचन को ही मानने का पक्षपाती है, वह बचन फिर किसी ने भी क्यों न कहा हो ।) सो, सुभाषित को ही ग्रहण करना चाहिए । (वक्ता का विचार न करना चाहिए) ।

अन्त में सर्वजगत् के विशेषतया सत्पुरुषों के कल्याण की कामना करते तन्त्रकार कहते हैं—

हृदयमिव हृदयमेतत्सर्वायुर्वेदवाङ्मयपयोधेः ।
कृत्वा यच्छुभमाप्तं शुभमस्तु परं ततो जगतः ॥

—अ० हृ० उ० ४०।८६

—यह हृदय (अष्टाङ्गहृदय) समग्र आयुर्वेदीय वाङ्मय रूप समुद्र का हृदय है । (नाम, हृदय जैसे शरीर के एक देश में रहता हुआ भी दश मूल सिराओं द्वारा समस्त शरीर में व्याप्त होता है, वैसे छ स्थानों द्वारा यह तन्त्र भी संपूर्ण अष्टांङ्गायुर्वेद को अपने में लिए हुए है ।) ऐसे इसकी रचना करके जो पुण्य प्राप्त किया उससे सारे विश्व का कल्याण हो ।

भिषजां साधुवृत्तानां भद्रमागमशालिनाम् ।
अभ्यस्तकर्मणां भद्रं भद्रं भद्राभिलाषिणाम् ॥

—अ० हृ० ७०४०।७७

—सच्चरित वैद्यों का (इह और परलोक में) कल्याण हो । आगमशाली (शास्त्र में कुशल) वैद्यों का कल्याण हो । (कल्पों के निर्माण और उपयोग रूप) कर्म (क्रिया) का जिन्होंने बार-बार अभ्यास किया है, उन वैद्यों का कल्याण हो । (प्राणिमात्र का) कल्याण चाहने वाले वैद्यों का कल्याण हो ।

वाग्भट-कृत पलाण्डु-प्रशंसा तदीयः कालश्च

भारतीय आयुर्वेद के इतिहास का यह अपूर्व पर्व (अष्टाङ्ग-संग्रह और अष्टाङ्गहृदय का निर्माण) ईसा की द्वितीय और पंचम शताब्दी के मध्य घटित हुआ, यह ऐतिहासिकों का मन्तव्य है ।

इस विषय में नीचे दिये वाग्भट-कृत पलाण्डु-प्रशंसा-परक दो पद्य प्रमाणतया प्रस्तुत किए जाते हैं—

रसोनानन्तर वायोः पलाण्डुः परमौषधम् ।
साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम् ॥
यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिव निर्मितानाम् ।
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव ॥

—अ० सं० उ० ४६

—रसोन (लशुन) के पश्चात् पलाण्डु (प्याज) वायु का श्रेष्ठ औषध है । शकाधिपतियों का जीवन मानो साक्षात् पलाण्डु पर टिका होता है ।

—इस पलाण्डु के उपयोग के कारण ही जानो लावण्य के सार से[1] बनी शकसुन्दरियों के कपोल की कान्ति से पराभूत हो चन्द्रमा विरक्त हुआ (अपना मुख छिपाने) रसातल को जाता है ।

लावण्यलक्षणम्—

१— लावण्य सौन्दर्य का चिह्न-विशेष है । इसका लक्षण साहित्यकारों ने यह दिया हैं—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरसत्वमिवान्तरा ।
अन्तरा यदिहाभाति तल्लावण्यमुदीर्यते ॥

—मोतियों के पुंज में उनकी कान्ति के कारण बीच-बीच में उनकी जो तरल शोभा दिखाई देती है उसके सदृश शरीर में जो गुण होता है, उसे **लावण्य** कहते हैं । (यह प्रत्यक्ष-बोध्य है) ।

यहाँ कही लशुन और पलाण्डु की वात-प्रत्यनीकता विद्यार्थी को ध्यान में रखनी चाहिये। ये पद्य यहाँ इस निमित्त उद्धृत किये गये हैं, कि इनमें शकों का उल्लेख है। अतः शकों का भारत में प्रवेश होने के अनन्तर ही वाग्भट ने संग्रह और हृदय की रचना की होगी। शक राजा (हूण) ईसा की प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दीपर्यन्त भारत में शासन करते रहे। सो, वाग्भट और उसके ग्रन्थों के निर्माण का भी काल इसके आसपास होना चाहिए।

संग्रह-हृदययोष्टीकाः

वाग्भट के अनेक शिष्यों में **इन्दु** और **जेज्झट** प्रमुख थे। इनमें इन्दु की लिखी अष्टाङ्गसंग्रह की शशिलेखा-व्याख्या सम्प्रति उपलब्ध है। पूना के रामचन्द्र शास्त्री किंजवडेकर ने इसे कई खण्डों में छपाया है। अन्य विद्वानों ने भी इस पर टीकाएं की हैं, पर वे प्राप्त नहीं होती। अष्टाङ्ग-हृदय पर अरुणदत्त की सर्वाङ्गसुन्दरा तथा हेमाद्रि की आयुर्वेद रसायन टीका प्रसिद्ध है और निर्णयसागर मुद्रणालय द्वारा प्रकाशित हुई हैं। अरुणदत्त का काल ईसा की तेरहवीं शती के पूर्व है। हेमाद्रि देवगिरि के महादेव तथा उसके पुत्र रामदेव का प्रधानमंत्री था। इस ग्रन्थ की हिन्दी में भी टीकाएँ हुई हैं। इनमें एक अखिल भारतीय आयुर्वेद-महासम्मेलन के भू० पू० अध्यक्ष वैद्य शिवशर्मा जी की है। अष्टाङ्गसंग्रह का हिन्दी भाष्य कविराज अत्रिदेव विद्यालंकार से करा उसका प्रथम खण्ड निर्णयसागर के अध्यक्ष ने प्रकाशित कराया है।



संभाषा-विधिः

चरक की रचना का निर्देश करते हमने कहा है कि आज के समान प्राचीन काल में भी संभाषाएँ हुआ करती थीं। ऐसा कुछ संभाषाओं का उल्लेख चरक-संहिता में है। ये संभाषाएँ वर्तमान काल की कान्फ्रेन्सों तथा सम्मेलनों का स्मरण कराती हैं। उसी प्रसंग में हमने कहा है कि, ऋषियों के प्रतिनिधि बन भरद्वाज इन्द्र के समीप हिमाचल को गये थे। यह वैसा ही है जैसे आजकल कई एतद्देशीय किसी विद्या या कला के विशेषाभ्यास के लिये परदेश को जाते हैं। चरक-संहिता में ही चिकित्सास्थान के आरम्भ में कहा है कि एक बार पुनः अनेक ऋषि विशेष जिज्ञासा से भगवान् इन्द्र के पास गये थे। वह प्रसंग आयुर्वेद के सिद्धान्तों को विशद करने वाला होने से आगे दिया जाएगा। उसके पूर्व संभाषाविधि के प्रयोजन का विवरण दिया जाता है—

संभाषाविधिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः। भिषग् भिषजा सह संभाषेत्। तद्विद्यसंभाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी भवति, वैशारद्यमपि चाभिनिर्वर्तयति, वचनशक्तिमपि चाधत्ते, यशश्चाभिदीपयति, पूर्वश्रुते च संदेहवतः पुनः श्रृवणाच्छ्रुतसंशयमपकर्षति, श्रुते चासंदेहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्तयति, अश्रुतमपि च कञ्चिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति; यच्चाचार्यः शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणोपदिशति गुह्यमभिमतमर्थजातं तत् परस्परेण सह जल्पन् पिण्डेन विजिगीषुराह संहर्षात्। तस्मात्तद्विद्यसंभाषामभिप्रशंसन्ति कुशलाः ॥ —च० वि० ८।१५

—अब संभाषा (परस्पर चर्चा) की विधि का उल्लेख किया जायेगा। प्रत्येक वैद्य को अन्य वैद्यों के साथ संभाषा करनी चाहिये। यह तद्विद्य संभाषा (एक ही विषय) के ज्ञाताओं की परस्पर संभाषा) ज्ञान-प्राप्ति के लिये (अधिक) उद्योग और स्पर्धा (प्रतियोगिता) को उत्पन्न करती है (प्रतिपक्ष को अपने सामर्थ्य से पराभूत करने का) नैपुण्य लाती है, वचन-शक्ति (अपने विचारों को व्यक्त करने के सामर्थ्य) को उपजाती है, यश को बढ़ाती है, पहले (गुरु-मुख से) सुनी हुई किसी बात में संदेह रह गया हो तो उसे दूर करती है; सुनी बात में संदेह न भी हो तो (ज्ञान-संबंधी) निश्चय को दृढ़ करती है; कोई बात (किसी कारण) सुनने में न आई हो तो उसे कर्णगोचर करती है; (और कई बार तो यह स्थिति होती है कि) आचार्य ने किसी शुश्रूषु (ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से सेवापरायण) शिष्य को प्रसन्न होकर क्रम-सहित कोई जानने योग्य बात गुह्य रूप में (अकेले में) सिखाई हो तो वह शिष्य जल्प (विजयेच्छा से विवाद) करता हुआ विजय की आकांक्षावश उसका सार-सार कह देता है (इस प्रकार वह गोपित बात भी अपने को विदित हो जाती है)। इसी कारण विद्वज्जन तद्विद्य-संभाषा की प्रशंसा करते हैं—उसे अच्छा तथा आचरणीय बताते हैं।

संधाय-संभाषा की इस विधि का महत्त्व आज भी उतना ही है । जो विद्यार्थी दो या अधिक मिलकर किसी विषय की तैयारी करते हैं वे बुद्धि के अल्प क्लेश और समय के अल्प व्यय से परन्तु अधिक अच्छे प्रकार से विषय को ग्रहण और धारण कर पाते हैं । वचनशक्ति (परीक्षादि में लेखन के रूप में विषय को व्यक्त करने का सामर्थ्य) भी इससे बढ़ता है ।

द्विविधा तु खलु तद्विद्यसंभाषा भवति—संधायसंभाषा, विगृह्यसंभाषा च ॥

—च० वि० ८।१६

—यह तद्विद्यसंभाषा द्विविध होती है— **संधाय संभाषा और विगृह्य संभाषा**। (पिछली के दो भेद हैं— जल्प और वितण्डा । इनके लक्षण देते हैं ।)—

तत्र ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसंपन्नेनाकोपनेनानुपस्कृतविद्येनानसूयेनानुनेयेनानुनयनकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसम्भाषणेन च सह संधाय सम्भाषा विधीयते ।

तथाविधेन च सह कथयन् विस्त्रब्धः कथयेत्, पृच्छेदपि चविस्त्रब्धः, पृच्छते चास्मै विस्त्रब्धाय विशदमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रहभयादुद्विंजेत, निगृह्य चैनं न हृष्येत्, न च परषु विकत्थेत् न च मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चाविदितमर्थमनुवर्णयेत् सम्यक् चानुनयेनानुनयेत्, तत्र चावहितः स्यात् । इत्यनुलोमसंभाषाविधिः ॥

—च० वि० ८।१७

—जो तद्विद्य (तज्ज्ञवैद्य) ज्ञान (शास्त्र, थियरी), विज्ञान, (शिल्प, कर्म, प्रेक्टीकल), वचन, प्रतिवचन, (उत्तर)— इनके सामर्थ्य से युक्त हो क्रोधशील न हो, जिसका ज्ञान अशुद्ध न हो, जो असूया (अन्यों के गुणों में दोष-बुद्धि) से रहित हो, अनुनेय (समझाने से समझ जाए ऐसा) हो, स्वयं भी अनुनय (मनाने) में कुशल हो, (भाषणादि के) क्लेश के सहन में समर्थ हो, एवं जिसके साथ संभाषा आनन्द का विषय हो— उसके साथ की गई संभाषा **संधाय-संभाषा** कही जाती है ।

—उक्तगुणविशिष्ट वैद्य के साथ संभाषा करता हुआ निःशङ्क होकर-नाम पराजय (निग्रह) की भीति न रखता हुआ बोले, पूछना हो तो भी उसी प्रकार निःशङ्क हो पूछे, वह कुछ पूछे तो उससे भी वह निःशङ्क रहे, इसी भाँति अर्थ-प्रतिपाद्य प्रश्न को विशद करे; निग्रह (पराजय) के भय से घबरा न जाए (मन पर काबू खो न बैठे); जल्प और वितण्डा में कहे निग्रह स्थानों को छोड़ केवल संधाय-संभाषा में उपदिष्ट निग्रहस्थानों का प्रयोग कर) उसे निगृहीत करके भी मुदित न हो, (उसका अनादर हो इस प्रकार) अन्यों के मध्य विकत्थना-आत्मश्लाघा —न करे; मोह-वश एक पक्ष को पकड़ रखे, जो बात अपने को (संपूर्ण) विदित न हो उसका उल्लेख न करे (अथवा पर पक्ष को जो

बात ज्ञात न हो उसका—उसके अज्ञान का—निर्देश किसी के सामने न करे), (छल और जाति के प्रयोग से बचता हुआ केवल) सम्यक् अनुनय से ही अपना पक्ष उसे ठसावे, इस परिपाटी का सावधान हो उपयोग करे । इस का नाम **अनुलोम-संभाषा किंवा संधाय-संभाषा** है ।

अत ऊर्ध्वमितरेण सह विगृह्य संभाषायां जल्पेच्छ्रेयसा योगमात्मनः पश्यन्। X X X । तत्र त्रिविधः परः संपद्यते-प्रवरः, प्रत्यवरः समो वा गुणविनिक्षेपतः । X X । परिषत्तु खलु द्विविधा-ज्ञानवती, मूढपरिषच्च्च । सैव द्विविधा सती त्रिविधा पुनरनेन कारणविभागेन-सुहृत्परिषत्, उदासीनपरिषत्, प्रतिनिविष्टपरिषच्चेति । X X X । तत्र श्लोकौ—

विगृह्च कथयेद्युक्त्या युक्तं च न निवारयेत् ।
विगृह्चभाषा तीव्रं हि केषांचिद् द्रोहमावहेत् ॥
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यमपि विद्यते ।
कुशला वाभिनन्दन्ति कलहं समितौ सताम् ॥

—च० वि० ८।१८-२४

—कल्याण से योग (कल्याण की प्राप्ति) की इच्छा हो तो इतर अर्थात् संधायसंभाषोचित गुणों से रहित पुरुष के साथ विगृह्य संभाषा का आश्रय कर जल्प ही करे । XXX । सर्व संभाषाओं में प्रतिपक्षी तीन प्रकार का होता है—गुणों के प्रमाण की दृष्टि से रखते अपने से श्रेष्ठ, दूसरा अपने से हीन तथा तीसरा अपने समान XX ।

परिषत् (श्रोतृ-वर्ग) दो प्रकार की होती है— ज्ञानवती (ज्ञानियों की) तथा मूढ़ों की । इस प्रकार यह द्विविध ही परिषत् कारण-भेद से त्रिविध होती है—सुहृत्परिषत् उदासीन (तटस्थ)—परिषत् तथा प्रतिनिविष्ट—परिषत् । (प्रतिनिविष्ट--पूर्वग्रहयुक्त पुरुष) ।

—विगृह्य संभाषा में भी युक्तिपूर्वक ही संलाप करें । परपक्ष की बात सत्य हो तो उसका प्रतिषेध न करें । (इस प्रकार क्रोध को सर्व प्रकार से टालने का प्रयास करे) । कारण, विगृह्य संभाषा में कइयों को तीव्र क्रोध का वेग हो आता है और क्रुद्ध हुए पुरुष के लिये (क्रोध के आवेश में) कोई कार्य अकार्य नहीं होता, कोई बात अवाच्य नहीं होती । इसी कारण बुद्धिशाली पुरुष सज्जनों के समाज में कलह को पसन्द नहीं करते ।

वादप्रभृतीनां लक्षणम्

संभाषा के प्रकरण में बाद आदि पदों का प्रयोग हुआ है । इनके लक्षण अधोलिखित हैं—

तत्र वादो नाम से यत्परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति । स च द्विविधः संग्रहेण-जल्पो वितण्डा च । तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः । जल्पविपर्ययो वितण्डा । यथा एकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति, नास्तीत्यपरस्य । तौ च स्वस्वपक्षहेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः परपक्षमुद्भावयतः, एष जल्पः जल्पविपर्ययो वितण्डा । वितण्डा नाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव ॥ —च० वि० ८।२८

इह वादशब्देन विगृह्यवादोऽभिप्रेतः । तत्त्वबुभुत्सुवादस्तु संधायसंभाषयैवोक्तः ॥

—**चक्रपाणि**

वादे तु विशिष्टौ गुरुर्ब्रह्मचारी वाऽधिकृतः । उक्तं हि न्याये— "तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात्" (न्यायदर्शन ४।२।४८) ॥

—च० वि० ८।१८ **चक्रपाणि**

—वाद शब्द का (संस्कृत वाङ्मय तथा न्यायादि दर्शनों में) प्रयोग सामान्यतया संधाय संभाषा में होने वाले तत्त्व के जिज्ञासुओं के संलाप के लिये होता है । इनके लिये न्याय-दर्शनकार ने कहा है कि वह असूया-रहित शिष्य और गुरु, सुब्रह्मचारी (सतीर्थ्य, सहपाठी) तथा विशिष्ट कल्याण (स्वर्ग और अपवर्ग) के इच्छुकों के साथ हुआ करता है । यहाँ वाद शब्द विगृह्य संभाषा के संलाप के लिये प्रयुक्त हुआ है । पर (प्रतिपक्षी) के साथ शास्त्रपूर्वक परन्तु उसके पराजय की आकांक्षा से जो चर्चा होती है उसे **वाद** कहते हैं । संक्षेप में उसके दो प्रकार हैं— **जल्प** और **वितण्डा** । पक्ष का आश्रय करके जो संभाषा की जाती है उसे **जल्प** कहते हैं । **जल्प** के विपरीत **वितण्डा** होती है । यथा, एक वादी कहे कि—पुनर्जन्म होता है, दूसरे का पक्ष हो कि—नहीं । दोनों अपने-अपने पक्ष के (प्रतिपादक) हेतुओं से अपने-अपने पक्ष की स्थापना करते हैं और पर पक्ष का खण्डन करते हैं । इसका नाम **जल्प** है । इसके विपरीत **वितण्डा** होती है । इसमें (अपना कोई पक्ष स्थापित नहीं किया जाता) केवल परपक्ष के दोष दिखाए जाते हैं ।

अथ निग्रहस्थानम् । निग्रहस्थानं नाम पराजयप्राप्तिः ॥

—च० वि० ८।६५

—पराजय का जो स्थान (कारण) और उसके द्वारा पराजय की प्राप्ति उसे **निग्रहस्थान** कहते हैं । (इस प्रकार पराजित को निग्रहीत कहा जाता है) ।

वाद आदि का तथा इनसे संबद्ध छल, जाति का परिचय विद्यार्थी को पदार्थ-विज्ञान में देखना चाहिये ।



ऋषीणामिन्द्रसमीपगमनं तत्कृता ग्रामवासगर्हणा च

ऊपर कहा गया है कि, शङ्का पड़ने पर या विशेष बुभुत्सा (जिज्ञासा) होने पर ऋषिगण इन्द्र या अन्य विद्वान् के समीप जाते थे, किंवा अपने पुत्रों या शिष्यों को भेजते थे। आयुर्वेद ही नहीं, अन्य विषयों के क्षेत्र में भी यही परिपाटी थी। ऐसा ही एक उदाहरण उपयोगी होने से नीचे दिया जाता है—

ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः सांपन्निका मन्दचेष्टा नातिकल्याश्च **बभूवुः**। ते सर्वासामितिकर्तव्यताना-मसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्यदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृति **भिर्गङ्गा** प्रभवममरगन्धर्वकिन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षिसिद्धचारणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः ॥

—च० चि० १।४।३

—(पूर्वेतिहास है) एक बार शालीन और यायावर उभय प्रकार के ऋषि[1]

यायावर और शालीन

१— ऐतिहासिकों का मत है कि आदि काल में मानव-कुल आज के समान ग्राम-नगरादि के रूप में बस्ती बनाकर नहीं रहता था। वह सदा टोलियों के रूप में संचार करता रहता था। इस रीति से स्वैर-विहार करते पुरुषों को **नॉमेड** (Nomad) कहा जाता है। तत्तत् कारण से मानव बस्ती बनाकर रहने लगे। जो इस प्रकार बस गये उन्हें **सेटल्ड** (Settled) कहा जाता है : एक ही काल में दोनों स्थितियों के मानवों का अस्तित्व होता था। यहाँ ऋषियों के लिये **यायावर** तथा **शालीन** विशेषण आए हैं। उनका अर्थ इस ऐतिहासिक भूमिका के अनुसार ही लेना चाहिए। वायावर का व्याकरण-सिद्ध अर्थ है— जो अत्यधिक तथा पुनः पुनः (बीच-बीच में कुछ काल ठहरकर भी फिर-फिर) गमन करे—**अतिशयेन पुनः पुनर्वा यान्तीति यायावराः**। यहीं ऐतिहासिकों के **नॉमेड** हैं— शालीन का प्रसिद्ध अर्थ है— शिष्ट, सभ्य पुरुष। परन्तु इतिहास, प्रकृत ग्रामवास की निन्दा तथा यायावर पद का साहचर्य देखते इसका अर्थ 'सेटल्ड' लेना ठीक होगा। शाला का अर्थ है घर। घर, ग्राम, नगर बसाकर जो रह गए, इसी से जिन्हें परस्पर व्यवहार के लिए कुछ विधि (कायदे) आदि बनाने पड़े वे (जंगलियों के विपरीत फिरंदर जीवन बिताने वालों के विपरीत) शालीन कहाए। कालान्तर में यह संज्ञा विधि-विशेष बनाकर परस्पर व्यवहार करने वाले पुरुषों की भी वाचक हो गई, जिसके लिये सभ्य, शिष्ट प्रभृति पर्याय हैं। पाणिनि ने **शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः** सूत्र से व्युत्पत्ति बताकर इस संज्ञा का यह पिछला रूढ़ अर्थ ही बताया है। नागर शब्द की भी यही स्थिति है। इसका व्युत्पत्ति-सिद्धि अर्थ है—नगरवासी। परन्तु गौण और रूढ़िवश (प्रचार के कारण) मुख्य-सदृश अर्थ है—शिष्ट सभ्य। अंग्रेजी सिविल शब्द का भी इसी प्रकार मुख्य अर्थ है— नागरिक तथा गौणार्थ है—सभ्य, शिष्ट।

ग्राम्य अन्नपान का[1] सेवन करने के कारण समृद्ध, (और समृद्धि-सुलभ दोषों से आक्रान्त हो) मन्दचेष्ट (आराम का जीवन व्यतीत करने वाले, अतएव अन्य विपरिणामों के अतिरिक्त) रुग्णप्राय हो गए । परिणामतया, सर्व इति-कर्तव्यताओं (कर्त्तव्य कर्मों) में असमर्थ हो, इन सब विकारों की उत्पत्ति ग्रामवास के कारण ही है । यह निश्चय कर, भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम आदि वे महर्षि अपने पूर्वनिवास-भूत[2] ग्राम्य दोषों से रहित, कल्याणकर, पुण्य, उदार (विशाल; घरों या ग्रामों के सदृश मर्यादित नहीं ऐसे), मेध्य (मेधा की वृद्धि करने वाले), पुण्यहीनों के लिये अप्राप्य, भागीरथी के प्रभव (उद्गम-स्थान); देवों, गन्धर्वों, तथा किन्नरों से संचरित; अनेक रत्नों के निधि; अचिन्त्य और अद्भुत प्रभाववाले; ब्रह्मर्षियों, सिद्धों और चारणों से विचरित; दिव्य तीर्थों और औषधों के आश्रयस्थान देवराज से पालित एवं शरणागतों के अति हितकारी हिमाचल को गये ।

तानिन्द्रः सहस्रदृगमरगुरुरब्रवीत्-स्वागतं ब्रह्मविदां ज्ञानतपो धनानां ब्रह्मर्षीणाम् । अस्ति ननु वो ग्लानिरप्रभावत्वं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं च ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखानुबन्धं च । ग्राम्यों हि वासो मूलमशस्तानाम् । तत्कृतः पुण्यकृद्भिरनुग्रहः प्रजानाम् । स्वशरीरमवेक्षितुं कालः, कालश्चायमायुर्वेदोपदेशस्य ब्रह्मर्षीणाम् ।

इन्द्र इस प्रकरण में ग्रामवास के विरोधी मत के पुरस्कर्ता के रूप में सामने आया है । **ऐतरेय ब्राह्मण** की सातवीं पंजिका में भी इन्द्र ऐसा ही पात्र बनकर आया है । अमुक कारणवश हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहित जंगल को चला जाता है । वर्ष पीछे पुनः नगर में आता है । इस प्रकार बार-बार वह लौटकर आता है, और प्रतिबार इन्द्र वृद्ध ब्राह्मण का रूप धर उसे सतत् संचरण करने का उपदेश देता है । उसके प्रत्येक वचन के अन्त में शब्द आते हैं—**चरैवेति, चरैवेति**—चलते रहो, चलते रहो । वहाँ एक वचन बहुत ही अर्थावबोधक है । इन्द्र कहता है—**पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा**— मानवों के बीच पड़े रहने वाला मनुष्य पापी होता है । दूसरी और जो संचरण करते हैं, इन्द्र (ईश्वर) भी उन्हीं का सखा (सहायक मित्र) होता है । यहाँ नृषद्वर शब्द शालीनों के लिये ही आया है ।

चरक और ऐतरेय का इन्द्र एक और अभिन्न भी हो सकता है, तथा अनेक या भिन्न भी हो सकते हैं । पहले भी कह आए हैं इन्द्र नाम देवलोक के राजाओं की सामान्य उपाधि थी, जैसे प्राचीन काल में मिथिलाधिपों की उपाधि जनक थी, अथवा आजकल हैदराबाद, बड़ौदा आदि के नरेशों की उपाधि निजाम, गायकवाड़ आदि है ।

१— औषधि शब्द का अर्थ धान्य है, यह इसी पुस्तक में पहले कह आए हैं ।

२— यहाँ हिमवान् को अपना पूर्व निवास, किंवा अपने पूर्वजों का (पूर्वेषाम्) निवास कहा है । आर्यों के आदि स्थान का विचार करते यह चरक-वचन कुछ सहायक हो सकता ।

आत्मनः प्रजानां चानुग्रहार्थमायुर्वेदमश्विनौ मह्यं प्रायच्छतां, प्रजापतिरश्विभ्यां, प्रजापतये ब्रह्मा । प्रजानामल्पमायुर्जराव्याधिबहुलमसुखानुबन्धमल्पत्वादल्पतपोदमनियमदानाध्ययनसंचयं मत्वा पुण्यतममायुः— प्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनमूर्जस्करममृतं शिवं शरण्यमुदारं भवन्तो मत्तः श्रोतुमर्हताथोपधारयितुं प्रकाशयितुं च प्रजानुग्रहार्थमार्ष ब्रह्म च प्रति मैत्रीं कारुण्यमात्मनश्चानुत्तमं पुण्यमुदारं ब्रह्ममक्षयं कर्मेति । —च० चि० १।४।४

—सहस्त्राक्ष देवगुरु इन्द्र उन ब्रह्मर्षियों को संबोधन कर बोले स्वागत हो ब्रह्मवेत्ता, एवं ज्ञानधन और तपोधन आप महर्षियों ! अरे, पर देखते हैं ग्रामवास के कारण असुख (तत्काल असुख-अनारोग्य-देनेवाली) तथा अनुबन्ध में[1] (कालान्तर में) भी असुखदाता ग्लानि (म्लानता), प्रभाव-शून्यता, स्वरभेद (स्वरविकृति) तथा वर्ण भेद (विकृत वर्ण) आपको पीड़ित किए हैं । यत्सत्यं (सचमुच, वास्तव में) यह ग्राम वास सर्व अमङ्गलों का मूल है । पुण्यकर्ता आपलोगों ने (ग्रामों में-बस्तियों में—रह कर तथा आयुर्वेदोक्त आरोग्यसाधनों के नियमों का प्रकाशन कर) प्रजा पर अत्यन्त अनुग्रह किया है । प्रस्तुत काल अपने शरीर की रक्षा के लिए एवं आप महर्षियों को आयुर्वेद का उपदेश देने के लिये भी सर्वथा उचित है ।[2]

—अपने ऊपर[3] तथा प्रजापर अनुग्रह की आकांक्षा से अश्वियों ने आयुर्वेद का उपदेश मुझे किया । अश्वियों को प्रजापति दक्ष ने और दक्ष को ब्रह्मा ने किया था । प्रजाओं की (जनता की) अल्प आयु (जीवन-काल), और वह भी वार्धक्य और व्याधियों से व्याप्त एवं तत्काल तथा अनुबन्ध में असुखक-अनारोग्यकर जान कर अथ च (आयु की) अल्पता के कारण ही प्रजा का तप, दम, नियम, दान और अध्ययन का संचय भी अल्प समझ कर (इस स्थिति का निराकरण करने के लिये आयुर्वेद को ही एकमात्र साधन मान कर) आप पुण्यतम् आयु का उत्कर्ष सिद्ध करने वाले, जरा और व्याधि के नाशक, ऊर्जस्कर (शरीर में प्रशस्त दोषादि के उत्पादक); अमृत-तुल्य, कल्याणकर, शरण्य (शरणागत के त्राता), उदार एवं आर्ष वेदवाणी-रूप इस (शास्त्र) को प्रजापर अनुग्रह करने की इच्छा से मुझसे श्रवण कर धारण करना तथा (इह और पर लोक में) अपनी मैत्री, कारुण्य तथा अनुत्तम (जिससे उत्तम कोई नहीं है ऐसा—सर्वोत्तम) पुण्य और उदार (विशाल) एवं अक्षय ब्राह्म (मोक्षदाता) कर्म प्रकाशित करना आपके लिये योग्य ही है ।

१— अनुबन्ध-अंग्रेजी में लॉङ्ग रन (Longrun) ।

२— आवश्यकता उपस्थित होने पर ज्ञान-प्राप्ति की सच्ची भूख का उदय होना ही ज्ञान के उपदेश का सर्वोत्तम काल है, इस नियम के प्रति यहाँ संकेत है ।

३— अपने ऊपर अनुग्रह का आशय यह है कि, जैसा कि सुश्रुत-संहिता के प्रादुर्भाव के प्रकरण में कहा है—इस आयुर्वेद के उपदेश के कारण अश्वियों को यज्ञ में भाग मिला था ।

तत् श्रुत्वा विबुधपतिवचनमृषयः सर्व एवामरवरमृग्भिस्तुष्टुवुः, प्रहृष्टाश्च तद्वचनचमभिननन्दुश्चेति ॥ —च० चि० १।२।३

—देवाधिपति के इस वचन को सुनकर सभी ऋषियों ने ऋचाओं से उनकी स्तुति की और प्रसन्न होकर उनके वचन का अभिनन्दन किया ।

अथेन्द्रस्तदायुर्वेदामृतमृषिषिभ्यः संक्राम्योवाचद्यएतत्सर्वमनुष्ठेयम् ॥

—च० वि० १।४।६

—इसके अनन्तर इन्द्र के आयुर्वेद-रूप अमृत को ऋषियों में संक्रान्त कर कहा—इस सब आयुर्वेद का अनुष्ठान करना चाहिए । (अनुष्ठान के बिना यह अकिंचित्कर है) ।

उक्त वचन जिस अध्याय में आया है; उसी के द्वितीय पाद में रसायनाधिकार की अवतरणिका के रूप में महर्षि अत्रिपुत्र (ग्रामनिवास की गर्हणा अधिक विशद पदावली में की है । अनेक प्रकार से उपयोगी होने से वह प्रकरण आगे दिया जाता है ।



शारीरविकाराणां परमं मूलं ग्राम्याहारः

प्राणकामाः शुश्रूषध्वमिदमुच्यमानममृतमिवापरमदितिसुतहितकरमचिन्त्याद्भुतप्रवभावमायुष्यमारोग्यकरं वयसः स्थापनं निद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यदौर्बल्यापहरमनिलकफपित्तसाम्यकरं स्थैर्यकरमबद्धमांसहरमन्तरग्निसंधुक्षणं प्रभावर्णस्वरोत्तमकरं रसायनविधानम् । अनेन च्यवनादयो महर्षयः पुनर्युवत्वमापुर्नारीणां चेष्टतमा बभूवुः । स्थिरसमसुविभक्तमांसाः सुसंहतस्थिरशरीराः सुप्रसन्नवलर्णेन्द्रियाः सर्वत्राप्रतिहतपराक्रमाः क्लेशसहाश्च ॥ —च० चि० १।२।३

—हे प्राणों की आकांक्षा रखने वाले पुरुषों, सुनो । हम इस रसायन के विधान का उपदेश करते हैं, जो (रसायन) अन्य अमृत के सदृश देवों का हितकर, अचिन्त्य और अद्भुत प्रभाववाला, आयुष्य, आरोग्यकर, वयःस्थापन; निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम, आलस्य और दौर्बल्य का अपहरण करने वाला;[1] वायु, कफ और पित्त को सम करने वाला; (शरीर, वाणी और मन को) दृढ़ करने वाला, मांसपेशियों की शिथिलता का निवारक जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला एवं प्रभा, वर्ण और स्वर को उत्तम करने वाला है इसका अनुष्ठान कर च्यवनादि महर्षि पुनः यौवन को प्राप्त हुए और स्त्रियों के अत्यन्त प्रिय हो गए । अपरंच, दृढ़; सम और सुदिभक्त (सुघटित) मांसपेशियों वाले; सुनिबिड और स्थिर शरीर वाले; अति प्रसन्न, बल, वर्ण और इन्द्रियवाले, जिनका पराक्रम सर्वत्र अप्रतिहत (अनिवारित) है ऐसे तथा क्लेशों के सहन में समर्थ हो गए ।

सर्वे शारीरदोषा भवन्ति ग्राम्याहारादम्ललवणकटुकक्षारशुष्कशाकमांसतिलपललपिष्टान्नभोजिनां विरूढनवशूकशमीधान्यविरुद्धासात्म्यरूक्षक्षाराभिष्यन्दिभोजिनां क्लिन्नगुरुपूतिपर्युषितभोजिनां विषमाध्यशनप्रायाणां दिवास्वप्नस्त्रीमद्य नित्यानां विषमातिमात्रव्यायामसंक्षोभितशरीराणां भयक्रोधशोकलोभमोहायासबहुलानाम् ॥

—च० चि० १।२।३

—दोष (दोष तथा रोग) जितने भी हैं वे सब ग्राम्य (गाँव और नगर में सुलभ) आहार से होते हैं ।[2] ग्रामवासी पुरुष जो अम्ल, लवण, कटु, (तीखे,

---

१—निद्राहरत्व की व्याख्या करते **चक्रपाणि** कहते हैं— **निद्राहरत्वं रसायनस्य वैजारिकनिद्राहरत्वेन, किंवा देववत् सर्वदा प्रबुद्धो निद्रारहितो भवति ।**— रसायन-विधि से पुरुष की वैकारिक निद्रा दूर होती है, किंवा देवों के समान स्वाभाविक निद्रा से भी रहित होकर पुरुष सदा जागरित रहता है । स्वाध्याय, व्यवसाय आदि में निद्रा श्रम, गौरव आदि से पीड़ित विद्यार्थी आदि को रसायन (और कुछ नहीं तो अभया) व्यवहार कर देखना चाहिए ।

२—ग्राम शब्द यहाँ ग्राम, नगर, निगम (कस्बा)—सर्व प्रकार की बसतियों (बस्तियों) के लिये प्रयुक्त हुआ है । संक्षेप में इन शब्दों में आचार्य ग्राम, नगर और निगम में निवास के कारण जीवन और आहार में जो कृत्रिमता आ जाती है उसका तथा उससे हुई हानियों का निरूपण कर रहे हैं ।

चरपरे), क्षार (पापड़खार आदि), शुष्क शाक (सुखाकर रखे हुए शाक), शुष्क मांस (जैसे, डिब्बों का मांस) तिल, तिलचूर्ण तथा पिष्टान्न (आटे के बने आहार)[1] का नित्य सेवन करते हैं; विरूढ़ (पानी में भिगोकर अंकुरित किए)[2] एवं नव

आयुर्वेदे पिष्टान्न-सेवन निषेधः

१—पिष्ट का अर्थ है आटा। इसके बने कल्पों का व्यवहार आयुर्वेद में वर्ज्य मान माना जाता है। देखिए—

पिष्टान्नं नैव भुञ्जीत, मात्रया वा बुभुक्षितः ।
द्विगुणं च पिबत्तोयं सुखं सम्यक्प्रजीर्यतिः ।

—सु० सू० ४६।४६१

X X X **मात्राशब्दोऽल्पतावाचकः** X X

—डल्हन

—पिष्टान्न का सेवन सर्वथा न करना चाहिए। करना ही हो तो **क्षुधित** होने पर तथा अल्प परिमाण में और उसके अनन्तर द्विगुण जल पी लेना चाहिए। इससे वह (पिष्टान्न) अच्छे प्रकार और अनारोग्य उत्पन्न किए बिना पच जाता है। चरक ने कहा भी है।

गुरु पिष्टमयं तम्मात्तण्डु लान् पथुकानपि ।
न जातु भुक्तवान् खादेन्मात्रां खादेद्वुभुक्षितः ॥

—च० सू० ५।६

—पिष्टमय (आटे का बना) आहार्य द्रव्य गुरु होता है। इसी कारण पिष्टान्न (पिष्टान्न ही क्यों) चावल और चिवडे जैसे अपेक्षयां लघु अन्न भी भोजनोत्तर न खाने चाहिए। भूख लगने पर मात्रावत् लेने चाहिए।

यात्सत्यं, मण्ड, पेया, विलेपी आदि आहार ही आयुर्वेद-मत से स्वस्थ-अस्वस्थ दोनों के लिये प्रधान आहार्य द्रव्य है। संस्कृत में रोटी का नाम भी नहीं है। वैद्यों को विशेष कर अपने रोगियों में आटे के बने द्रव्य का परिहार कराना चाहिए।

आयुर्वेदमतेन विरूढधान्यानां वर्ज्यत्वम्

२— विरूढ़ (अंकुरित) धान्य वायटेमिन सी आदि के प्रादुर्भाव आदि के कारण नव्यमत से भले विशेष, सेवनीय हों, आयुर्वेद में तो इन्हें पुष्ट ही कहा है। देखिए—

विरूढककृता भक्ष्या गुरवोऽनिलपित्तलाः ।
विदाहोत्क्लेशजनना रूक्षा दृष्टिप्रदूषणाः ।

—सु० सू० ४६।४०४

विरूढककृता अंकुरितमुद्गाविकृताः ।

—डल्हन

—विरूढ मुद्गादि धान्य से बनाए आहार्य द्रव्य गुरु, वातल, पित्तल, विदाह, (वैकृत अम्लपाक, विदग्धाजीर्ण) तथा उत्क्लेश (मितली) करने वाले, रूक्ष और दृष्टि को अत्यन्त दूर्षित करने वाले होते हैं।

(जिन्हें खेत से लाए एक वर्ष) से शून्य समय हुआ हो ऐसे) शूकधान्य, शमीधान्य,[1] प्रकृति आदि दृष्टि से विरुद्ध, असात्म्य, (अहित), रूक्ष (नेह-रहित), क्षारयुक्त तथा

विदाहि गुरु विष्टम्भि विरूढं दृष्टिदूषणम्

—सु० सू० ४६।५१

विरूढमंकुरजननशक्तिरहितमित्यर्थः । अन्ये—विरूढ़मंकुरितनित्याहुः । ईषद्भृष्टं चणकमुद्गादि विरूढमाहुरपरे ॥

—डल्हन

'दृष्टिदूषणम्' इत्यत्र 'वातकोपनम्' इति ताडपत्रपुस्तके पाठः ॥

—विरूढ़ धान्य विदाही (विदाहकर्ता), गुरु, विष्टम्भी स्रोतों में होने वाली प्राकृत चेष्टा को लुप्त या मन्द करने वाला, परिणाम में शरीर में दोषों का संचय, गौरव आदि का जनक) तथा दृष्टि को दूषित करने वाला (पाठान्तर में वातप्रकोपक) होता है ।

विरूढ़ धान्य का अर्थ कोई रोहण नाम जनन-शक्ति जिसकी नष्ट हो गई है, ऐसा धान्य भी करते हैं । कोई कुछ कुछ भूँजे चने, मूँग आदि को विरूढ़ धान्य कहते हैं ।

१—चावल, गेहूँ, यव आदि शूक (बाल, सिट्टा, Ear ईयर) में लगने वाले धान्यों को शूकधान्य कहते हैं । तथा मुद्ग, मसूर, माष आदि शमी या शिम्बी (फली) में लगने वाले धान्यों को शमीधान्य या शिम्बीधान्य कहा जाता है ।

नवधान्यं तदवगुणाश्च

नवधान्य का लक्षण तथा उसके गुण-दोष आचार्यों ने ये कहे हैं—

शूकधान्यं शमीधान्यं समातीतं प्रशस्यते ।
पुराणं प्रायशो रूक्षं प्रायेणाभिनवं गुरु ॥

—च० सू० २७।३०

समातीतनित्येकवर्षातीतम् । प्रशस्यत इति लाघवात् । हेमन्ते नवधान्यंविधानं त्वपवादः ॥

—चक्रपाणि

—शूक्रधान्य और शमीधान्य जिसे एक वर्ष हो गया हो वह (नवधान्य) अपनी लघुता के कारण उत्तम होता है । एक वर्ष के अनन्तर पुराण धान्य प्रायः रूक्ष होता है, तथा नवधान्य प्रायः गुरु होता है । (इस गुणवत्ता के कारण पुराण धान्य का ही सेवन करना चाहिये) । हेमन्त में नवधान्य का विधान अपवादरूप है ।

सुश्रुत ने भी लिखा है—

—नवंधान्यमभिष्यन्दि लघु संवत्सरोषितम् ।

—सु० सू० ४६।५१

—नवधान्य अभिष्यन्दी होता है तथा एक वर्ष रहा हुआ धान्य लघु हो जाता है। इस पद्य की डल्हन-कृत टीका बोधक होने से दी जाती है—

अभिष्यन्दी[1] भोजन के स्वभाववाले होते हैं। क्लिन्न[2] गुरु पूति (सड़ा हुआ) तथा पर्युषित (वासी) भोजन प्रायः किया करते हैं; बहुधा विषमाशन और अध्यशन[3] करते हैं, नित्य दिवास्वप्न, ग्रामधर्म और मद्य में निरत रहते हैं; विषम (विकट)

नवमिति वर्ष यावत्। अभिष्यन्दि दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदप्राप्ति जननम्। लघु संवत्सरोषितमिति लघु पुराणमिति वाच्येऽत्र 'संवत्सरोषितम्' इति यत्करोति तज्ज्ञापयति-प्रथमवर्षादूर्ध्वं द्वितीयं वर्ष यावत् पुराणं गुणवच्च भवति। तदूर्ध्वं तु नीरसत्वान्न गुणकरमिति। उक्तं च—

''वर्षोसितं सर्वधान्यं परित्यजति गौरवम्।

न तु त्यजति तद्वीर्य क्रमशो विजहाति तत्॥'' इति।

माषचणकादयस्तु नूतना एव स्वकार्यकरणसमर्था'' इत्येके॥

—नवधान्य का अर्थ है एक वर्ष तक का धान्य। जो आहार या औषध— द्रव्य दोषों, धातुओं या मलों के स्रोतों पर (अपने पैच्छिल्यादि के कारण) क्लेद—लेपन—उत्पन्न कर देता है उसे अभिष्यन्दी कहते हैं। (जिसके कारण स्रोतों में अपने-अपने द्रव्य का वहन समीचीन नहीं हो सकता। यथा, जाठर पाठर पित्तवह स्रोतों पर लेप होने से पित्त का स्राव सम्यक् न होने से अन्नपान का जरण (पचन) यथावत् नहीं होता, ग्रहणी में पक्व अन्नरस का वहन करने वाले रसवह स्रोतों पर इसी प्रकार क्लेद हो तो रस का वहन (ग्रहण) सम्यक् न होने से धातुओं का पोषण सम्यग् नहीं होता। इसी प्रकार अन्य स्रोतों के भी अभिष्यन्द से प्रभावित होने की कल्पना करनी चाहिये।) 'पुराण धान्य लघु होता है' ऐसा न कह 'संवत्सरोषित वर्ष भर रहा—धान्य लघु होता है' यह जो कहा उससे यह ज्ञापित—सूचित है कि, प्रथम वर्ष के पीछे द्वितीय वर्ष तक—द्वितीय वर्ष समाप्त होने तक-ही धान्य पुरान कहाता है और गुणवान् होता है। इसके पश्चात् नीरस होने से गुणकारी नहीं होता। कहा भी है- ''एक वर्ष रहे सर्वधान्य गौरव (गुरुगुण) से रहित—लघु हो जाते हैं, तथापि (उस काल तक) वे अपने वीर्य का त्याग नहीं करते—वीर्य तो उनमें बना ही रहता है। इसके बाद क्रमशः वीर्य को भी वे छोड़ते जाते हैं।

—एकीय (कई एक का) मत है कि—माष, चणकादि धान्य नए हों तभी अपना प्राकृत कर्म करने में समर्थ होते हैं।

१—२—अभिष्यन्दी द्रव्य की परिभाषा ऊपर दी है। इस परिभाषा में दिया स्रोतोलेपन गुण प्रकृत्या हो तो द्रव्य को अभिष्यन्दी कहते हैं। यही गुण यदि अन्नपान या औषध पर्युषित (वासी) और पूति (कुथित, सड़ा हुआ) होने से उत्पन्न हो तो इसे क्लेद और द्रव्य को क्लिन्न कहते हैं।

अध्यशनादि लक्षणम्

३—अध्यशनादि पदों का पुनः पुनः प्रयोग वैद्यक-ग्रन्थों में होता है। आरम्भ में भी इनका जान लेना उपयोगी होगा—

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम्।

विषमं बहु वाऽल्पं वाऽप्यप्राप्तातीतकालयोः॥

और अतिमात्र (व्यवसाय-विषयक) परिश्रम से जिनका शरीर (शरीर की एक-एक संधि) ढीली पड़ गई है तथा भय, क्रोध, शोक लोभ मोह और आयास (मन तथा बुद्धि पर कार्य का दबाव)[1] जिन्हें सतत आविष्ट किये रहते हैं उन्हें ग्राम्याहारकृत सर्व शरीर—निज—(तथा मानस भी) रोग आक्रान्त करते हैं ।

आगे ग्राम्याहार का शरीर पर प्रभाव सविस्तर बताते तन्त्रकार कहते हैं —

अतोनिमित्तं हि शिथिलीभवन्ति मांसानि, विमुच्यन्ते सन्धयः, विदह्रते रक्तं, विष्यन्दते चानल्पं मेदः, न सन्धीयतेऽस्थिषु, मज्जा, शुक्रं न प्रवर्तते[2] क्षयमुपैत्योजः । स एवंभूतो ग्लायति, सीदति, निद्रातन्द्रालस्यसमन्वितो निरुत्साहः श्वसिति, असमर्थश्चेष्टानां शारीरमानसीनां, नष्टस्मृतिबुद्धिच्छायो रोगाणामधिष्ठानभूतौ न सर्वमायुरवायुरवाप्नोति ।।

तस्मादेतान् दोषानवेक्षमाणः सर्वान् यथोक्तानहितानपास्याहारविहारान् रसायनानि प्रयोक्तुमर्हतीति ।।

—च० वि० १।२।३

भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम् ।
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान् व्याधीन् सृजन्ति वा ।।

—च० चि० १५।२३५।-३६

हिताहितोपसंयुक्तमन्नं समशनं स्मृतम् ।
बहु स्तोकमकाले वा तज्ज्ञेयं विषमाशनम् ।।
अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते ।
त्रयमेतन्निहन्त्याशु बहून् व्याधीन् करोति च ।।

—सु० सू० ४६।५२८-९

—हित और अहित (पथ्य और अपथ्य) दोनों एक साथ सेवन करना **समशन** कहाता है । अत्यधिक किंवा अल्प तथा अकाल में नाम समय के पूर्व या समय बीत जाने पर जो भोजन किया जाय उसे **विषमाशन** कहते हैं । पहले किया अन्नपान अभी जीर्ण होना शेष हो तो जो भोजन किया जाय उसे **अध्यशन** कहते हैं । (यथा, घर से खाकर निकले तो रास्ते में बाजार आदि में खाना, घर आते-आते बाजार आदि में खा आना और घर पर पुनः खाना, या रात को खाने के पीछे सोते समय दूध पीना) । ये तीनों मृत्यु को नहीं तो घोर व्याधियों को उत्पन्न करते हैं ।

प्रमिताशनमेकरसाभ्यासः —च० सू० ३७।७६—७७ पर **चक्रपाणि** ।

—एक रस का ही सेवन करना प्रमिताशन कहाता है ।

१— अंग्रेजी में Strain—स्ट्रेन या Stress—स्ट्रेस ।

२— **शुक्रं न प्रवर्तते नोत्पद्यते शुक्रमित्यर्थः ।** —**चक्रपाणि**

—इस ग्राम्याहार-प्रभृति कारण में मांस (पेशियाँ तथा स्रोतों के घटक मांस) शिथिल-पोचे तथा स्वकार्याक्षम हो जाते हैं; रक्त में विदाय (अम्लता)[१] उत्पन्न होती है; मेद में अत्यन्त द्रवत्व (अतएव शैथिल्य) आ जाता है; अस्थियों मज्जा का संचय नहीं हो पाता, शुक्र की उत्पत्ति (पुष्टि नहीं होती), ओज का क्षय होता है। विकृतियों से आविष्ट हुआ पुरुष हर्ष रहित (आनन्द तथा कामेच्छा से रहित)[२] हो जाता है; अवसन्न (स्फूर्ति रहित) हो जाता है; निद्रा, तन्द्रा, आलस्य से व्याप्त और उत्साह शून्य होता है; (श्रम के बिना अथवा अल्पमात्र श्रमवश, अथवा दैन्य के कारण) वह दीर्घ श्वास लेता है; शरीर और मांनस (उभयविध) चेष्टाओं के करने में असमर्थ होता है; उसकी स्मृति, बुद्धि और कान्ति लुप्त हो जाती है; (अन्ततः सर्व) रोगों का अधिष्ठान-भूत होकर वह पूर्ण आयु नहीं प्राप्त कर पाता—अकाल में ही मृत्यु का कवल होता है।

—सो, अहित ग्राम्याहार-विहार के उपर्युक्त दोषों को दृष्टि में रखते हुए पुरुष को इनका परित्याग कर रसायनों का सेवन करना चाहिये।

अन्यत्र अत्रिपुत्र ने पिप्पली, क्षार और लवण इन तीनों द्रव्यों के अतियोग को अन्यद्रव्यापेक्षया सविशेष गर्हित कहा है। पिछले दो द्रव्यों के अतियोग के विषय में ऊपर जो वचन दिए गये हैं उसे कुछ विशेष होने के कारण यह वचन भी आगे दिया जाना उचित है।



१—वि पूर्वक दह धातु अम्लपाक के अर्थ में आयुर्वेद में प्रयुक्त है। विदाह, विदग्धाजीर्ण आदि संज्ञाओं में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ। 'रक्त को विदग्ध करता है' इस वचन में कही विदग्धता का अर्थ भी 'रक्त में अम्लता उत्पन्न करता है' यही लेना चाहिए। अंग्रेजी में इस लक्षण के लिए एसिडोसिस (Acidosis) या एसिडीमिआ (Acidaomia) शब्द आता है। उसके पर्यायरूप में इस वचन के अनुसार रक्त-विदाह संज्ञा रची जा सकती है।

२—ग्लै और म्लै धातुओं का अर्थ हर्षक्षय है और हर्ष के दो अर्थ हैं—**आनन्द तथा रति-सुख की इच्छा।**

पिप्पल्यादि-द्रव्यत्रयस्यातियो-वर्जनोपदेशः

अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि नात्युपयुंजीताधिकमन्येभ्यो द्रव्येभ्यः,; तद्यथा—पिप्पली, क्षार;; लवणमिति ॥ —च० वि० १।१।८

X X अधिकमन्येभ्य इति वचनादन्यदपि चित्रकभल्लातकाद्येवंजातीयं नात्युपयोक्तव्यं, पिप्पल्यादिद्रव्यं त्वन्येभ्योऽप्यधिकमत्युपयोगे वर्जनीयमिति दर्शयति ।

—चक्रपाणि

—यद्यपि चित्रक, भल्लातक आदि इस प्रकार के कई द्रव्य हैं जिनका अतियोग (अति उपयोग) न करना चाहिए तथापि ऐसे अन्य द्रव्यों की अपेक्षया तीन द्रव्य हैं जिन का अतियोग विशेष वर्जनीय है । वे द्रव्य हैं **पिप्पली क्षार** और **लवण** ।

प्रत्येक द्रव्य की वर्जनीयता का हेतु—पुरःसर प्रतिपादन करते हुये आगे आचार्य स्वयं कहते हैं ।—

पिप्यल्यो हि कटुकाः सत्यो मधुरविपाका गुवर्यो नात्यर्थ स्निधोष्णाः प्रक्लेदिन्यो भेषजाभिमताश्च ।[1] ताः सद्यः शुभाशुभकारिण्यो भवन्ति,[2] आपातभद्राः प्रयोगसमसाद्गूण्यात्,[3] दोषसचयानुबन्धः । सततमुपयूज्यमाना हि गुरुप्रक्लेदित्वाच्छ्लेष्माणमुत्क्लेशयन्ति, औष्ण्यात्पित्तं, न च वातप्रशमनायोपकल्पन्तेऽल्पस्नेहोष्णभावात् । योगवाहिन्यस्तु खलु भवन्ति ।[4] तस्मात्पिप्पलीर्नात्थुपयुंजीत ।

१—**भेषजाभिमताश्च सद्य इतिच्छेदः—चक्रपाणि** । सद्यः का अन्वय **'भेषजाभिमताः'** के साथ है ।

२—**शुभाशुभकारिण्यो भवन्तीति सद्यः शुभकारिण्यः, अत्यभ्यासप्रयोगे त्वशु भकारिण्यः चक्रपाणि ।**

३—**प्रयोगसमसाद्गुण्यादिति समस्य प्रयोगस्य सद्गुणत्वात् । समेऽल्पकालेऽल्पमात्रे च प्रयोगे सद्गुणा भवन्तीत्यर्थः —चक्रपाणि ।**

चरक में इस प्रकार पदों के स्थान का अनियम प्रायः देखा जाता है । ऊपर घृत च० चि० २।३ की टीका में चक्रपाणि कहता है—**उत्तमानि प्रभादीनि करोतीति प्रभावर्णस्वरोत्तमकरम् । एवंजातीयश्च पूर्वनिपाताऽनियमोऽप्रतिबन्धेन चरकेऽस्ति । स मयूरव्यसकादिपाठाद् द्रष्टव्यः ॥**

४—**योगवाहित्वेन कटुकानामपि पिप्पलीनां दृष्यप्रयोगेषु योगः, तथा ज्वरगुल्मकुष्ठहरादिप्रयोगेषु ज्वरादीन्हन्तिपिप्पली— चक्रपाणि ।**

—पिप्पली योगवाही होने से ही इनके कटु (अतएव शुक्रक्षयकारी) होते हुये भी वृष्य योगों में उपयोग होता है । योगवाही होने से ही ज्वर, गुल्म, कुष्ठ आदि के हारक योगों में पिप्पली ज्वरादि को शान्त करती है ।

—पिप्पली कटुरस होती हुई मधुर-विपाक है । इसका अतियोग न हो तो अपने इन गुणों के कारण दोषों का प्रशमन करती है । परन्तु इनका अभ्यास किया जाए तो ये दोषों की प्रकोपक होती हैं । कारण, ये गुरु अति स्निग्ध और न अति उष्ण एवं अति क्लेदन स्वभाववाली होती है । इनका तात्कालिक (दीर्घकालिक नहीं) उपयोग किया जाय तभी ये औषधतया अभीष्ट होती हैं । इनका तात्कालिक उपयोग शुभंकर तथा अल्यभ्यास से प्रयोग अशुभकारी होता है । इनका सम नाम अल्पकालपर्यन्त और अल्पमात्रा में उपयोग गुणवान् होने से आपाततः (प्रारम्भ में ही) कल्याणकारी होती हैं । परन्तु इनके अनुबन्ध अर्थात् चिरकाल प्रयोग से दोषों का संचय होता है । तथाहि इनका सतत निरन्तर, चिरकाल) उपयोग किया जाय तो गुरु और प्रक्लेदन स्वभाव के कारण ये श्लेष्मा को उत्क्लिष्ट करती हैं—स्थान भ्रष्ट कर शरीर से बाहर फेंकती हैं । इसी प्रकार अपने औष्ण्य (उष्णता) से ये पित्त का उत्क्लेश करती हैं । परन्तु स्नेह और उष्णगुण अल्प होने से ये बात का तो प्रशमन नहीं कर पातीं (नाम, तीन में दो दोषों को कुपित करती हैं और तीसरे को वह कुपित हो तो शान्त नहीं कर पातीं) । तथापि ये योगवाही होती हैं । —अन्य द्रव्यों के साथ संयोग होने पर उनके गुणों को ग्रहण कर परिणाम में कल्प की गुण-बुद्धि करने वाली होती हैं । अतियोग के इन दोषों को देखते हुये पिप्पलियों का अतिप्रयोग न करना चाहिये ।

पिप्पली के अतियोग के नियम का अपवाद दर्शाता हुआ टीकाकार चक्रपाणि कहता है—

अयं च पिपल्यतियोगनिषेधोऽपवादं परित्यज्य ज्ञेयः । तेन, पिप्पलीरसायनप्रयोगस्तथा गुल्मादिषु पिप्पलीवर्धमानकप्रयोगो न विरोध-मावहतीति । उक्ते हि विषये यथोक्तविधानेन निर्दोषा एव पिप्पली इति ऋषिवचनादुन्नीयते ॥

—पिप्पलियों के अतियोग का यह प्रतिषेध अपवाद-विषय से अन्यत्र लागू होता है । इसी से, पिप्पली रसायन-प्रयोग तथा गुल्मादि रोगों में पिप्पली-वर्धमान प्रयोग का विधान बिरोधावह (विरोधोत्पादक) नहीं हैं । इन विषयों में (इन रोगों में) उक्त विधान को देखते पिप्पलियाँ निर्दोष ही हैं, ऐसा ऋषिवचन से अनुमान होता है ।

अस्तु । पिप्पलियों के अतियोग के दोषों के अनन्तर अब द्वितीय द्रव्य क्षार के अतियोग की हानियाँ देखिये—

क्षारः पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्यलाघवोपपन्नः क्लेदयत्यादौ पश्चाद्विशोषयति (पश्चाद्विशोषयति, दहति, पचति, भिनत्ति संघातं—इति पाठान्तरम्) । स पचनदहनभेदनार्थमुपयुज्यते। सोऽतिप्रयुज्यमानः केशाक्षिहृदयपुंस्त्वोपघातकरः संपद्यते।

—पिप्पली योगवाही होने से ही उनके कटु (अतेव शुक्रक्षयकारी) होते हुए भी वृश्य योगों में उपयोग होता है । योगवाही होने से ही ज्वर, गुल्म, कुष्ठ आदि के हारक योगों में पिप्ली ज्वरादि को शान्त करती है :

ये ह्येनं ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्चते त आन्ध्यषाण्ढ्यखालित्यपालित्यभाजो हृदयापकर्तिनश्च[1] भवन्ति; तथा प्राच्याश्चीनाश्च । तस्मात्क्षारं नात्युपयुञ्जीत ॥

—च० वि० १।२०

—क्षार (पापड़खार, साजीखार आदि) उष्णता, तीक्ष्णता, और लघुता से युक्त होता है । यह क्लेदन करता है-सर्वाङ्ग में या एकाङ्ग में जहाँ भी जाता है वहाँ द्रवत्व की वृद्धि कर देता है, परन्तु पीछे से शुष्कता उत्पन्न करता है (पीछ से शुष्कता, दाह, पाक तथा शैथिल्य उत्पन्न करता है—पाठान्तर) । इसका उपयोग पचन (फोड़े आदि को पकाना), दाहकर्म तथा भेदन के लिये होता है । इसका अति प्रयोग किया जाए तो यह केश, चक्षु, हृदय तथा पुंस्त्व का विघातक होता है । तथाहि, जो ग्राम, नगर, निगम (कस्बा) या जनपद (देहात) इसका निरन्तर उपयोग करते हैं वे अन्धता, षण्ढता (क्लीबता, पुंस्त्वनाश), खालित्य (गंजापन), पालित्य (बाल अकाल में श्वेत होना—पक जाना) इनसे युक्त तथा हृदय में परिकर्तनाकार वेदना से पीड़ित होते हैं; उदाहरणतया प्राच्य तथा चीन देशों के पुरुष । सो, क्षार का अति उपयोग न करना चाहिए ।

अब तृतीय द्रव्य लवण के अनियोग की हानियों पर दृष्टि निक्षेप करिए—

लवणं पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्योपपन्नमनतिगुर्वनतिस्निग्धमुपक्लेदि विस्रसनसमर्थमन्नद्रव्यरुचिकरमापातभद्रं प्रयोगसमसादगुण्याद्दोषसंचयानुबन्धम् । तद्रोचनपाचनोपक्लेदन विस्रंसनार्थमुपमुज्यते । तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानि[2]—शैथिल्यदौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति । ये ह्येनद्ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति । तद्यथा-बाह्लीकसौराष्ट्रिकसैन्धवसौवीरकाः, ते हि पयसाऽपि सह सदा लवणमश्नन्ति । येऽपीह[3] भूमेरत्यूषरा देशास्तेष्वोषधिवीरुद्वनस्पतिवानस्पत्या न जायन्तेऽल्पतेजसो वा भवन्ति, लवणोपहतत्वात् । तस्माल्लवणं नात्युपयुञ्जीत[4]। ये ह्यतिलवणसात्म्याः[5] पुरुषास्तेषामपि खालित्यपालित्यानि वलयश्चाकाले भवन्ति ।

—च० वि० १।२१

१— हृपयापकर्तिन इति हृदयपरिकर्तनरूपवेदनायुक्ताः । **—चक्रपाणि**

२— ग्लानिर्मांसापचयो हर्षक्षयो वा ॥ **—चक्रपाणि**

३— न केवल लवणातियोगः शरीरोपघातक, किन्तु भूमेरत्युपघातकर इत्याह—येऽपीहेत्यादि । ऊषरा इति लवणप्रधानाः ॥ **—चक्रपाणि**

४— लवणं नात्युपयुञ्जीतेति नातिमात्रं लवणं सततमुपयुञ्जीत । अन्नद्रव्यसंस्कारकं तु स्तोकमात्रमभ्यासेनाप्युपयोजनीयमेव ॥ **—चक्रपाणि**

५—शाह्लीकादिव्यतिरिक्तेऽपि देशे येऽतिलवणमश्नन्ति तेषामपि दोषानाह-ये हीत्यादि । एतेन चान्यत्रापि देशेऽतिमात्रलवणसात्म्यानां लवणात्युपयोगकृत एव शैथिल्यादिदोष उन्नीयते, न देशस्वभावकृतः ॥

—लवण उष्ण, तीक्ष्ण, किंचित् गुरु, किंचित् स्निग्धः, स्रोतों, धातुओं आदि में क्लेद (द्रवत्व) उत्पन्न करने वाला; (अपने इस गुण द्रवत्व, क्लेदन के कारण ही महास्रोत आदि स्रोतों के बाह्य द्रव्य के) विस्रंसन (अनुलोमन) में समर्थ-वाह्य द्रव्यों का वहन समीचीन करने में उपयोगी एवं अन्न-द्रव्य पर रुचि उत्पन्न करने वाला है । इसका अल्प प्रयोग किया जाय तो ही गुणकारी होने से यह आपाततः (आदि में) आरोग्य प्रद होता है, परन्तु अनुबन्ध नाम निरन्तर और अति प्रयोग से दोषों के संचय का निमित्त होता है ।

—लवण का उपयोग रोचन (रुचि-उत्पादन), पाचन, उपक्लेदन तथा विस्रंसनार्थ होता है । अति उपयोग किये जाने पर यह शरीर में ग्लानि (मांसक्षय या हर्षक्षय) तथा दौर्बल्य उत्पन्न करने वाला होता है । तथाहि, जो ग्राम, नगर, निगम और जनपद इसका सतत उपयोग करते हैं वे अत्यधिक ग्लानियुक्त, शिथिल (द्रवाधिक) मांस और रक्तवाले, एवं क्लेश के (कायिक, मानसिक श्रम और रोगादि के प्रहार के) सहन में असमर्थ होते हैं । तद्यथा, वाह्लीक, सौराष्ट्र, सिन्धु[1] और सौवीर देश के निवासी, ये लोग दुग्ध के साथ भी सदा लवण का सेवन करते हैं ।

—लवण का अतियोग न केवल प्राणिशरीर के लिए हानिकारक है, भूमि को भी हानि करता है । पृथ्वी पर जो ऊसर (लवण-प्रधान, खारे) स्थान होते हैं वहाँ लवण कृत बाधा के कारण औषधि (धान्य), वनस्पति और वानस्पत्य होते ही नहीं अथवा अल्पवीर्य होते हैं । अतः लवण का अति उपयोग न करना चाहिये ।

—बाह्लीकादि-भिन्न देशों में भी जो पुरुष अत्यन्त लवण का सेवन करते हैं वे अकाल में खालित्य, पालित्य और वलियों (झुर्री, त्वक्संकोच) से आक्रान्त होते हैं ।

इन टीकाओं का अर्थ ऊपर दिया है ।

सैंधव शब्द की व्युत्पत्ति

१—सिन्धु नदी प्रसिद्ध है । इसका समुद्र से जहाँ संगम होता है उसके समीपवर्ती प्रदेश को सिन्धु कहने का प्रचार प्राचीनकाल से है । जहाँ ख्यूडा की लवण की खानें हैं, वहीं अति पुराकाल में सिन्धु और समुद्र का संगम था, अतः वहीं प्रदेश सिन्धु कहाता था । उसमें स्थित खानों से निकले (खनिज) लवण की और उसके साम्य से खनिज लवण मात्र को सैंधव कहते हैं । आयुर्वेद के विद्यार्थी को सैंधव की यह व्युत्पत्ति स्मरण रखनी चाहिए ।

सिन्धु शब्द समुद्र के लिए प्रख्यात है । इससे सामान्यतया यही कल्पना होती है कि समुद्र के लवण के लिए सैंधव नाम क्यों नहीं ? उक्त स्पष्टता से इस नाम का निरसन होता है । समुद्रोत्थ लवण के लिए सामुद्र नाम है ।

मधुरादि षड्रसों के गुण-कर्म तथा अतियोग की हानियों के प्रसंग में आचार्यों ने लवण के अतियोग की हानियों का पुनः विचार किया है। वह भी इस प्रकरण में द्रष्टव्य है। अतः नीचे दिया जाता है।

स (लवणो रसः) एवंगुणोऽप्येकएवाऽत्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्पयति, मूर्च्छयति ('मोहयति' इति पाठान्तरम्), तापयति, दारयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति, शोथान् स्फोटयति, दन्तांश्च्यावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, वलिपलितखालित्यमापादयति, अपि च लोहितपित्ताम्लपित्तवीसर्पवातरक्तविचर्चिकेन्द्रलुप्तप्रभृतीन् विकारानुपजनयति ॥

—यह लवणरस इन गुणों वाला है तथापि इसका एक का ही और अत्यधिक उपयोग किया जाए वो यह पित्त को प्रकुपित करता है—रक्त की वृद्धि (प्रकोप) करता है; तृषा तथा मूर्च्छा (संज्ञानाश; पाठान्तर में मोह—विचित्तता) को उत्पन्न करता है; ताप तथा दारण (त्वचादि में चीरे) करता है, मासों को फाड़ देता है; कुष्ठों (त्वग्विकारों) में गलाव उत्पन्न करता है; विष की वृद्धि करता है; शोथों को फाड़ता है; दन्तों को च्युत (शिथिल, हिलना) करता है; पुंस्त्य को नष्ट करता है; इन्द्रियों को अपने कार्य में असमर्थ करता है; वली, पलित और खालित्य उत्पन्न करता है; अथ च रक्तपित्त (किसी मार्ग से रक्तस्राव) अम्लपित्त, विसर्प, वातरक्त, विहर्चिका[1], इन्द्रलुप्त प्रभृति रोगों को उत्पन्न करता है।

सुश्रुत ने भी लवण के अतियोग की गर्हणा करते लिखा है।

स (लवणो रसः) एवंगुणोऽप्येकएवाऽत्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डूकोठशोफवैवर्ण्यपुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपतापमुखाक्षिपाकरक्तपित्तवातशोणिताम्लीकाप्र-भृतीनापादयति[2] ॥

—लवण रस इन गुणोंवाला होते हुए भी उसका अकेले का ही अति सेवन किया जाए तो सर्वाङ्ग—कण्डू, कोठ, शोथ, वैवर्ण्य (प्राकृत से भिन्न वर्ण होना), शुक्रक्षय; इन्द्रियों की स्व-स्वकर्महानि, मुखपाक, अक्षिपाक, रक्तपित्त, वातरक्त, अम्लोद्गार आदि रोगों को जन्म देता है।

इन रोगों का उपचार करते हुये वैद्य लवण का परित्याग कराते हैं। कारण, चिकित्सा का संक्षेप में सूत्र ही है।

संक्षेपनः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्। सु० उ० १।२५

१—पैरों में जैसे चीरे पड़ने से विपादिका होती हैं ऐसे ही हथेली के विकार को विचर्चिका कहा है। देखिए : सु० नि० ५।१३।

२—कोठःपिडकाः पुंस्त्वोपघातः शुक्रक्षयः, इन्द्रियोपतापः चक्षुरादीनां स्वकर्मगुणहानिः, अम्लीकेति अम्लोद्गारः। —डल्हण

—निदान (रोग के कारण भूत आहार, विहार, चेष्टा, देश काल और औषध) का परित्याग यही संक्षेप में क्रियायोग—उपचार है ।

अष्टाङ्ग—संग्रह में लवण के अतियोग से होने वाले रोगों में किटिभ (कुष्ठभेद), आक्षेप, क्षत (घाव) में वृद्धि, मेदवृद्धि, बलक्षय और ओजःक्षय ये परिणाम तथा अष्टांङ्ग हृदय में कुष्ठ विशेष गिनाए हैं ।

इस प्रसंग में यह भी स्मरण करना चाहिए कि, आज के निसर्गोपचारक प्रायः लवण का परित्याग कराते हैं, उसका मूल आयुर्वेद में ही है । शोचनीय यही है कि, सद्वैद्य भी लवण के अतियोग के इन अवगुणों का बोध आयुर्वेद से न लेकर निसर्गोपचार से लेते हैं ।



अथातो जनपदोद्ध्वंसनीयं विमानं व्याख्यास्यामः

इति ह स्माहः भगबानात्रेयः ॥ —च० वि० ३।१।२

ग्रामवास, ग्राम्याहार तथा ग्राम-सुलभ आचार-विचार से रोगों के प्रादुर्भाव और प्रसार हुआ, यह इन्द्र के पूर्वोक्त प्रवचन में कहा गया है। इस वस्तु का विशेष विवेचन अत्रिपुत्र ने अन्यत्र जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय में किया है। यह अध्याय आयुर्वेद के कतिपय सिद्धान्तों का प्रकाशक होने से इसका पूर्वार्ध यहाँ उद्धृत किया जाता है।

—भगवान् आत्रेय ने इस विषय में कहा है।

अध्याय की अवतरणिका (प्रवेश) में **चक्रपाणि** कहते हैं।—

द्विविधो हेतुर्व्याधिजनकः प्राणिनां भवति साधारणोऽसाधारणश्च। तत्रासाधारणं प्रतिपुरुषनियतं वातदिजनकमाहाराद्यभिधाय बहुजनसाधारणं वातजलदेशकालरूपं साधारणरोगकारणमभिधातुं जनपदोद्ध्वंसनीयोऽभिधीयते ॥

—च० चि० ३।१।२ पर

—प्राणियों में रोगोत्पादक कारण दो प्रकार के होते हैं—**साधारण** और **असाधारण**[१]। इनमें प्रत्येक पुरुष में मर्यादित वातादि के प्रकोपक आहार आदि असाधारण (व्यक्तिगत) कारण का विवेचन कर, अब बहुजन (जनता) में साधारण अर्थात् समान भाव से कारण रूप में व्याप्त, रोगों के साधारण कारण—वात, जल, देश और काल—का प्रतिपादन करने के लिये जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय का उपदेश किया जाता है।

जनपदमण्डले पञ्चालक्षेत्रे द्विजातिवराध्युषिते काम्पिल्यराजधान्यां भगवान् पुनर्वसुरात्रेयोऽन्तेवासिगणपरिवृतः पश्चिमे धर्ममासे गङ्गातीरे वनविचारमनुविचरञ्छिष्यमग्निवेशमब्रवीत् ॥ —च० वि० ३।३

—द्विजश्रेष्ठों से वास किये गये पंचाल देश के जनपद (वसति-स्थान) के अन्तर्गत काम्पिल्यों की राजधानी में अन्तेवासियों के समूह से परिवृत हो, गङ्गा के तीर पर एक वन से वनान्तर में विचरण करते हुये[२], ग्रीष्म ऋतु के अन्तिम मास (ज्येष्ठ मास) में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय शिष्य अग्निवेश को बोले।—

१—हाईजीन के आधुनिकोक्त दो भेदों के लिये इस प्रकरण से प्राचीन पद ग्रहण किए जा सकते हैं— पर्सनल के लिये असाधारण और पबलिक के लिए साधारण।

२—पृष्ठ ५८ पर कहा है कि काय-चिकित्सक देश-देशान्तर में विचरण करते हुए ही चिकित्सा करते थे, उसका एक उदाहरण यह प्रकरण है। इस प्रसंग में यह भी स्मरण किया जा सकता है कि शल्यतन्त्र शस्त्रनिपात के लिए भी 'चर' धातु का ही व्यवहार हुआ है। तद्यथा-अश्मरी-छेदन के प्रकरण में सु०चि० ३।३३ में।

दृश्यन्ते हि खलु सौम्य नक्षत्रग्रहगणचन्द्रसूर्यानिलानलानां दिशां चाप्रकृतिभूतानामृतुवैकारिका भावाः । अचिरादितो भूरपि च न यथा—वद्रसवीर्यविपाकप्रभावमोषधीनां प्रतिविधास्यति । तद्वियोगाच्चातंकप्रायता नियता । तस्मात् प्रागुद्ध्वंसात् प्राक् च भूमेर्विरसीभावादुद्धरध्वं सौम्य भैषज्यानि, यावन्नोपहतरसवीर्यविपाकप्रभावाणि भवन्ति । अयं चैषां रसवीर्यविपाकप्रभावानुपयोक्ष्यामहे ये चास्माननुकाङ्क्षन्ति यांश्च वयमनुकांङ्क्षामः । न हि सम्यगुद्धृतेषु सौम्य भैषज्येषु सम्यग्विहितेषु सम्यक्चावचारितेषु जनपदोद्ध्वंसकराणां विकाराणां किंचित्प्रतीकारगौरवं भवति ॥

--च० वि० ३।४

—सौम्य, देखते हो नक्षत्र, ग्रहगण, चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि और दिशाएँ विकृत स्वरूपवाली हो गई हैं और इनमें ऋतु (काल, साथ ही जल, देश और वात) को विकृत करने वाले चिन्ह प्रकट हुए हैं । इसी कारण पृथ्वी औषधियों (अन्न और भेषज) में यथावत् (जिसमें जो और जितना होना चाहिए वैसा) रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव उत्पन्न न कर पाएगी । इन रसादि के विरह से (प्राणियों में) रोगों की प्रायिकता (बाहुल्य) निश्चित होने वाली है । अतः यह उदध्वंस (जनपदव्यापी रोग) प्रादुर्भूत हो उसके पूर्व ही एवं भूमि भी विरस हो जाए (जल आदि भी दूषित हो जाएँ) उसके पूर्व ही, औषध द्रव्यों के रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव (भूमि की विरसता के कारण) कुण्ठित होने को आएँ उसके पूर्व ही उन्हें उखाड़ लो[1] । इनके रस, वीर्य विपाक और प्रभाव का उपयोग हम अपने लिये करेंगे, एवं जो हमें चाहते हैं तथा जिन्हें हम चाहते हैं उनके लिये हम इनका उपयोग करेंगे[2] । सौम्य, औषध-द्रव्यों

१— इस प्रकरण से समझा जा सकता है कि, आचार्य औषध-संग्रह का कार्य भी स्वयं ही करते-कराते होंगे । इससे विद्यार्थियों का औषध-परिचय और कल्पनिर्माण का कार्य कितना दृढ़मूल होता होगा इसकी कल्पना की जा सकती है । गुरु के सान्निध्य में यह विद्याभ्यास आज तो स्वप्न की वस्तु हो गया है । इसी से विद्या को पूर्णता भी उतनी नहीं होती । चिकित्सा ही नहीं, अन्य विषयों की भी यही दुःस्थिति है ।

२— टीका में **चक्रपाणि** कहता है । —**ये चास्माननुकाङ्क्षन्ति ये चास्मान् भिसजोऽनुकाङ्क्षन्तीत्यर्थः; यांश्च वयमनुकाङ्क्षामश्चिकित्स्यत्वेन । एतेन ये वैद्यमनुकांङ्क्षन्ति ते वैद्यप्रियत्वेन साध्याः, असाध्या हि वैद्यद्विष उक्ताः । वैद्याश्च यानिच्छन्ति ते साध्यरोगा एव; असाध्यान् हि वैद्या नेच्छन्ति** ॥—जो हमें चाहते हैं का अर्थ है हम वैद्यों को जो चाहते हैं तथा जिन्हें हम चाहते हैं का अर्थ है, जिन्हें हम चिकित्सा के रूप में चाहते हैं । तात्पर्य, जो वैद्य को चाहते हैं वे वैद्य-प्रेमी होने से साध्य होते हैं; कारण, वैद्यों का द्वेष करने वाले असाध्य कहे गये हैं । (व्यवहार में देखते हैं, वैद्य पर— चिकित्सक पर— जिसे श्रद्धा होती है वह धूल से धूल जैसी सामान्य औषध से भी-अच्छा हो जाता है । इससे रोगों की उत्पत्ति और निरोध में मन की कारणता भी स्पष्ट समझी जा सकती है) । दूसरी ओर वैद्य जिन्हें चाहते हैं वे साध्य ही होते हैं । असाध्यों को वैद्य हाथ में लेना ही नहीं चाहते । (असाध्य योग के लिये आयुर्वेद में शब्द ही त्याज्य, प्रत्याख्येय आदि हैं) ।

का सम्यक् उद्धारण हुआ हो, नाम जिस काल उनके रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव का परिपाक संपूर्ण हो जाए उसी काल में उन्हें उखाड़ा गया हो, उनके कल्पों का निर्माण सम्यक् (विधि पुरःसर) किया गया हो एवं उनकी योजना भी सम्यक् (निदानादि की परीक्षा करके) की गई हो तो जनपदोद्ध्वंसक विकारों के प्रतिकार में कुछ भी कठिनाई उपस्थित नहीं होती।

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच-उद्धृतानि खलु भगवान् भैषज्यानि, सम्यग्विहितानि, सम्यगवचारितानि च। अपितु खलु जन पदोद्ध्वंसनमेकेनैव व्याधिना युगपदसमानप्रकृत्याहारदेहबलसात्म्यसत्त्ववयसां मनुष्याणां कस्माद्भवति ॥

—च० वि० ३।५

—इस प्रकार कहते भगवान आत्रेय को अग्निवेश बोला- "भगवान्, औषध हमने संचित कर लिए, उनका यथाविधि कल्प-निर्माण भी किया तथा सम्यक् योजना भी की[1]। परन्तु (यह शङ्का इस प्रसंग में होती है कि) जिनकी प्रकृति, अन्नपान, देह-बल सात्म्य, सत्त्व (मनोबल) तथा वय भिन्न हैं (अतएव, जिन्हें एक ही रोग से पीड़ित न होना चाहिए ऐसा हमें प्रतीत होता है) ऐसे मानवों का एक ही जाल में एक ही रोग से जनपदोद्ध्वंस कैसे होता है ?

तमुवाच भगवानात्रेयः-एवमसामान्यवतामप्येभिरग्निवेश प्रकृत्यादिभिर्भावैर्मनुष्याणां येऽन्ये भावाः सामान्यास्तद्वैगुण्यात् समानकालाः समानलिङ्गाश्च व्याधयोऽभिनिर्वर्तमाना जनपदमुद्ध्वंसयन्ति। ते तु खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति; तद्यथा—वायुरुदकं देशः काल इति ॥

—च० चि० ३।६

—भगवान् आत्रेय उसे बोले-अग्निवेश, तुम्हारे कहे इन प्रकृति आदि असामान्य (असमान भावों वाले मनुष्यों में भी जो अन्य सामान्य (समान) भाव हैं उनके वैगुण्य (वैपरीत्य, विकृति) के कारण समान काल में समान लिङ्गों (लक्षणों) वाले रोग उत्पन्न होकर जनपदों का उद्ध्वंस करते हैं। इस प्रकार जनपदों में जो भाव (पदार्थ) सामान्य होते हैं वे ये हैं— **आयु जल देश** और **काल**।

१— **उद्धृतानीति वचनमभूते भूतवच्चेति प्रयोगाद् बोद्धव्यं, यथा-अचिरकर्तव्ये कृतमिति वदन्ति, नहि वचनकाल एव औषधीनामुद्धरणं संभवति-चक्रपाणि**। यहाँ 'संचित कर लिए' इत्यादि वचन जो भूत नहीं हुआ उसमें भूतवत् व्यवहार के अनुसार किया गया समझना चाहिए। जिस काम को निकट भविष्य में करना हो उसके लिये 'किया' गया ऐसा भूतकालिक पद-प्रयोग होता है। गुरुजी के कहते ही औषधों का उद्धरण संभवित नहीं है। (अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी निकट भविष्य के लिये ऐसा भूतकालिक प्रयोग होता है)।

तत्र वातमेवंविधमनारोग्यकरं विद्यात्; तद्यथा—यथर्तुविषममतिस्तिमितमतिचलमतिपरुषमतिशीतमत्युष्णमतिरूक्षमत्यभिष्यन्दिनमतिभैरवारावमतिप्रतिह-तपरस्परगतिमतिकुण्डलिनमसात्म्यगन्धबाष्पसिकतापांशुधूमोहतमिति ॥—च० वि० ३।६

—वात इस प्रकार का (आगे कहे लक्षणों वाला) हो तो उसे अनारोग्यकर (जनपदोद्ध्वंसकर) माने, यथा ऋतु के प्राकृत लक्षणों से भिन्न (विषम); अति स्थिर या अति चल, अति परुष (त्वचा को विदीर्ण करने वाला), अति शीत या अति उष्ण, अति रूक्ष या अति अभिष्यन्दी (जिसकी विद्यमानता में प्रस्वेद न सूखने शरीरावयव क्लिन्न रहें ऐसा), अत्यन्त भयंकर शब्द वाला; जिसकी गति परस्पर (आमने-सामने से आते वायु के साथसंघर्ष से) अटक जाए ऐसा; अति कुण्डलित (वात्या-चक्रवाला); एवं असात्म्य (सामान्यतया न दीखने वाले तदा अहित) गन्ध, बाष्प (जलकण), रेती; धूली के कण तथा धूम से व्याप्त ।

उदकं तु खल्वत्यर्थविकृतगन्धवर्णरसस्पर्शक्लेदबहुलमपक्रान्त जलचरविहङ्गमुपक्षीणजलेशयप्रीतिकरमपगतगुणं विद्यात् ।

—च० वि० ३।६

—जल जो अत्यधिक विरूप गन्ध, वर्ण, रस और स्पर्शवाला; अति क्लेदयुक्त (जिसके तन्तु छूटे ऐसा); जल-विहार पक्षी जिससे दूर भागें ऐसा, जलचर जीव जिसके अति क्षीण (कृश हो गए हों ऐसा तथा अप्रीतिकर (स्वादु न लगने वाला) हो उसे गुणहीन (अतएव जनपदोद्ध्वंसक) समझना चाहिए ।

देशं पुनः प्रकृतिविकृतिवर्णगन्धरसस्पर्श क्लेदबहुलमुपसृष्टं सरीसृपव्यालमशकशलभमक्षिकामूषकोलूकश्माशानिकशकुनिजम्बूकादिभिस्तृणोलूपोपवनवन्तं प्रतानादिबहुलमपूर्ववदवपतितशुष्कनष्टशस्यं धूम्रपवनं प्रध्मातपतत्रिगणमुत्क्रुष्ट श्वगणमुद्भ्रान्तव्यथित विविधमृगपक्षिसंघमुत्सृष्टनष्टधर्मसत्यलज्जाचारशीलगुणजनपदं शश्वत्क्षुभितोदीर्णसलिलाशयं प्रततोल्कापातं निर्घातभूमिकम्पमतिभयारावरूपं रूक्षताम्रारूणसिताभ्रजालसंवृतार्कचन्द्रतारकमभीक्ष्णं ससंभ्रमोद्वेगमिव सत्रासरुदितमिव सतमस्कमिव गुह्यकाचरितमिवाक्रन्दितशब्दबहुलं चाहितं विद्यात् ॥

—च० वि० ३।६

—देश (स्थान) जो प्रकृति (प्राकृत-स्वरूप) से विकृत नाम भिन्न वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला; अति क्लेदयुक्त; सर्प; हिंस्र पशु, मच्छर, टिड्डी, मक्खी, चूहा, उल्लू, गृध्र आदि से आक्रान्त[१]; (पहले इतने प्रमाण में न देखे गए) तृणों लताओं तथा उपवनों वाला; प्रतान (शाखा—विस्तार): आदि के आधिक्यवाला; अपूर्व सा (पहले कभी न देखा हो ऐसा) प्रतीत होने वाला; जिसमें शस्य (धान्य) झड़ गया, सूख गया; या नष्ट हो गया हो ऐसा; जिसमें वायु धूमाकर हो ऐसा; पक्षिगण जिसमें चीं-चीं करें ऐसा; कुत्तों के यूथों के

१—इस प्रकरण से जाना जा सकता है कि, मच्छरों, मक्खियों और चूहों से रोगों के संबंध का प्रत्यक्ष प्राचीनों ने किया था । उल्लू, गीदड़ आदि मृत्युभय को पहले से जानकर एकत्र होते हैं ।

आर्त—स्वर से युक्त; विविध मृगों (पशुओं) और पक्षियों के संघ जिसमें व्यथित होकर इधर से उधर चक्कर मारते हों ऐसा; जिसके निवासियों ने धर्म, सत्य; लज्जा; आचार; शील और (अन्य) गुण छोड़ दिये हों अतएव जिसमें ये धर्मादि नष्ट हो गये हों ऐसा: जलाशय जिसके निरन्तर क्षुभित और उच्छलित हों ऐसा; एक पर एक जिसमें उल्कापात, वायुओं का संघट्ट तथा भूकम्प हों ऐसा, जिसमें अति भयंकर शब्द तथा रूप प्रत्यक्ष हों ऐसा; रूक्ष ताम्र, अरुण और श्वेत मेघ जाल से जिसमें सूर्य, चन्द्र, और तारे आवृत हों ऐसा; जिसमें आर्तनाद इतना अधिक श्रवणगोचर हो कि जानो वह घबराहट और आतंक से आक्रान्त हो; या त्रासयुक्त रोदन से पीड़ित हो; या जैसे अन्धकाराच्छन्न हो या यक्षों से परिव्याप्त हो उसे (उस देश की) अहित नाम अनारोग्यकर माने ।

कालं तु यथर्तुलिङ्गाद्विपरीतलिङ्ममतिलिङ्ग हीनलिङ्गं चाहितं व्यवस्येत् ॥

—च० वि० ३।१

—उस काल (ऋतु) को अहित—अनारोग्यकर—जनपदोद्ध्वंसकर —समझना चाहिए, जो ऋतुओं के स्वाभाविक लिङ्गों—स्वाभाविक चिह्नों से विपरीत लिङ्गोंवाला हो (जैसे शीतकाल में गर्मी पड़ना, ग्रीष्म में वृष्टि या शीत होना इत्यादि), अथवा जिसमें प्राकृत लिङ्गों का हीनयोग (अल्पता, यथा वर्षा में अल्पवृष्टि, शीत में अल्प शीत इत्यादि) हो ।

इमानेवंदोषयुक्तांश्चतुरो भावाञ्जनपदोद्ध्वंसकरानर् वदन्ति कुशलाः । अतोऽन्यथाभूतांस्तु हितानाचक्षते ॥

—च० वि० ३।११

उक्त दोषों से युक्त इन चार भावों (पदार्थों) को विज्ञ वैद्य जनपदोद्ध्वंसक बताते हैं । इनसे विपरीत लक्षणों वालों को हित (आरोग्यकर) कहते हैं[1] ।

विगुणेष्वपि खल्वेतेषु जनपदोध्वंसकरेषु भावेषु भेषजेनोपपाद्यमानानामभयं भवति रोगेभ्य इति ॥

जनपदोद्ध्वंसकर इन भावों (देश, काल, वायु तथा जल के विगुण (दोषयुक्त, दुष्ट, दूषित) होते हुए भी (पुरुषों को) यदि औषधोपचार का लाभ पहुँचाया जाए तो रोगों का भय नहीं रहता ।

१—स्मरण रहे, ऋतु स्वभाववश प्रत्येक ऋतु में जो तत्तत् दोष का संचय, प्रकोप तथा रोगोत्पत्ति की संभावना होती है उसकी निवृत्ति के लिए शास्त्रोपदिष्ट ऋतुचर्या का अनुष्ठान (पालन) न किया जाय तो प्राकृत लिङ्गवाली ऋतु भी अहित होती है ।

पुरुष कितने नियम से क्यों न रहे, ऋतु अपना प्रभाव यत्किंचित् प्रत्येक पुरुष की प्रकृति पर दिखाती ही है । लोक में इस ऋतुस्वभावज विक्रिया को ऋतुपरिवर्तन जन्य कहने की परिपाटी है ।

भवन्ति चात्र—

वैगुण्यमुपन्नानां[1] देशकालानिलाम्भसाम् ।
गरीयस्त्वं विशेषेण हेतुमत्संप्रवक्ष्यते ।।
वाताज्जलं जलाद्देशं देशात्कालं स्वभावतः ।
विद्याद्दुष्परिहार्यत्वाद्गरीयस्तरमर्थवित् ।।
वाय्वादिषु यथोक्तानां दोषाणां तु विशेषवित् ।
प्रतीकारस्य सौकर्ये विद्याल्लाघवलक्षणम् ।। —च० वि० ३।१३—१५[2]

इस विषय में प्राचीनों के वचन भी हैं—वैगुण्य (दुष्टि) की प्राप्त हुए देश, काल, वायु तथा जल इन चार में कौन विशेष गुण है, यह बात हेतु—सहित बताते हैं । विज्ञ वैद्य को वायु से जल, जल से देश और देश से काल को अधिक गुरु (अधिक क्लेशदायी) समझना चाहिए । कारण, वायु से जल दुष्परिहार्य[2] है, जल से देश और देश से काल । क्योंकि वायु दुष्ट (विगुण) हो तो निर्वात देश (वातरहित स्थान) में रहकर उससे बचा जा सकता है । विगुण जल से इस प्रकार बचाव पाना सुकर (सरल) नहीं है । कारण, देहवृत्ति (जीवन-निर्वाह) के लिये उसका तो सेवन अवश्य करना ही पड़ेगा । विशेष प्रयत्न करके (यथा, उबालकर या दोषहर द्रव्यों का संयोग कर) उसका त्याग करें भी तो उसकी अपेक्षया देश का त्याग तो दुष्कर होता है । देशान्तर जाकर कथंचित् देश का भी परिहार करना संभव हो सकता है, परन्तु काल तो सर्वथा दुष्परिहार्य है— त्यक्तुमशक्य है । अतः काल इन सब में गुरुतम है—सबसे अधिक अनारोग्यकर है; जनपदोद्ध्वंस का प्रमुख कारण है । विज्ञ वैद्य को काल से देश, देश से जल और जल से वायु का परिहार (परित्याग) द्वारा प्रतीकार सुकर होने के कारण उत्तर-उत्तर कारण की अपेक्षया पूर्व-पूर्व कारण को लघु (अल्प क्लेशकर) समझना चाहिए ।

जनपदोद्ध्वंसकराणां रोगाणामुपचारः

इसका अर्थ यह नहीं है कि जनपदोद्ध्वंसकर रोग मानव-प्रयत्नातीत हैं । इनका भी उपचार औषधादि द्वारा किया जा सकता है । इस उपचार का ही उपदेश करते आचार्य आगे कहते हैं—

१—वैगुण्यमित्यादिना दुष्टानां वातादीनां यस्य य उत्कर्षो येन च हेतुना तदाह-स्वभावतो दुष्परिहार्यत्वादिति स्वभावादेव वातापेक्षया जलं दुष्परिहरं भवन्ति, जलाच्च देशः, देशाच्च कालः । वातो हि निर्वातदेशसेवया दुष्टः परिहीयते, न तथा जलम्; तद्धि देहवृत्त्यर्थमवश्यं सेव्यं, जलमपि च यदि महता प्रयत्नेन त्यज्यते, देशस्तु जलापेक्षया दुष्परिहरो भवति, तद्व्यतिरेकेणावस्थातुमशक्यत्वात्; देशोऽपि यदि देशान्तरगमनेन त्यज्यते; कालस्तु सर्वथा त्यक्तुमशक्यं इति सर्वेष्वेव गरीयान् । XX । एतितद्विपर्ययेण लाघवमाह—वाय्वादिष्वित्यादि । प्रतीकारस्य सौकर्य इति यथोक्तविधया वातादिपरित्यागस्य सुकरत्वेनेत्यर्थः ।।
—चक्रपाणि

२—जिससे बचाव करना कठिन हो । परिहार—त्याग द्वारा बचाव ।
— **आबाँयडेन्स**

चतुर्ष्वपि तु दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नराः ।
भेषजेनोपपाद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा ॥
येषां न मृत्युसामान्यं सामान्यं न च कर्मणाम् ।
कर्मपञ्चविधं तेषां भेषजं परमुच्यते ॥
रसायनानां विधिवच्चोपयोगः प्रशस्यते ।
शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः ॥
सत्यं भूते दया दानं वलयो देवतार्चनम् ।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः ॥
हितं जनपदानां च शिवानामुसेवनम् ।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम् ।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहस्या वृद्धसंमतैः ॥
इत्येद्भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम् ।
येषामनियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे[1] —च० वि० ३।१६ः—२३

१—येषां न मृत्युसामान्यमिति न मृत्युजनकदेवसाम्यमस्तीत्यर्थः । सामान्यं न च कर्मणामिति न च मारककर्मसामान्यं येषामस्तीत्यर्थः । केचिद्धि संभूयैव जन्मान्तरे ग्रामदाहादिकर्म कुर्वन्ते स्म; तत्कर्मबलात् संहतमृत्यव एव भवन्ति । किंवानृयगपिमारकं कर्म कृतं केवाञ्चिचिदेककालं विपच्यमानं भवति; तेऽपि समकालमृत्यवो भवन्ति । तत्र, न मृत्युसामान्यमित्यनेनोत्पन्नरिष्टत्वादेव केचिद्साध्या इति दर्शयति; न कर्मसामान्यमित्यनेन केचिच्चाजातरिष्टा अपि नियतमारककर्मवशादसाध्या भवन्तीति दर्शयति । XX । गुप्तिर्मन्त्रादिना रक्षा । अनियत इति वचनेन दुर्बलकर्मारब्धो हि मृत्युः पार्यत एवैवं प्रतिकर्तुमिति दर्शमति ॥ —चक्रपाणि

—मृत्यु-सामान्य का अर्थ मृतञ्चि-जनक दैव का साम्य । कर्म-सामान्य का अर्थ है मारक (मृत्युत्पादक) कर्म का सादृश्य । कारण, जनपद, में स्थित कई जन ऐसे होंगे जिन्होंने गत जन्म में मिलकर (संभूय) ग्राम्य-दाहादि कर्म किया होगा । इस कुकर्म के बल से उनकी मृत्यु एक साथ ही होती है । किंवा, यह भी संभव है कि उन्होंने मारक कर्म पृथक् किए हों, परन्तु उनका परिपाक (फलप्राप्ति) एककालिक (समकालिक हो) । ऐसे पुरुषों की भी मृत्यु समकाल में होती है । 'मृत्यु-सामान्य, शब्द से यह जताया है कि, रिष्ट (अरिष्ट) उत्पन्न होने के कारण ही कई असाध्य होते हैं । 'कर्म-सामान्य' शब्द से यह दर्शाया है कि, कई जन अरिष्ट न उत्पन्न होने पर भी मारक कर्म निश्चित होने से असाध्य होते हैं । गुप्ति का अर्थ है मन्त्रादि से रक्षा । 'अनियत' इस पद से यह द्योतित है कि मृत्यु यदि दुर्बल कर्म से उत्पन्न होने वाला हो तो उसका प्रतिकार भी किया जा सकता है ।

१—पञ्चकर्माणि

संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम् ।
एतावद् भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि ॥ च० वि० ७।३०

—काल पर्यन्त चार भाव (पदार्थ) दूषित हो जाएं (अतएव रोग उत्पन्न करने की स्थिति में हों) तो भी यदि पुरुषों को औषधोपचार से योजित किया जाए तो वे रोगी नहीं होते ।

—जिनके मृत्यु-जनक दैव का सामान्य-नाम उस काल में समान रूप से परिपाक उपस्थित नहीं हुआ है, अथ च जिनका मृत्यु-जनक कर्म का सामान्य नहीं है, उनके लिए (अर्थात् सहस्त्र प्रयत्न करने पर भी जिनकी मृत्यु नियत है उनको छोड़कर शेष नर-नारियों के लिए) पञ्चविध कर्म[1] (पञ्चकर्म) श्रेष्ठ औषध है । इसी प्रकार रसायनों का यथाविधि प्रयोग इनके लिए प्रशस्त है । साथ ही अधोलिखित उपचार उनके लिए समीचीन हैं-देशादि की व्यापत्ति (विकृति) प्रारम्भ होने के पूर्व ही उद्धत (उखाड़ी) औषधों से शरीर का धारण; सत्य, भूतदया, दान, बलि (उपहार), देवपूजा, सद्वृत्त (स्वस्थवृत) का अनुवर्तन (पालन), प्रशम (मनःशन्ति), मन्त्रादि से आत्मरक्षा, शिव (कल्याणकर, आरोग्यपद) जनपदों का सेवन ब्रह्मचर्य का पालन, ब्रह्मचारियों की सेवा (उनका सान्निध्य) जितेन्द्रिय महर्षियों के साथ धर्मशास्त्रों की संभाषा; नित्य धार्मिक सात्त्विक तथा वृद्ध और माननीय पुरुषों के साथ बैठक ।

—वैद्य को रोगमात्र में विधिवत् ये तीन ही कर्म करने होते हैं— **संशोधन** (दोष को शिर, मुख तथा गुद द्वार से बाहर निकालना) **संशमन** (विरुद्ध गुण वाले आहारादि के निरन्तर सेवन द्वारा कुपित दोष के गुणों को दबा देना; यह विषय पहले दर्शाया जा चुका है) तथा **निदान-परिवर्जन** नाम दोष—कारक और रोगकारक कारणों का परित्याग । (अर्थापत्ति से, इसके साथ हित का सेवन) ।

इनमें निदान—परिवर्जन की महत्ता बताते **धन्वन्तरि** ने कहा है ।

संक्षेपतः क्रियायोगो निदान-परिवर्जनम् ।। सु० उ० १।२५

निदानानां दोषकारकहेतूनां रोगकारकहेतूनां च सर्वतो वर्जनम् ।। —**डल्हन**

—निदान नाम दोष-जनक तथा रोग-जनक उभय कारणों के सर्वथा त्याग का ही नाम संक्षेप में चिकित्सा है ।

यह निदान-परिवर्जन पथ्यापथ्य नाम से वैद्यों और पृथग्जनों में (आम जनता में) प्रसिद्ध है । मुस्लिमों के शासन काल में लोलिम्बराज नामक एक विदग्ध वैद्य हो गये हैं । उन्होंने वैद्यजीवन नामक एक अनुभूत योगों का संग्रह कर एक रसपूर्ण ग्रन्थ लिखा है । यह वैद्य समाज में सुप्रचलित है । पथ्यापथ्य के विषय में इस ग्रन्थ में आया यह पद्य कितने ही वैद्यों का कण्ठाभरण बना हुआ है ।

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः ।
पेथ्यऽसति गतार्तस्य किमौषधनिषेवणैः ।।

पथ्य हो—रोगी केवल पथ्य का पालन करे—तो उसे औषधि के सेवन का क्या प्रयोजन ? (क्या आवश्यकता ? कारण केवल पथ्य के सेवन और अपथ्य के परित्याग से ही रोग दूर हो जायेगा) । दूसरी ओर पथ्य न हो —

—उस सुदारुण काल में जिनकी मृत्यु नियत नहीं है (अटकाई जा सकती है) उनकी आयु की रक्षा करने वाला यह उपचार है ।

वाय्वादीनां वैगुण्ये मूलमधर्मः

इति श्रुत्वा जनपदोद्ध्वंसने कारणानि पुनरपि भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच्म-अथ खलु भगवन् कुतोमूलमेषां वाय्वादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते ? येनोपपन्ना जनपदमुद्ध्वंसयन्तीति ॥

—च० वि० ३।२३

कुतोमूलं किंमूलमित्यर्थः **—चक्रपाणि**

रोगी पथ्य का पालन न करे-तो भी औषधि के सेवन का क्या प्रयोजन ? (कारण, सहस्त्र उपचार करने पर भी अपथ्य के सेवन के कारण रोग तो रहेगा ही) ।

शेष दो उपचारों—संशमन और संशोधन —में आयुर्वेद में संशोधन का महत्त्व सविशेष है । अत्रिपुत्र कहते हैं—

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घन—पाचनैः ।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः ॥
दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति ।
रोगाणां प्रसवानां च गतानामागतिर्ध्रुवा ॥

—च० सू० १६।२०-२१

XX कदाचिदित्यन्यहेतुप्राप्त्या । न तेषां पुनरुद्भव इति बलवद्दोषकारणत्वं कारणत्वं विनेति मन्तव्यम् XXX ॥ —चक्रपाणि

—लङ्घन,पाचन (—प्रभृति संशमन उपचार) से जिन दोषों को जीता जाय—शान्त किया जाय— उनका कभी कोप होने की संभावना होती है । परन्तु जिनका संशोधन से विजय किया जाय उनका पुनः उद्भव (उत्पत्ति, रोगजनकता) नहीं होता । (इसी से संग्रहकार ने संशोधन का पर्याय ही अपुनर्भवकर चिकित्सा बताया है) । इस विषय में दृष्टांत देते हैं— दोषों और वक्षों का मूल अनुपहत (अक्षत यथावत) रहे तो रोग और पुष्प चले गये हों तो भी उनका पुनरागमन निश्चित होता है । (तात्पर्य, संशमन से दोषों का मूलोच्छेद न होने से संशमन द्वारा चिकित्सित रोगों का पुनरावर्तन होता है; परन्तु संशोधन से दोष के मूलोच्छिन्न हो जाने से रोग पुनरावृत्त नहीं होता) ।

संशोधन के पाँच भेद हैं—मुख-शिरोगत (ऊर्ध्वजत्रुगत-जत्रु के ऊपर स्थित; जत्रु-ग्रीवा और अंश की सन्धि) दोषों के संशोधन के लिए नस्य या **शिरोविरेचन** आमाशय-गत-दोषों—विशेषतया कफ-के संशोधनार्थ **वमत**, पच्यमानाशययया ग्रहणी में स्थित दोषों-विशेषतया **पित्त**-के संशोधनार्थ **विरेचन** पक्वाशयगत दोषों—विशेषतया वात के—मुख्यतया संशोधन के लिये **निरूह** या **आस्थापन बस्ति**; संशोधन के साथ ही स्नेह प्रधान द्रव्यों का उपयोग कर वायु के संशमन के लिए स्नेह या **अनुवासन बस्ति** । इन बस्तियों का उपयोग यदि शिश्न और योनि में किया जाए तो इन्हें **उत्तर बस्ति** (उत्तर=ऊपर, ये द्वार मल द्वार के ऊपर होने से यह नाम दिया गया है) कहते हैं । शिरोविरेचन आदि पाँच उपचारों को पञ्चकर्म कहा जाता है ।

जनपदोद्ध्वंस के इन कारणों को सुनकर अग्निवेश ने पुनः भगवान् आत्रेय पुनर्वसु को प्रश्न किया—अस्तु, भगवन् इन वायु आदि का वैगुण्य किस कारण होता है, जिससे (जिस कारण से) संयुक्त हो ये जनपद का उद्ध्वंस करते हैं ?

तमुवाच भगवानात्रेयः—सर्वेषामप्यग्निवेश, बाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्म, तन्मूलं चाऽसत्कर्म पूर्वकृतम् । तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव । तद्यथा —यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजानपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति, ततः सोऽधर्म प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते । ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते । तेषां तथाऽन्तर्हितधर्मणामधर्मप्रधानानामक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते । तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति, न वा वर्षति, विकृतं वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति; क्षितिर्व्यापद्यते; सलिलान्युपशुष्यन्ति; औषधयः स्वभावं परिहार्यापद्यन्ते विकृतिम् । तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पृशयाभ्यवहार्यदोषात्[1] ॥ —च० वि० ३।२४

—भगवान आत्रेय उसे बोले—अग्निवेश, वायु आदि में जो वैगुण्य (दुष्टि, रोगजनक स्वभाव) उत्पन्न होता है, उसका कारण प्रजा का ऐहिक (इस जन्म

दोष सर्व शरीर से आकृष्ट होकर उल्लिखित स्थानों में आ जाएँ, जिनसे उनका संशोधन सुकर और संपूर्ण हो, साथ ही संशोधन के कारण शरीर को क्षोभ न हो इस हेतु पूर्व कर्म के रूप में स्नेहन (स्नेह द्रव्यों का आभ्यन्तर उपयोग) तथा स्वेदन (विविध उपायों से प्रस्वेद लाकर स्रोतों को विकसित करना) किए जाते हैं ।

संशोधन का ऊपर जो महत्त्व प्रतिपादित किया है, उससे पञ्च कर्म का आयुर्वेद में क्या स्थान है, यह समझा जा सकता है । लुप्त आयुर्वेद के पुनर्जनन के लिये पञ्चकर्म का पुनः प्रसार करना हमारा एक कर्तव्य है ।

१—तस्यमूलमधर्म इति ऐहिकमधर्म दर्शयति । तन्मूलं चेति तस्य वातादिवैगुण्यस्य मूलं पूर्वकृतं च कर्म । तेनैहिकोसाऽधर्मो जर्मोन्मान्तरकृतो वाऽधर्मो वातादिवैगुण्यस्य कारणमिति ब्रूते । तद्यथा देशेत्यादिना त्वैहिकमेवाधर्म यद्वक्ष्यति हेतुतया तत्प्रत्यक्षत्वेन स्फुटसिद्धान्तार्थ; न तु जन्मान्तरकृताधर्मस्याकारणत्वेवेनेति ज्ञेयम् XXX स्पृश्याभ्यवहार्यदोषा-दिति स्पृश्यस्य वा जलादेरभ्यमहार्यस्य चे कृत्स्नस्य दुष्टत्वात् । एतच्च प्रधान्येन ज्ञेयम् । तेन दुष्टपवनगन्धदोषोऽपि ज्ञेयः । असात्म्यगन्धोऽपि दुष्टवाते उक्तः ॥

—चक्रपाणि

—'तस्य मूलमधर्मः' से ऐहिक अधर्म का निर्देश है । 'तन्मूलम्' इत्यादि से पूर्वकृत कर्म का ग्रहण है । इस प्रकार वातादि—वैगुण्य का कारण ऐहिक और जन्मान्तरीय दोनों अधर्म हैं, यह कहा है । 'तद्यथा' इत्यादि के द्वारा जो दृष्ट (ऐहिक) अधर्म को दृष्टान्तया प्रस्तुत किया है वह प्रत्यक्ष होने से स्पष्ट समझ में आ सकता है, इस हेतु से उससे जन्मान्तरीय अधर्म की कारणता का निषेध किया न समझना चाहिए 'स्पृश्य' और 'अभ्यवहार्य का निर्देश प्रधान होने से किया है । इनसे यहाँ घ्रेय (सूंघने योग्य) दुष्ट पवन का भी ग्रहण करना चाहिए । कारण असात्म्य (अहित) गन्ध का भी निर्देश ऊपर विगुण वात के प्रकरण में किया है ।

में किया) अधर्म अथवा पूर्वजन्मकृत अधर्म होता है। इन दोनों (ऐहिक आमुष्मिक) अधर्मों का कारण प्रज्ञापराध ही होता है।

—देश नगर, निगम (कस्बा) और जनपद (देहात, गाँव) के प्रधान (अधिकारी, अध्यक्ष) जब धर्म का उल्लंघन कर अधर्म से प्रजा के साथ व्यवहार करते हैं, उनके आश्रित और उप, क्षित पौर (नगराधिकारी या नागरिक (तथा जानपद (ग्रामधिकारी या ग्रामणी) एवं व्यवहारोपजीवी (वणिक्जन) उस धर्म में (अपने आचार-व्यवहार द्वारा) और वृद्धि करते हैं तो वह अधर्म प्रबल होकर धर्म को आवृत (अभिभूत, पीड़ित) कर देता है। परिणामतया, आवृत धर्मवाले ये प्रजाजन देवताओं से भी छोड़ दिये जाते हैं। इस प्रकार धर्म जिनका आवृत्त हो गया है, अधर्म जिनमें प्राधान्य पा गया है तथा देव जिन्हें छोड़ दिये हैं ऐसे इन प्रजाजनों के निमित्त ऋतु भी व्यापन्न (गुणहीन या विपरीत-गुण[1]) हो जाती है। इससे देव (मेघ या वृष्टि का अधिष्ठाता देव) यथाकाल वृष्टि नहीं करता, अथवा सर्वथा वृष्टि नहीं करता या विकृत वृष्टि करता है, वायु सम्यक् चलते नहीं, भूमि गुण हीन हो जाती है, जल शुष्क हो जाता है; औषधियाँ (अन्न तथा भैषज्य-द्रव्य) भी स्वभाव (मूल स्वरूप) को छोड़ विकृति को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्पृश्य जलादि तथा आहरणीय (भक्ष्य) द्रव्यों के दोष के कारण जनपदों का उद्ध्वंस होता है।

जनपदोद्ध्वंसमात्रस्य हेतुरधर्मः

इस प्रकार जनपदोद्ध्वंस नाम से मुख्यतया प्रसिद्ध रोग-मूलक जनपदोद्ध्वंस में अधर्म की कारणता का उल्लेख कर आचार्य आगे कहते हैं कि-इतर कारणों से जो जनपदोद्ध्वंस होता है उसका भी मूल यह अधर्म ही होता है। देखिए—

तथा शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसल्याधर्म एव हेतुर्भवति। येऽतिप्रवृद्धलोभक्रोधमोहमानास्ते दुर्बलानवमत्यात्मस्वजनपरोपघाताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति, परैर्वाऽभिक्राम्यन्ते ॥ —च० वि० ३।२५

शस्त्रप्रभवस्यापीति बहुजनमारकस्य शस्त्रप्रभवस्येत्यर्थः ॥ **—चक्रपाणि**

—शस्त्र से जो जनोपदोद्ध्वंस (बहुजनमारक विघात) होता है उसमें भी हेतु यह अधर्म ही होता है। तथाहि-जिनमें लोभ-क्रोध-मोह (मूढ़ता) तथा अहंकार अत्यधिक बढ़ जाते हैं वे दुर्बलों को दबाकर अपना, स्वजनों का तथा इतरजनों का विनाश करने के लिये शस्त्रों से परस्पर प्रहार (युद्ध) करते हैं अथवा (दूसरे आक्रमण या आत्मरक्षा न करें ऐसी स्थिति में) दूसरों पर प्रहार करते हैं या दूसरों द्वारा आक्रान्त होते हैं।

१—व्यापद् दोषदुष्टत्वे गुणहीनत्वम्।

व्यापदन्यथापत्तिः; सा दुष्टदोषदूष्यसंसर्गात् ॥

—सु० सू० १५।२४ पर क्रमशः चक्रपाणि तथा डल्हण

आजकल के ज्वलन्त प्रश्नों में एक महायुद्ध तथा उसके कारण—का यह यथा-दृष्ट वर्णन हैं । इससे यह भी समझा जा सकता है, पूर्व काल में भी समाज-शास्त्रियों को विकल करने वाला वह प्रश्न विद्यमान था— पहले भी आज के समान ऐसे ही युद्ध प्रवर्तमान थे ।

रक्षोगणादिभिर्वा विविधैर्भूतसंघैस्तमधर्ममन्यद्वाऽप्यपचारान्तरमुपलभ्याभिहन्यन्ते।।

—च० वि० ३।२५

राक्षसाद्युत्सादोऽपि जनानामधर्मकृत एव भवतीत्याह—रक्षोगणेत्यादि । अन्यद्वाऽपचारान्तरमिति यथोक्ताधर्मकारणादन्यदधर्मकारणमशौचादीत्यर्थः ।।

—चक्रपाणि

राक्षसादि विविध भूत-योनियों से जो सामुदायिक विनाश होता है, उसमें भी यह अधर्म ही मूल है । कारण, ये राक्षसादि विविध भूत संघ अधर्म किंवा अन्य अनुक्त अशौच (अशुद्ध) आदि अधर्म रूप अन्तर (प्रवेश—कारण, छिद्र) को प्राप्त करते हैं और उनके द्वारा प्रजा-जन मारे जाते हैं ।

तथाऽभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति । ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति । ततस्ताः प्रजागुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति प्रागेवानेकपुरुषकुलविनाशाय, नियतप्रत्ययोपलम्भादनियताश्चापरे[1] ।।

—अभिशापोत्पन्न जनपदोद्ध्वंस में भी हेतु यह अधर्म ही होता है । सो, ऐसे कि—जिनका धर्म लुप्त हो गया है, नाम जिनका पूर्वकृत धर्म फलोपभोग के कारण निःशेष (समाप्त) हो चुका है ऐसे तथा इस जन्म में भी जो धर्म से दूर हैं ऐसे पुरुष गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि तथा अन्य पूजनीयों का अपमान (अवहेलना, अवज्ञा) कर उनका अहित आचरते हैं । इस कारण उन गुरु आदि से अनेक पुरुष-कुलों के विनाशार्थ शापित होकर (अनेक कुलों के मिलित नाशार्थ) नियत (मिलित) शाप के प्रभाव से एक साथ भस्म रूप को प्राप्त होते हैं । (जिन्हें इस प्रकार एक साथ मृत्यु का शाप नहीं प्राप्त होता ऐसे) अन्य पुरुष अमिलित (पृथक्-पृथक्) भस्म-रूप को प्राप्त होते हैं ।

अस्वास्थ्यस्य प्रथमावतारे हेतुरधर्म एव

प्रकरण की परिसमाप्ति करते महर्षि आत्रेय पुनर्वसु कहते हैं— हमारे देखने-सुनने में जो जनपदोद्ध्वंस आया है उसका कारण तो यथोक्त प्रकार से

१— प्रागेवेति झटिति । अनेक पुरुषकुलविनाशायाभिशप्ता भस्मतां यान्तीत्यर्थः । नियत-प्रत्ययोपलम्भादनियताश्चापरे भस्मतां यान्तीति योजना । अनियता अमिलिता इत्यर्थः । प्रतिनियतपुरुषाभिशापात् प्रतिनियता एव भस्मतां यान्ति न सर्वे जना इत्यर्थः।

—चक्रपाणि

योजना=अन्वय

अधर्म है ही, सृष्टि में अनारोग्य का जो प्रथम प्रवेश हुआ उसका भी आदि कारण यह अधर्म ही था। देखिए—

प्रागपि चाधर्मादृते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत। आदिकाले ह्यदितिसुतसमौजसोऽतिविमलविपुलप्रभावाः प्रत्यक्षदेवदेवर्षिधर्मयज्ञविविधानाः शैलसारसहतस्थिरशरीराःप्रसन्नवर्णेन्द्रियाः पवनसमवलजवपराक्रमाश्चारुस्फिचोऽभिरूपप्रमाणाकृतिप्रसादोपचयवन्तः सत्यार्जवानृशंस्यदानदमनियमतपुउपवासाब्रह्मचर्यव्रतपराव्यपगतभयरागद्वेषमोहलोभक्रोधशोकमानरोगनिद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यपरिग्रहाश्च पुरुषा बभूवुरमितायुषः॥

तेषामुदारसत्त्वगुणकर्मणामचिन्त्यरसवीर्यविपाकप्रभावगुणसमुदितानिप्रादुर्बभूवुः शस्यानि सर्वगुणसमुदितत्वात् पृथिव्यादीनां कृतयुगस्यादौ। भ्रश्यति तु कृतयुगे केषांचिदत्यादानात् सांपन्निकानां सत्त्वानां शरीर-गौरवमासीत् शरीरगौरवाच्छ्रमः श्रमादालस्यम् आलस्यात् संचयः, संचयात्परिग्रहः परिग्रहाल्लोभः प्रादुरासीत् कृते[१]॥

—सृष्टि में रोगों का जो प्रथम आविर्भाव हुआ उसका हेतु अधर्म से भिन्न अन्य कुछ न था। तथाहि—आदि काल में (सत्ययुग में) जितने भी पुरुष थे वे सब ही अदित पुत्र (आदित्य—सूर्य या देवों) के समान ओजस्वी, अति निर्मल और विपुल प्रभाव (सामर्थ्य) वाले; देव, देवर्षि धर्म, यज्ञ की अधिष्ठात्री देवता, विधि (यज्ञादि कर्मों के विधायक—उपदेश करने वाले—वेद वचन) तथा विधान (कर्मानुष्ठान) ये सब जिन्हें (करामलकवत्) प्रत्यक्ष हैं ऐसे; पर्वत के सार (पोलाद ?) के समान निविड़ (घन) तथा दृढ़ शरीरवाले, प्रसन्न (दोष-शून्य) वर्ण और इन्द्रियों वाले, वायु के सदृश बल; वेग और पराक्रम से सम्पन्न; रमणीय (आकर्षक) स्फिक्-प्रदेशवाले, दर्शनीय प्रमाण (डीलडौल), आकृति प्रसाद (नैर्मल्य) और पुष्टिशाली; सत्य, आर्जव (सरलता), अक्रूरता, दान, दम, नियम, तप उपवास और ब्रह्मचर्य के व्रत में परायण, भय, राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, शोक, मान (गर्व), रोग, निद्रा, श्रम, क्लम, (बिना श्रम के थकान), आलस्य तथा परिग्रह (यह वस्तु मेरी है— 'इदं मम, यह ममत्व की भावना)-इनसे विरहित, एवं अमितायु (चार सौ वर्ष की आयु वाले[२]) हुआ करते थे।

१—आद्याविर्भावे च रोगाणामधर्म एवं कारणमित्याह—प्रागपि चेत्यापि। यज्ञो यज्ञदेवता, विधिर्यज्ञविधायको वेदः विधानं यज्ञकर्म। जवो वेगः परिग्रहो ममता। अमितमिवातिबहुत्वेनायुर्येषां तेऽमितायुषः सत्ये हि चतुर्वर्षशतमायुः। यदुक्तं भगवता व्यासेन-:''पुरुषाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः। कृते'' इति। सांपन्निकानामीश्वराणाम् कृत इति कृतयुगस्य शेषे॥ —चक्रपाणि

२—टीकाकार के ऊपर घृत वचन में कहा है कि अमित का अर्थ है अति अधिक होने के कारण अमित-सदृश। कारण, सत्ययुग (कृतयुग) में आयु चार सौ वर्ष की हुआ करती थी। जैसा कि उद्धृत व्यास के वचन में कहा है—कृतयुग में पुरुष सर्वमनोरथों की सिद्धि वाले तथा चार सौ वर्ष की आयु के होते थे।

—उदार (विशाल) मन, गुण और कर्म वाले होने के कारण इन पुरुषों के लिये (इनके हितार्थ) कृतयुग के आदि में पृथिवी आदि महाभूत सर्वगुणसम्पन्न होने से शस्य (धान्य) भी अचिन्त्य रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव तथा गुणों से युक्त उत्पन्न होते थे । कृतयुग समाप्त होने को आया तो, अति उपभोग के कारण कई सम्पन्न पुरुषों के शरीर में गुरुता का आविर्भाव हुआ । इस गुरुता के कारण श्रम का उदय हुआ । श्रम के कारण आलस्य, आलस्य के कारण संचय (उपभोग की वस्तुओं के संचय करने की प्रवृत्ति और उसके कारण उनका संग्रह), संचय के कारण परिग्रह (ममत्व) और ममत्व के कारण लोभ का प्रादुर्भाव हुआ ।

आगे का इतिहास भी स्वयं आचार्य के शब्दों में देखिए ।

ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः अभिद्रोहादनृतवचनम्, अनृतवचनात्कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृताः । ततस्त्रेतायां धर्मपादोऽन्तर्धानमगमत् । तस्यान्तर्धानाद् युगवर्षप्रमाणस्य पादन्हासः, पृथिव्यादेश्च गुणपादप्रणाशोऽभूत् । तेत्प्रणाशकृतश्च शस्यानां स्नेहवैमल्यरसवीर्यविपाकगुणपादभ्रंशः ।।

ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीयमानगुणपादैराहारविहारैरयथापूर्वमुपष्टभ्यमानान्यग्नि-मारुतपरीतानि प्राग्व्याधिभिर्ज्वरादिभिराक्रान्तानि, अतः प्राणिनो ह्रासमवापुरायुषः क्रमशः इति [1] ।।

—च० वि० ३।२६

—इसके अनन्तर (कृतयुग के अन्त में लोभ के प्रादुर्भाव–पर्यन्त मानव कुल का ह्रास हो चुकने के पश्चात्) त्रेता में लोभ के कारण अभिद्रोह (विरोधियों को हानि पहुँचाने की आकांक्षा) उत्पन्न हुई । अभिद्रोह से मिथ्याभाषण–शीलता और मिथ्याभाषणशीतला से काम, क्रोध, मान, द्वेष, पारुष्य (वाग्व्यवहार में कर्कशता), अभिघात (औरों को विशेषतया शरीर हानि पहुँचाना), भय, संताप, शोक, चिन्ता, उद्वेग (घबराहट) प्रभृति मनोविकारों का उदय हुआ । परिणामतया त्रेता में धर्म का पाद (चतुर्थांश) अन्तर्हित हो गया । धर्म के पाद का अन्तर्धान होने से युग में वर्षों का जितना प्रमाण होना चाहिये उसके चतुर्थांश का ह्रास हो गया । इसी के कारण पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों के भी गुणों के चतुर्थांश का विलोप हो गया । महाभूतों में हुई गुण-हानि के कारण शस्यों में भी स्नेह (स्निग्धता), विमलता, रस, वीर्य विपाक, प्रभाव और गुणों के चतुर्थांश का लोप हो गया ।

१—हीयमानगुणपादैरिति-यथा यथा त्रेतायाः क्षयो भवति; तथा तथा आहारविहारगुणपादह्रासो भवन्नास्त इति दर्शयति । विहारोऽपि चाधर्मवत हीनगुणो भवति । तेन न यथावच्छरीरोपष्टम्भनं करोति । उपष्टभ्यमानानीति धातुसाम्येन पाल्य मानानि ।।

—चक्रपाणि

—इस प्रकार जैसे-जैसे त्रेता का क्षय होता गया, वैसे-वैसे आहार-विहारों के भी गुणों का पादशः ह्रास होता गया। इस प्रकार क्रमशः हीन-गुण होते इन आहार-विहारों के द्वारा प्राणियों के शरीर में धातु-साम्य क्रिया का निर्वाह यथापूर्व न रहने लगा। इस प्रकार विषम होते धातुओं वाले एवं पित्त और वात से आक्रान्त प्रजा-शरीर (सृष्टि में) प्रथमाविर्भूत ज्वर-प्रभृति व्याधियों से पीड़ित हुए। परिणाम में प्राणि क्रमशः आयु के ह्रास को प्राप्त हुए।

भवतश्चात्र

युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते।
गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते॥
संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्।
देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते॥
इति विकाराणां प्रागुत्पत्तिहेतुरुक्तो भवति[1]॥ च० वि० ३।३०-३२

—यथोक्त क्रम से एक-एक युग में धर्म का एवं प्राणियों के गुणों का एक-एक पाद (चतुर्थांश, चौथाई भाग) विलुप्त हो जाता है। परिणामतया अन्त में प्रलय हो जाता है।

—युग के भी सौ वर्ष पूर्व होने पर, उस युग में प्राणियों की जितने वर्ष की आयु होती है उसमें एक वर्ष न्यून हो जाता है। तद्यथा, कलिकाल में स्त्री-पुरुषों की सामान्य आयु सौ वर्ष की है। कलि के प्रथम सौ वर्ष समाप्त होने पर इस आयु में एक वर्ष न्यून होकर सामान्य आयु (परमायु-औसतन आयु) निन्यानवे वर्ष की रह जाती है।

—रोगों के प्रथमावतार का यह कारण—निर्देश किया गया।

इस प्रकरण में संक्षेप में अनेक ज्ञातव्य बातें जानी जा सकती हैं। धनसंचय का मूल कारण, उससे धन-संचय एवं उससे समाज में हुई **विषमता** का यह निरूपण आज से सहस्रों वर्ष पूर्व महर्षि **आत्रेय** कर गये हैं। हमारे नवयुवा समाज की अव्यवस्था (ऊँच-नीच) का कारण, इतिहास आदि जानने के लिये मार्क्स और लेनिन के ग्रन्थ पढ़ते हैं। यह प्रकरण उनकी आँख खोलने के लिये पर्याप्त होना चाहिये। वे देखें, मार्क्स आदि द्वारा की गयी इस कूट प्रश्न की मीमांसा भारत के लिये कुछ नवीन नहीं है।

इस प्रकरण से **आयुर्वेद** की **मर्यादा** की भी कुछ कल्पना वाचक कर सकते हैं। आयुर्वेद केवल मानवादि प्राणियों के आयु का वेद नहीं है, समाज, राष्ट्र और विश्व की आयु का वेद है— उनके रोगों का निदान, लक्षण और चिकित्सा का भी प्रतिपादन करने वाला शास्त्र है।

१—सवत्सरशते पूर्णे इति संवत्सरेण शततमेंऽशे पूर्णे यत्र यन्मानमिष्यत इति यत्र युगे यन्मानमिष्यते तस्य शततमेंऽशे पूर्ण वर्ष एकः क्षयं याति। तेन कलौ शतवर्षायुषि यदा शततमोंऽशो याति क्षयं तदा नवनवतिः परमायुर्भवतीत्याद्यनुसरणीयम्॥

—चक्रपाणि

धर्म अधर्म का **प्राचीनाभिमत** अर्थ भी वाचक यहां देख सकते हैं । अमुक ग्रन्थ तथा उसमें बताए कर्मकाण्ड का अनुष्ठान एतावन्मात्र धर्म नहीं है । किन्तु सत्य, ऋजुता भूतदया, दान, शासकों द्वारा अपनी प्रजा का सर्व प्रकार से रक्षण, वैश्यों द्वारा मर्यादित लाभ लेकर वाणिज्य, विद्या-वयोवृद्धों का सम्मान इत्यादि सद्‌गुणशालिता ही का काम धर्म है । एवं इनके विपरीत लोभ, असत्यभाषण्, द्रोह, गर्व, आलस्य, परिग्रह प्रभृति असद्‌गुणों को ही अधर्म कहा जाता है । वाचक धर्माधर्म की इस प्राचीन परिभाषा को लक्ष्य में रख कर विचार करें कि इन पदों का कितना विकृत अर्थ आज रूढ़ हो गया है ।

महाभूतों और अन्नपान की गुणशीलता के विषय में यहाँ कहा है कि ये प्रजा के धर्माधर्म पर ही अवलम्बित हैं । इस मन्तव्य को दृष्टि में रख कर वाचक आर्यों के समाज शास्त्र, कृषिशास्त्र आदि सम्बन्धी सिद्धान्तों की अपूर्वता और महत्ता का अनुशीलन करें ।

जनपदोद्ध्वंस के दो भेदों—अभिशाप—प्रभाव तथा भूताभिषङ्ग—पर आज सहसा विश्वास नहीं होता । परन्तु वर्णन में जिन पदों का व्यवहार हुआ है वे इस बात के गमक (द्योतक) हैं कि, वक्ता प्रत्यक्षदृष्ट घटनाओं का ही उल्लेख कर रहा है । आज भी कतिपय व्यक्ति भूतोन्मत्त या शाप-पीड़ित देखे जाते हैं । भूत विद्या के ज्ञाताओं द्वारा निर्दिष्ट उपचार से ही स्वास्थ्यलाभ भी करते हैं ।

धर्म के अङ्गभूत गुणों के अर्थवाद (प्रशस्ति) तथा अधर्म के अङ्गभूत असद्‌गुणों की निन्दा में आज किसी को प्राचीनता के अन्ध पक्षपात की गन्ध आ सकती है । परन्तु नवीन चिकित्साशास्त्र के अनुसार भी व्यक्ति तथा समाज में इन गुणों का उत्कर्ष एवं इन अवगुणों का परिहार उतना ही उपयोगी है । भय, क्रोध, शोक, चिन्ता, उद्वेग, काम, पारुष्य, संताप आदि मनोविकारों के कारण आग्नेय नाड़ी—संस्थान (सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम) तथा अधिवृक्क ग्रन्थियों (एड्रीनल्स) का प्रकोप होकर रक्तदाव की वृद्धि एवं दोनों कारणों से विशेषतया हृदय, वृक्क और अग्न्याशय की अतर्कित क्षति होती है, अन्त में इसके कारण विविध रोग तो होते ही हैं, आजकल इतनी दृष्टिगोचर होने वाली हृदयावरोधजन्य अकाल मृत्यु भी होती है । इसके विपरीत सत्य, भूतदया, अक्रूरता, दान, वृद्धों का सम्मान, आर्जव इत्यादि सद्‌गुणों के उदय से उल्लिखित अवयवों की क्रिया का साम्य होकर नीरोग स्थिति रहती है तथा आयु दीर्घ होने का संभव होता है । इन स्थितियों का विचार कर वाचक जान सकते हैं क़ि, ऊपर किया धर्माधर्म का विवेक आज के युग की ही वस्तु हैं । इतना ही नहीं—व्यक्ति तथा समाज में पाये जाने वाले एवं चिकित्सक तथा

समाज–शास्त्रियों को विह्वल करने वाले मानस, शरीर एवं सामाजिक प्रश्नों का निदान, लक्षण और चिकित्सा इस प्रकरण में सुनिरूपित है । यह और बात है कि, युग को इस प्रकरण में निर्दिष्ट स्वरूप देना आज तो असंभाव्य सा प्रतीत होता है परन्तु यत्न तो इस दिशा में होना ही चाहिए—**यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ।**



आयुषो नियतानियतत्वे दैव-पुरुषकारयोर्हेतुत्वम्

एवंवादिनं भगवन्तमग्निवेश–उवाच–किन्नु खलु भगवन् नियतकाल प्रमाणमायुः सर्व न वेति ॥ —च० वि० ३।३३

—(जनपदोद्ध्वंस तथा उसके प्रसंग से अधर्म से रोग की उत्पत्ति की) यह बात कहते भगवान् पुनर्वसु को अग्निवेश बोला– भगवन् आयु नियत (मर्यादित) काल–प्रमाण की है या नहीं ? (अर्थात् प्रत्येक पुरुष आयु की अमुक ही मर्यादा लेकर आता है या उसकी आयु में प्रत्यनवश वृद्धि-ह्रास भी हो सकता है । कारण, आयु यदि नियतकालिक हो तो जनपदोद्ध्वंस या सामान्य व्याधि होने पर उसके रोकने का उपाय ही क्यों करता ? लोक-मत आयु के विषय में आज भी प्रायः ऐसा ही होने से अग्निवेश के चित्त में यह शङ्का होना स्वाभाविक ही था) ।

तं भगवानुवाच–

इहाग्निवेश भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते ।
दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम् ॥
दैवमात्मकृतं विद्यात्कर्म यत्पौर्वदैहिकम् ।
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ॥
बलाबलविशेषोऽस्ति तयोरपि च कर्मणोः ।
दृष्टं हि त्रिविधं कर्म हीनं मध्यममुत्तमम् ॥
तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य च सुखस्य च ।
नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा ॥
मध्यमा मध्यमस्येष्टा[1]। —च० वि० ३।३४-३८

—भगवान् उसे बोले—अग्निवेश, प्राणियों की आयु नियत या अनियत होने में दैव और पुरुषकार (पुरुषार्थ) के योग की अपेक्षा रहती है— इन दो के अधीन है । कारण, आयु का बलाबल (नियतता और अनियतता) दैव और पुरुषकार पर अवलम्बित है ।

१—युक्तिमपेक्षत इति दवपुरुषकारयोर्योगमपेक्षते नियतत्वेऽनियतत्वे चेत्यर्थः । बलं चाबलं च बलाबलं, तत्रायुषो नियतत्वेन बलमनियतत्वेनाबलं ज्ञेयम् । यद्यपि पौर्वदैहिकं कर्मास्थिरत्वेन गतं, तथापि तज्जनितादृष्टतस्य विद्यमानत्वात् तदृद्वारा तत्कर्म कारणं भवत्येवेह जन्मन्यपि । पुरुषकारस्त्विह जन्मनि कृतं कर्म सामान्येनोच्यते ॥

—चक्रपाणि

—पूर्व शरीर में अपना किया जो कर्म होता है उसे दैव समझना चाहिए । यह कर्म अदृष्ट में परिणत हो जाता है और यह अदृष्ट ही जन्म में फल का हेतु होता है । इस जन्म में जो अन्य कर्म किया जाता हैं उसे पुरुषकार (पुरुषार्थ; कर्म) कहते हैं ।

—इन उभयविध (पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के) कर्मों के बलाबल भी भेद होता है— (नाम दोनों में बल-भेद से आगे कहे पृथक् तीन प्रकार होते हैं); क्योंकि, (दोनों) कर्म हीन, मध्यम और उत्तम तीन प्रकार का देखा जाता है ।

दोनों कर्मों के उदार (उत्तम) भेदों का संयोग दीर्घ (अनियत) तथा सुख-युक्त आयु का कारण होता है । (इनका योग होने पर आयु इन गुणों से युक्त होती है) । इसके विपरीत (हीन) दैव और पुरुषकार का योग नियत, अल्प और दुःख-युक्त आयु का कारण होता है ।

—मध्यम कोटि के दैव और पुरुषकार का योग होने से मध्यम प्रकार की आयु बनती है ।

—कारणं श्रृणु चापरम् ।
दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्यपहन्यते ॥
दैवेन चेतरत् कर्म विशिष्टेनोपहन्यते ।
दृष्ट्वा यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः ॥
कर्म किंचित्क्वचित् काले विपाके नियतं महत् ।
किंचित्त्वकालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते ॥ —च० चि० ३।३८-४०

—(हे अग्निवेश, आयु के नियत या अनियत होने में उभयविध कर्म में प्रत्येक के त्रिविध होने के अतिरिक्त अन्य भी कारण हैं । उस) अन्य कारण को भी सुनो । दैव प्राक्तन कर्म) दुर्बल हो तो (बलवान्) पुरुषकार उसे दबा देता है । (इस प्रकार प्राक्तन कर्मवश आयु की अमुक नियम मर्यादा हो तो पुरुषकार के बल से वह बढ़ाई भी जा सकती है—इस प्रकार अनियत बनाई जा सकती है) । दूसरी ओर, दैव यदि बलवान् हो तो वह (दुर्बल) पुरुषकार को दबा देता है । (और आयु को अनियतदीर्घ—नहीं होने देता) । इसी (पिछले दृष्टान्त) को देखकर कई आयु का मान नियत समझते हैं— आयु बढ़ाना अपने हाथ में नहीं है, ऐसा मानते हैं ।

—कोई (प्राक्तन) कर्म ऐसा होता है जो अमुक काल में विपाक (फलरूप में परिणति) होने पर महत् (प्रबल) और निश्चित होता है— वह अमुक परिणाम उत्पन्न किए बिना नहीं रहता, पुरुषार्थ से उसे टाला नहीं जा सकता । परन्तु, अन्य कोई कर्म ऐसा भी होता है जो काल पर (इस प्रकार) नियत नहीं होता; और पुरुषार्थों द्वारा उसे परिवर्तित किया जाता है ।

आयुषोऽनियतत्वे निदर्शनम्

तस्मादुभयदृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधु । निदर्शनमपि चात्रोदाहरिष्यामः ।

यदि हिनियतकालप्रमाणमायुः सर्व स्यात्, तदाऽयुष्कामाणां न मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयोज्येरन्, नोद्भ्रान्तचण्डचपलगोगजोष्ट्रखरतुरगमहिषादयः पवनादयश्च दुष्टाः परहार्या स्युः, न प्रपातगिरिविषमदुर्गाम्बुवेगाः, तथा न प्रमत्तोन्मत्तोद्भ्रान्तचण्डचपलमोहलोभाकुलमतयः, नारयः, न प्रवृद्धोऽग्निः, न विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः, न साहसं नादेशकालचर्या, न नरेन्द्रप्रकोप इति । एवमादयो हि भावा नाभावकराः स्युः आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात् ॥

न चानभ्यस्ताकालमरणभयनिवारकाणामकालमरणभयमागच्छेत् प्राणिनाम्, व्यथश्चिाआरम्भकथाप्रयोगबुद्धयः स्युर्महर्षीणां रसायनाधिकारे, नापीन्द्रो नियतायुषं शत्रुं वज्रेणाभिहन्यात, नाश्विनावार्त भेषजेनोपपादयेतां न महर्षयो यथेष्टमायुस्तपसा प्राप्नुयुः न च विदितवेदितव्या महर्षयः ससुरेशाः सम्यक् पश्येयुरुपदिशेयुराचरेयुर्वा ॥

अपि च सर्वचक्षुषामेतत् परं यदैन्द्रं चक्षुः । इदंञ्चास्माकं तेन प्रत्यक्षं; यथा— पुरुषसहस्राणमुत्थायोत्थायाहवं कुर्वतामकुर्वतां चातुल्यायुष्ट्वं; तथा जातमात्राणामप्रतीकारात् प्रतीकाराच्चः अविषविषप्राशिनां चाप्यतुल्यायुष्ट्वमेव, न च तुल्यो योगक्षेम उदपानघटानां चित्रघटानां चोत्सीदताम् । तस्माद्धितोपचारमूलं जींवितम्, अतो विपर्ययान्मृत्युः ॥

अपि च देशकालात्मगुणविपरीतानां कर्मणामाहारविकाराणां च क्रमोपयोग सम्यक् त्यागः सर्वस्य चातियोगमिथ्यायोगानां, सर्वातियोगसंधारणम्, असंधारणमुदीर्णानां च गतिमतां, सांहसानां च वर्जनम्, आरोग्यानुवृत्तौ हेतुमुपलभामहे, सम्यगुपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति ॥ —च० वि० ३।४१

—इस प्रकार (आयु को नियत करने वाले दैव से आयु की वृद्धि के लिये किये गये पुरुषार्थ का बाध तथा पुरुषार्थ द्वारा दैव का बाध) ये दोनों हीं बातें प्रत्यक्ष-गोचर होने से (आयु नियत ही होती है, अथवा अनियत ही होती है इन दो में) किसी एक अन्त (पक्ष) का ग्रहण करना उचित नहीं है। इस मत की स्थापनार्थ युक्ति उपस्थित करेंगे ।

यदि सबकी आयु नियत काल-प्रमाणवाली होती, तो आयु (की वृद्धि के लिये तथा मृत्यु के निवारण के लिये आगे कही चर्या का अनुष्ठान बुद्धिशाली जन न करते । तथा हि—) आयु की कामना करने वालों द्वारा मन्त्र, औषध, मणि, मङ्गल-कर्म, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित, उपवास, स्वस्तिकर्म, प्रणिपात (प्रणाम), गमन (तीर्थ यात्रा) इत्यादि क्रियाएँ तथा इष्टियाँ (यज्ञ –याग)— इनका प्रयोग न किया जाता, उन्मत्त भीषण तथा चपल (वेग से दौड़ते) गाय –बैल, हाथी, ऊँट, गधे, घोड़े, भैंस आदि तथा दुष्ट वायु आदि परिहार्य न होते—लोग इनसे बचाव का प्रयास न करते, इसी प्रकार प्रपात, पर्वतों के विषम स्थल, दुर्ग (दुर्गमस्थान) तथा जल प्रवाह, प्रमत्त, उन्मत्त, भ्रान्त, भीषण,

चपल एवं मोह और लोभ से आविष्ट बुद्धि वाले पुरुष; शत्रु प्रबृद्ध अग्नि विविध विषों के आश्रयभूत सरीसृप, उरग (सर्प—भेद) प्रभृति प्राणी, साहस (शक्ति से अधिक कायिका, वाचिक, मानसिक श्रम), अदेश और अकाल (अहित देश और काल) में संचरण, राजा का प्रकोप—इनसे भी त्राण का प्रयास लोग न करते। कारण सबकी आयु नियत काल-मर्यादा वाली होने से उक्त—प्रकारक सभी (अनिष्ट) भाव (वस्तुएँ) मृत्यु-जनक न होते ।

अपरंच, अनभ्यस्त (अपरिचित) भी अकाल-मृत्यु के भय का निवारण करने वाले प्राणियों को यह अकाल–मृत्यु का भय दुखी न करता, रासायनाधिकार (रसायन–प्रकरण) में महर्षियों के आरम्भों (उद्योगों, आयु की वृद्धि के प्रयासों) के कथन और प्रयोग के विचार भी (अकिंचित्कर होने से) निरर्थक होते; इन्द्र भी अपने शत्रु (वृत्र) को नियतायु होने से वज्र से कैसे मारता, अश्वि देव भी रुग्णों को औषध–सेवन न कराते, तपश्चर्या से महर्षिगण यथेष्ट आयु का लाभ न करते । इसके अतिरिक्त, विदित वेदितव्य (जिन्हें ज्ञातव्य संपूर्ण ज्ञात है ऐसे) इन्द्र–सहित महर्षि (इन्द्र और महर्षि स्वास्थ्यसंरक्षक, रोग निवारक और आयु के वर्धक भावों का) सम्यक् दर्शन, उपदेश तथा आचरण न करते ।

—किं बहुना; सर्व प्रमाणों में श्रेष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण है[1] । और यह हम सबको प्रत्यक्षावगत है कि —सहस्रों पुरुष जो रह–रहकर युद्ध करते हैं उनकी तथा जो युद्ध नहीं करते उनकी आयु समान नहीं होती (नाम, युद्ध करने वाले प्रायः मरते हैं, न करने वाले प्रायः नहीं मरते— इससे सिद्ध है कि आयु नियत होती तो युद्ध में भी विशेष संख्या में मृत्यु नहीं होनी चाहिये, अथ च; बिना युद्ध भी उसी प्रमाण में मृत्यु होनी चाहिये), यह भी हम देखते हैं कि, जातमात्र (सद्योजात, हाल ही में उत्पन्न हुए) शिशुओं का प्रतीकार (परिचर्या और उपचार) न करने से मृत्यु प्रायः होती है, करने से प्रायः नहीं होती; विष का भक्षण न करने वालों और करने वालों में भी परस्पर आयु की समानता नहीं होती । चहबच्चे के घड़ों और चित्रवत् (शोभा के लिये स्थापित) घड़ों का विनाश—सम्बन्धी योगक्षेम भी समान नहीं होता[2] । इससे सिद्ध है कि हितोपचार (हितकर

१—मूल में आए **सर्वचक्षुषाम्** का अर्थ **सर्वप्रमाणाम्** (सर्व प्रमाणों में) तथा ऐन्द्र **चक्षुः** का अर्थ 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है । इन्द्र=आत्मा; इन्द्रिय=आत्मा; की साधन-भूत ।

२—मूल के वचनों पर **चक्रपाणि** की यह टीका द्रष्टव्य है— **न च तुल्य इत्यादौ चित्रघटो यश्चित्रित इव स्थाप्यते, स हि पानीयवहनादिप्रत्यवायहेत्वभावाच्चिरं तिष्ठति; उदपानघटस्तु जलसंबन्धात् तथा वहनसमये पतनादिना च शीघ्रमुत्सीदति ॥**

—इसका अर्थ यह है कि—चित्रपट उस घट को कहते हैं, जो (शोभार्थ) चित्रित (घट) के समान (स्थान-विशेषों पर) रखा जाता है । वह पानी भर लाना इत्यादि विघ्नों के अभाव के कारण चिरकाल रहता है । उदपान का घड़ा उदपान—चहबच्चा, गुजराती–हवाडा; कूप के समीप जल का कुण्ड) जल के संसर्ग से तथा जल लाते समय पतनादि के कारण शीघ्र नष्ट होता है ।

आहार-विहार का सेवन) ही जीवन का मूल है और उसके विपर्यय (विपरीताचरण) से मरण होता है ।

—(आयु नियत—निश्चित—होती—समय पर आये बिना न रहती, उसी के समान रोग भी प्राक्तन-कर्मवश विपाक के समय आए बिना न रहें ऐसे होते तो हमारा प्राणप्रिय यह संपूर्ण आयुर्वेद ही निष्प्रयोजन होता । इसी बात को लक्ष्य में रखकर आयुर्वेद के अर्धाङ्गभूत स्वस्थवृत्त की प्रयोजनवत्ता बताते आचार्य आगे कहते हैं)—

—अथ च, देश काल और शरीर के गुणों से विपरीत कर्मों (विहारों, चेष्टाओं) एवं आहार-विकारों (भोजन के कल्पों) का सम्यक् और क्रमशः उपयोग; (काल, कर्म और इन्द्रियार्थ-संयोग इन[1]) सबके अतियोग और मिथ्यायोग का परित्याग, (अन्य भी सर्वप्रकार के अति योग का वर्जन, उदीर्ण (उत्पन्न वेग—हाजत—वाले) गतिमान द्रव्यों का—मल —मूत्रादि का-धारण न करना (वेग उत्पन्न होने पर मल-मूत्रादि का विसर्जन अवश्य करना —एवं साहस नाम शक्ति से अधिक कायिक, वाचिक, मानसिक कोई श्रम न करना— आरोग्य की अनुवृत्ति के लिये—स्वास्थ्य स्थिर रहे इस हेतु—उक्त बातों को कारण— भूत देखते हैं, (इसके अनुष्ठान से आरोग्य स्थिर रहता है यह हमारा नित्य का अनुभव है),

---

त्रिविधं निदानम्

१—आयुर्वेद में रोगों के निदान संक्षेप में ये तीन कहे हैं—**तत् (निदानं त्रिविधम्असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः; परिणामश्चेति ॥** —च० नि० १।३

निदान (रोग-कारण) तीन प्रकार का है— इन्द्रियों और उनके अर्थों (विषयों) का अहित संयोग; प्रज्ञापराध तथा परिणाम या काल ।

इन्द्रियों से विषयों के अतियोग, अयोग या हीनयोग का नाम असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग है । प्रज्ञापराध का लक्षण पृ० १४-१५ पर कह आये हैं । आगे भी कहेंगे । शेष ऋतुओं के विपर्यय का नाम काल या परिणाम है । इनमें प्रज्ञापराध मुख्य है । कारण, प्रज्ञापराध—वश ही पुरुष इन्द्रियों के असात्म्य अर्थों (अहित विषयों) को जानता नहीं; भूल जाता है या जानकर भी असंयमवश उनका, सेवन करता है; किंवा ऋतु—विपर्यय होने पर भी प्रज्ञापराधवश ही तदनुरूप आचरण नहीं करता, जिसमें ऋतुओं के प्रकोप से वह बचा रह सके ।

समयोगादीनां लक्षणम्

इन्द्रियों के विषयों का इन्द्रियों के साथ या औषध; आहार, विहार (कर्म, चेष्टा) आदि का शरीर और मन या उनके अवयवों के साथ रोगानुत्पादक यथा हितकारक सम्बन्ध समयोग या सम्यक् योग कहाता है । यह सम्बन्ध उचित से अधिक हो जाए तो इसे अतियोग (Excess—एक्सेस) कहते हैं । सर्वथा सम्बन्ध न होना अयोग तथा न्यून होना हीनयोग (Disficiency —डेफीशेन्सी) कहाता है । अतियोगादि तीन का समुचित (मिलित) नाम मिथ्यायोग है ।

इनका हम सम्यक् उपदेश भी करते हैं और उसका (शुभाशुभ) परिणाम भी देखते हैं[1] ।

संक्षिप्तं स्वस्थवृत्तम्

१—अन्तिम पंक्तियों में अत्रि–पुत्र ने संक्षेप में स्वस्थवृत्त का उपदेश कर दिया है । प्रायः इन्हीं बचनों में आचार्य ने अन्यत्र भी स्वस्थवृत्त के नियम दर्शाए हैं । उपयोगी होने से चक्रपाणि की टीका—समेत उन्हें उद्धृत किया जाता है ।—

देशकालात्मगुणविपरीतानां हि कर्मणामाहारविकाराणां च क्रियोपयोगः सम्यक् सर्वातियोगसंधारणम् असंधारणमुदीर्णानां च गतिमतां साहसानां च वर्जनम्स्वस्थवृत्तमेतावद्धातूनां साम्यानुग्रहार्थमुपदिश्यते ॥ —च० शा० ६।८

संप्रति प्रस्तावागतं स्वस्थवृत्तं समासेनाह–देशेत्यादि । देशादिभिर्गुणशब्दः संबध्यते आत्मशब्देनेह शरीरमुच्यते । देशविपरीतं कर्म यथा मरौ स्वप्नः कालविपरीतं कर्म यथा वसन्ते व्यायामः, आत्मविपरीतं कर्म यथा स्थूलशरीरे व्यायामजागरणादि । एवमाहारप्रभेदाश्च देशकालादिविपरीता उन्नेयाः । कर्मणां क्रिया, आहारविकाराणां चोपयोग इति यथासंख्यं योजनीयम् । अतिक्रान्तो योगमित्यतियोगो मिथ्यातियोगायोगरूपो ज्ञेयः । तेन सर्वेषां कालबुद्धीन्द्रियार्थमिथ्यायोगादीनां वर्जनं सर्वातियोगसंधारणम् कालमिथ्यायोगादेस्तु दुष्परिहरस्य प्रतिक्रियैववर्जनम् । गतिमतामिति पुरीषादीनां बहिर्गमनशीलानाम् । साहसानामयथाबलमारम्भादीनाम् ॥ —चक्रपाणि

—देश, काल और शरीर (प्रकृति)—इनके गुणों के विरोधी कर्मों का आचरण तथा इन्हीं के विरोधी आहार– द्रव्यों का सम्यक् (अन्नपान–विधि में कहे– 'तन्मय होकर खाए'— इत्यादि नियमों का पालन करते हुए) उपयोग; सर्व प्रकार के मिथ्यायोग, अति योग तथा अयोगों का परित्याग; उदीर्ण (उत्पन्न) हुए पुरीषादि बहिर्गमनशील मलों के वेगों का असंधारण (इन्हें न रोकना); अपनी शक्ति से अधिक चेष्टा आदि साहसों का वर्जन–धातुओं का (दोषों, धातुओं, उपधातुओं और मलों का) साम्य रखने के लिये इतने स्वस्थवृत्त का उपयोग किया जाता है ।

—(देशादि शरीर में जिन गुणों के—परम्परया जिन दोषों के प्रकुपित करने वाले हों उनके विरोधी आहार–विहार के सेवन से देश, काल और देह–प्रकृति के गुण दबे रहते हैं —समावस्था में रहते है । टीकाकार ने इसके उदाहरण दिए हैं) ।

देश—विपरीत कर्म (चेष्टा)—यथा वात—प्रकोपानुकूल) मरुदेश में (कफ–प्रकोपकारी) निद्राः काल—विपरीत कर्म यथा (कफ—प्रकोपानुकूल) वसन्त ऋतु में (कफ–क्षयकर भ्रमणादि) व्यायाम; शरीर–प्रकृति विपरीत कर्म, यथा–स्थूल (कफ–मेदः प्रधान) शरीर के लिये व्यायाम, जागरणादि इसी पद्धति से देशादि—विपरीत—गुण आहार भेद भी जानने चाहिए ।

असंधारणीया धारणीयाश्च वेगाः

आयुर्वेद में रोगोत्पत्ति के सामान्य कारणों में वेगों के धारण की सर्वत्र गर्हणा (निन्दा) की है, जैसे ऊपर के प्रकरण में दो स्थानों पर । वेगों के धारण से कैसे रोगोत्पत्ति होती है यह क्रियाशरीर, निदान–चिकित्सा एवं स्वस्थवृत्त के ग्रन्थों में देखना चाहिए । नव्य मत से तुलना के लिए यहाँ इतना ही कह दूँ कि—आज विशेषतया मलबन्ध (कब्ज) को प्रायः सर्व रोगों का कारण कहा जाता है । उसका

अतःपरमग्निवेश उवाथ—सत्यनियतकालप्रमाणायुषां भगवन् कथं कालमृत्युरकालमृत्युर्वा भवतीति ॥ च०वि० ३।४२

भी कारण मलत्याग की इच्छा (वेग) की उपेक्षा बताया जाता है । आयुर्वेद के आचार्यों ने मलबन्ध के भी कारणभूत वेगावरोध को ही रोगों का कारण माना है; सहैव अन्य वेगों के निग्रह की भी गणना रोग-निदान में की है । असाधारणीय तथा संधारणीय वेग अधोलिखित हैं ।—

न वेगान्धारयेद्धीमांजातान् मूत्रपुरीषयोः ॥
न रेतसो न वातस्य न च्छर्द्याः क्षवथोर्न च ॥
नोद्गारस्य न जुम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः ।
न बाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥ —च० सू० ७।३-४

—बुद्धिमान पुरुष को उत्पन्न हुए अधोलिखित तेरह वेगों का धारण न करना चाहिए । मल, मूत्र, शुक्र, अधोवात, वमन छीक; उदगार (ऊर्ध्ववायु), जृम्भा, क्षुधा, पिपासा, अश्रु, निद्रा तथा श्रम-श्वास (हाँफ) ।

शुक्र के वेग के धारण के निषेध से समझा जा सकता है कि संतति-निग्रह का एतन्मूलक नव्योक्त उपाय कॉयटस इन्टरप्टस आयुर्वेद—संमत नहीं है । अश्रु के वेग से निग्रह का निषेध इसलिये है कि रोने से हृदय का भार हलका होता है । अब धारणीय वेग देखिए —

इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्युचेह च ।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥
लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत् ।
नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ॥
—परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च ।
वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम् ॥
देहप्रवृत्तिर्या काचिद्विद्यते परपीडया ।
स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्या तस्या वेगान्धारयेत् ॥ —च० सू० ७।२६–२६

—मरण के पश्चात् (परलोक में) तथा इसलोक में अपने कल्याण की इच्छा रखने वाले पुरुष को इन (आगे कहे) वेगों का धारण करना चाहिए । यथा, साहस (शक्ति का विचार किए बिना किए कर्म), तथा अनिष्ट परिणाम वाले मन, वाणी तथा शरीर के कर्म ।

बुद्धिमान् पुरुष को लोभ, शोक, भय, क्रोध और मान के वेग को, एवं नैर्लज्य, ईर्ष्या, अति राग और पर द्रव्य की इच्छा के वेग को रोकना चाहिए ।

—पुरुष (परोद्वेजक), अत्यधिक चुगली, असत्य तथा जिसका काल प्राप्त न हुआ हो ऐसे वचन के कहने के वेग (इच्छा) को धारण करना चाहिए ।

परस्त्रीभोग, चौर्य, हिंसा आदि जो भी चेष्टा अन्यों को पीड़ा देने से सिद्ध होती हो उसके वेगों को रोकना चाहिए ।

—इसके अनन्तर अग्निवेश बोला (अग्निवेश ने प्रश्न किया)—भगवान् (प्राणियों का) आयु के काल का प्रमाण यदि नियत नहीं है तो (लोकों की) काल मृत्यु (अमुक सामान्य मर्यादा उपस्थित होने पर मृत्यु) तथा अकाल मृत्यु (युग-नियत मर्यादा के पूर्व मृत्यु) क्यों होती है ?

तमुवाच भगवानात्रेय :— श्रूयतामग्निवेश, यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः, स च सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानों यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्, तथाऽऽयुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति । स मृत्युः काले ॥

यथा च स एवाऽक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद् विषमपथादपाथादक्षचक्र—भङ्गाद्वाह्यवाहकदोषादणिमोक्षादनुपाङ्गत् पर्यवसनाच्चान्तराऽवसानमापद्यते, तथाऽयुरप्ययथावलमारम्भादयथाग्न्यभ्यवहरणाद्विषमा आभ्यवहरणाद्विमशरीर—न्यासादतिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहाद्विधार्यवेगाविधारणाद्भूतविष वाऽवग्न्यु-पतापादभिघातादाहारप्रतीकारविवर्जनाच्चान्तराऽवसानमापद्यते । स मृत्युरकाले । तथा ज्वरादीनप्यातङ्कान्मिथ्योपचरितानकालमृत्यून् पश्याम इति ॥ च० वि० ३।४३

—भगवान् अत्रिपुत्र उसे बोले—अग्निवेश सुनो । (इस विषय को दृष्टान्त (से स्पष्ट करता हूँ) । जैसे, (कोई) किसी सवारी गाड़ी (यान) से लगा अक्ष (धुरी) स्वभावतः अक्ष के (सर्व) गुणों से युक्त हो; और सर्वगुण संपन्न वह अक्ष उपयोग में लाया जाता हुआ समय आने पर (घात का कोई हेतु न होने पर भी जितने काल में उसका स्वभावतः नाश होना है वह काल उपस्थित होने पर[१] अपने (जीवन के) प्रमाण का क्षय होने के कारण अवसान को प्राप्त होता है वैसे शरीर को प्राप्त आयु भी यदि सुस्वस्थ प्रकृति से यथा-योग्य निर्वाह की जाती हुई अपने प्रमाण (युगानुरूप काल) की समाप्ति होने पर ही अवसान को प्राप्त हो तो उसकी यह मृत्यु काल-मृत्यु कही जाती है ।

—दूसरी ओर, वही अक्ष अत्यधिक भार से लदा होने के कारण, विषम (निम्नोन्नत, उच्चावच, ऊँचे-नीचे) मार्ग के कारण, मार्ग-भिन्न प्रदेश के कारण (वहाँ चलाने से); अक्ष में लगे चक्र के टूट जाने से, सवार और सारथि के दोष से, कील निकल जाने से, (ऊँग) स्नेह न डालने से अथवा फेंक दिया जाय तो मध्य में ही अवसान को प्राप्त होता है वैसे ही आयु भी शक्ति से अधिक (कायिक, वाचिक, मानसिक) चेष्टा करने से, अग्निबल से अधिक आहार का सेवन करने से, विषय (अन्नपान के सेवन के नियमों का उल्लङ्घन करके) आहार-ग्रहण करने से, शरीर को विषम-स्थापित करने से, अति व्यवाय (मैथुन) से, दुर्जनों के संसर्ग से, उत्पन्न वेगों के धारण से, धारणीय **वेगों** के अ-धारण से;

१—यथाकालमिति यावता कालेन प्रत्यवायशून्यस्याक्षस्य क्षयो भवति तस्मिन्नेवेत्यर्थः । स्वप्रमाणक्षयादेवेति युगानुरुपवर्षशतादिप्रमाणक्षयादित्यर्थः । XX अकालमृत्यूनितिअकालमृत्युकरान् ॥

—चक्रपाणि

भूतयोनियों, विष, वायु या अग्नि के सम्पर्क से; आघात से या (कभी आहार विषयक नियम का भङ्ग हुआ हो तो उस) आहार के प्रत्युपाय का आचरण न करने से वह मध्य में ही अवसान को प्राप्त होती है। इस मृत्यु को अकाल मृत्यु कहते हैं। ज्वरादि रोग भी मिथ्या चिकित्सित हों तो अकाल मृत्यु के कारण देखे जाते हैं।



वयसोऽवस्थात्रयविभागः

जनपदोद्ध्वंसनीयाध्याय के ऊपर घृत वचन में कहा है कि सत्य युग में पुरुषों की परमायु (औसतन आयु) चार सौ वर्ष होती थी । घटते-घटते यह प्रमाण चरक के काल में (६०० वर्ष ई० पू०) सौ वर्ष रह गया । सौ वर्षों की इस मर्यादा को बाल आदि तीन विभागों में चरक ने विभक्त किया है । यह आयुर्वेद के सिद्धान्तों का गमक तथा वर्तमान आयुर्मान, आरोग्य आदि से तुलना में उपयोगी होने से द्रष्टव्य है ।

वयसश्चेति; कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभि-धीयते ।[1]

तद्वयो यथास्थूलभेदेन त्रिविधम्–बाल, मध्यं, जीर्णमिति ।

तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसंपूर्णबलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षम् । विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टम् ।

मध्यं पुनः समत्वागतबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचन–विज्ञानसर्वधातुगुणं, बलस्थितमवस्थितसत्त्वमविशीर्यमाणधातुगुणं पित्तधातुप्राय-माषष्टिवर्षमुपदिष्टम् ।

अतः परं हीयमानधात्विन्द्रियबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानं, भ्रश्यमानधातुगुणं, वायुधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमच्यते आवर्षशतम् ।

वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले । सन्ति च पुनरधिकोनवर्ष–शत्तजीविनोऽपि मनुष्याः । तेषां विकृतिवर्ज्यैः विकृत्यादिबलविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत् ॥

—च० चि० ८।१२२

१—कालप्रमाणविशेषापेक्षिणीति कालस्य प्रमाणविशेषेण योगाद्भवतीत्यर्थः । यथास्थूलभेदेनेति वचनाद् बालबालतराद्यवस्थाभेदादधिकमपि वयो भवतीति दर्शयति। बालो द्विविधः अपरिपक्वधातुराषोडशवर्षात्, तथा वर्धमानधातुरात्रिंशत्तमात् । तदेतयोर्बालभेदयोरुपयुक्तत्वेन भेदमाह—षोड्शवर्षीयो हि बालोऽल्पमृदुभेषजत्वादिना शास्त्रे वक्तव्यः; तदूर्ध्वं बालोऽपि नाल्पभेषजत्वादिना तथोपचर्यते । क्रमेणेति नैकदैव षष्टिवर्षोदूर्ध्वं धात्वादिहानिरिति दर्शयति । अस्मिन् काल इति कलौ । अथाधिकवर्षशतजीविनां कथं वयस्त्रित्वं विभक्तव्यमित्याह—तत्रेत्यादि ।

प्रकृत्यादयो दश परीक्ष्या अत्रैव प्रकृतिविकृतिसारेत्यादिनोक्ताः । अत्र विकृतिवर्ज्यानामित्यनेन विकृतेः परित्यागः कृतः । तेन प्रकृतिसारादीनां बल–विशेषैः प्रवरावरमध्यरूपैरायुषः प्रमाणं प्रवरावराद्युपलभ्य वयस्त्रित्वं विभजनीयम् । एतेन यस्य प्रकृतिबलमुत्तमं श्लेष्मप्रकृतेः समप्रकृतेर्या तस्यायुर्दीघ भवति, हीने तु प्रकृतिबले हीनम् । एवं सारादावपि ज्ञेयम् । एवं वयःप्रकृत्यादीनां सर्वेषामेवोत्तमेन बलेन युक्तः स शताधिकं जीवति । तेन, तस्य विंशतिवर्षाधिकशतं यद्यायुरुपलभ्यते, तदा पूर्वोक्तवयोविभागानुमांनदाषट्त्रिंशदवर्षाणि स बालो भवति, द्विसप्ततिवर्षश्च स मध्यः, शेषे तु वृद्धः । यस्तु प्रकृत्यादीनां मध्यमत्वेनाल्पायुरशीतिवर्षोऽवधार्यते स पंचविंशतिवर्षाणि बालः, पञ्चाशतं मध्यः, ततो वृद्ध इत्यादि विभजनीयम् ।

—(रोग-परीक्षा में प्रकृति; विकृति—रोग, सार आदि दश भावों—वस्तुओं—की परीक्षा करनी होती है । इन परीक्षणीय दश भावों में एक वय—उम्र—भी है ।) वय से —वय की दृष्टि से भी (रोगी की परीक्षा करनी चाहिए) । शरीर की वह अवस्था वय कहलाती है जो काल की विशेष मर्यादा के संबंध से बताई जाती है । यह वय स्थूल भेद (विभाग) की दृष्टि से तीन प्रकार की है— बाल; मध्य और जीर्ण । स्थल भेद का अर्थ यह है कि इन्हीं के बाल बालतरादि सूक्ष्मतर भेद भी हो सकते हैं (पर स्थूल भेद ये तीन हैं) ।

इनमें बाल दो प्रकार का है— सोलह वर्ष पर्यन्त अपरिपक्वधातु बाल तथा तीसवें वर्ष पर्यन्त वर्द्धमान धातु बाल । आयुर्वेदोपयुक्त होने से इन दोनों बाल–भेदों का लक्षण वक्तव्य है । उपयुक्त इसलिये कि सोलह वर्ष तक बाल अल्प, मृदु (सुकुमार) औषध से चिकित्स्य होता है इत्यादि बातें शास्त्र में उनके विषय में कही जाती हैं । इसके अनन्तर बाल हो तो भी अल्प भेषजादि से उपचारणीय वह नहीं होता ।

—दोनों बालों में जिसमें धातु अभी परिपक्व नहीं हुए हैं, जिसके व्यंञ्जन (लिङ्गद्योतक बाह्य चिह्न [1]) अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, सुकुमार हैं क्लेशों को (श्रम को) सहन नहीं कर सकता है, बल जिसका सम्पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ है, तथा जिसमें श्लेष्मधातु (कफ) का प्राधान्य होता है उस सोलह वर्ष पर्यन्त बाल को अपरिपक्व धातु बाल कहा जाता है ।

—इसके अनन्तर तीस वर्ष पर्यन्त सत्त्व (मन, विचार) जिसमें प्रायः अस्थिर रहता है ऐसे बाल को (धातुओं के क्रमशः वर्धमान होने के कारण) वर्धमान धातु बाल कहते हैं ।

—पश्चात्, बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण (विषय को समझने की शक्ति), धारण, स्मरण, वचन (किसी बात को बोल या लिखकर स्पष्ट समझाने का सामर्थ्य)[2], विज्ञान (हस्त-कौशल) एवं सर्वधातुओं के गुण (सर्वधातु) जिसमें

न केवलं प्रकृत्यादिनाऽऽयुरवधार्य, किंत्वायुर्लक्षणेऽपि शरीर प्रतिबद्धैः शारीरे वक्तर्व्यरित्याह–आयुषो लक्षणतश्चेति । आयुर्लक्षणेनाऽपि वयोऽवधायं बाल्यादिवयोविभागः कर्त्तव्य इत्यर्थः । अयं च स्तोकन्यूनाधिकशतायुषां बाल्यादिविभागः कर्तव्यः । येषां तु विंशतिवर्षादि परमायुषो मानं न तेषां तदनुमानेन वयोभेदः; ते ह्यप्राप्तमध्यावस्था एव म्रियन्ते ।
—चक्रपाणि

१—दाढ़ी-मूँछ आदि चिह्न जिन्हें Secondary Sex Characters—सेकण्डरी सेक्स करेक्टर्स अंग्रेजी में कहा जाता है, इनके लिये व्यञ्जन शब्द प्राचीन और अपनाने योग्य है ।

२—इसके लिये अभिव्यञ्जन–शक्ति, अभिव्यक्ति आदि नये शब्द नये साहित्य–शास्त्रियों ने रच लिए हैं । Expression Power of expression के लिये प्राचीन वाङ्मय में सर्वत्र वचन शब्द आया है ।

समत्व को (संपूर्णता को) प्राप्त हो गए हैं, जो बल में स्थित है, (जिसका बल विशेष घट बढ़ नहीं रहा है), मन (बुद्धि, निश्चय) जिसका स्थिर है, जिसके धातु क्षीण नहीं हो रहे हैं, तथा जिसमें पित्त धातु का प्राधान्य है, ऐसे साठ वर्ष तक के पुरुष तथा वय को मध्य कहते हैं ।

—इसके पश्चात् जिसमें क्रमशः धातु, इन्द्रिय, बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन और विज्ञान क्षीण होते जाते हैं; धातुओं के गुण भी च्युत होते जाते हैं तथा जिनमें वायु का प्राधान्य होता है उस सौ वर्ष पर्यन्त के पुरुष या वय को जीर्ण कहते हैं ।

—इस कलिकाल में आयु का प्रमाण सौ वर्ष है । अवश्य ही सौ से अधिक या न्यून जीने वाले भी पुरुष हैं ही[१]। उनमें वय के विविध विभाग को जानने का प्रकार यह है कि विकृति नाम रोग के लक्षणों को छोड़ शेष प्रकृति आदि परीक्षणीय पदार्थों के बल का भेद देखकर; तथा आयु के लक्षण देखकर वय को तीन विभागों में विभक्त करना चाहिए । जैसे प्रकृति की परीक्षा की हो तो उसके प्रवर (श्रेष्ठ), अवर (हीन) और मध्य ये तीन भेद देखकर उनसे वय के विभाग जानने चाहिए । यथा, जिस श्लेष्मप्रकृति पुरुष का प्रकृति-बल उत्तम हो उसकी आयु दीर्घ होती है, हीन हो तो हीन । इसी प्रकार सार[२] आदि की परीक्षा करके भी वयो-भेद जानना चाहिए। इस प्रकार प्रकृति आदि सबका बल उत्तम हो तो तद्युक्त पुरुष सौ वर्ष से अधिक वर्ष जीता है । इस परीक्षा से जिसका वय एक सौ बीस वर्ष प्रतीत हो वह पूर्वोक्त वयोविभाग के अनुसार छत्तीस वर्ष पर्यन्त बाल होता है, बहत्तर वर्ष तक मध्य तथा शेष आयु के अन्त तक वृद्ध । प्रकृति आदि के मध्य बलानुसार जिसके विषय में यह धारणा की जाती है कि वह अस्सी वर्ष का होगा वह पच्चीस वर्ष पर्यन्त बाल, पचास वर्ष पर्यन्त मध्य तथा शेष आयु में वृद्ध होगा ।

—केवल प्रकृति आदि से ही आयु की अवधारणा नहीं करनी चाहिए, किन्तु शरीर से सम्बद्ध और शरीर स्थान में कहे आयु के लक्षणों से भी वय का अवधारण (निर्धारण); करके बाल्यादि वयो —विभाग करना चाहिए ।

१—आगे का वक्तव्य चक्रपाणि टीका से लिया है । अन्यत्र भी हमने मल की व्याख्या देते हुये टीका का भी आश्रय लिया है । अध्यापक तथा विद्यार्थी टीका के वचनों को स्वतंत्रतया देखें । प्रयोजन आयुर्वेदीय संस्कृत का अभ्यास जो है ।

सार लक्षणम्

2—रुग्ण-परीक्षा में प्रकृति आदि के साथ के सार की भी परीक्षा का विधान है ।

सार-शब्देन विशुद्धतरौ धातुरुच्यते—च० वि० ८।१०२ पर **चक्रपाणि**

रसादि धातुओं या मन में किसी की विशेष शुद्धि (उत्कर्ष) हो तो वह उस धातु का सार कहा जाता है । इनसे रोग के वलादि का ज्ञान होता है ।

—यह अपवाद रूप वयो-विभाग सौ से न्यूनाधिक वय वाले पुरुषों के वय के लिये है। जो बीस आदि वर्ष ही जीवित रहें उनका वयोभेद इस पद्धति से न करना चाहिए। कारण, वे मध्यावस्था को प्राप्त हुए बिना ही दिवंगत हो जाते हैं।

सुश्रुत—कृतो—वयो—विभागः

वयस्तु त्रिविधं—बाल्यं, मध्यं, वृद्धामिति। तत्रोनषोडशवर्षीया बालाः। ते त्रिविधाः—क्षीरपाः, क्षीरान्नादा, अन्नादा इति। तेषु संवत्सरपराः क्षीरपाः; द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादा, परतोऽन्नादा इति।

षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः[1]। तस्य विकल्पो वृद्धः, यौवनं, संपूर्णता, परिहाणिश्चेति। तत्र अविंशतेर्वृद्धिः, आत्रिंशतो यौवनम्, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसंपूर्णता; अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति।

सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि ब्रलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते॥

—सु० सू० ३५।२६

XX ऊनषोडशवर्षीया इति पञ्चदशवर्षीया इत्यर्थः। XX संवत्सरपरा इति परशब्देनात्रावधिरुक्तः। XX विकल्पो भेद इत्यर्थः। यौवनमिति वृद्धिसंपूर्णतयोर्मिश्रीभावः। संपूर्णतेति वृद्धानामवयवानामाप्यायनं संपूर्णता XX॥

—डल्हण

—वय के तीन भेद हैं— **बाल्य, मध्य** और **वृद्ध**। इसमें पन्द्रह वर्ष पर्यन्त **पुरुष** को बाल कहा जाता है। ये बाल भी तीन प्रकार के होते हैं— **क्षीरप, क्षीरान्नाद** और **अन्नाद**। एक संवत्सर (वर्ष)—पर्यन्त बाल को क्षीरप (स्तननिः सृत-क्षीर-भक्षक-डल्हन) कहते हैं। दो वर्ष पर्यन्त क्षीरान्नाद तथा इसके पश्चात् अन्नाद कहते हैं।

—सोलह और सत्तर वर्ष के अन्तर्गत वय को **मध्य** कहते हैं। इसके चार विभाग हैं—**वृद्धि, यौवन, संपूर्णता और परिहाणि।** इनमें बीस वर्ष तक वृद्धि कही जाती हैं, तीस वर्ष तक यौवन; चालीस तक सर्व धातुओं, इन्द्रियों, बल और शुक्र की सम्पूर्णता होती है; और इसके अनन्तर सत्तर वर्ष तक कुछ परिहाणि (उक्त धात्वादि की क्षीणता) होती है।

१—स्मरण रहे, आयु शब्द जीवन-काल, जिसे अंग्रेजी में 'लाइफ' कहा जाता है, उसके लिए, तथा वय शब्द अंग्रेजी 'एज' या 'उम्र' के अर्थ में संस्कृत वाङ्मय में प्रसिद्ध है। वय के अर्थ में आयु का अशुद्ध प्रयोग रूढ़ है।

विशेषकर बीमा आदि में आजकल जो Expectation of life (एक्स्पेक्टेशन ऑफ लाइफ) — आयु के अनुमान की पद्धति—प्रचलित है, उसका स्मरण इस प्रकरण से प्रकृत्या होता है।

—सत्तर वर्ष के पश्चात् दिन-दिन जिसके धातु, इन्द्रिय, बल, वीर्य और उत्साह का क्षय होता जाता है; जो बली (झुर्रियाँ, त्वक्-संकोच), पलित (केशों की धवलता) तथा खालित्य (गंजापन) से युक्त होता है; जो कास-श्वास प्रभृति उपद्रवों से पीड़ित होता है तथा सर्वक्रियाओं में असमर्थ होता है, अतएव जो वृष्टि से व्याप्त जीर्ण (टूटे-फूटे) घर के समान अब गिरे तब गिरे ऐसी स्थिति में होता है उसे वृद्ध कहा जाता है ।

वयोभेदेन दोष—भेदः

वयो—विभाग के अन्य प्रयोजनों के साथ सुश्रुत ने भी चरक के समान प्रत्येक विभाग का तत्तत् दोष से सम्बन्ध इस प्रकरण में बताया है । तथा हि—

बाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु ।
भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत् ॥ —सु० सू० ३५।३१

—बालक में श्लेष्मा का प्रकोप विशेष होता है, मध्यम में पित्त का तथा वृद्ध में वायु की सविशेष वृद्धि होती है । सो, वय के अनुसार इन दोषों की परीक्षा कर औषध-योजना वैद्य को करनी चाहिए ।



आचार–रसायनम्

पिछले प्रकरणों में हम आयुर्वेद का यह मत देख आए हैं कि पुराकाल में पुरुषों की सामान्य आयु चार सौ वर्ष की होती थी । आरोग्य और बल भी वैसा ही पुष्ट होता था । काल-क्रम से अधर्म का प्रादुर्भाव होने से आयु–आरोग्य और बल का ह्रास होने लगा और उसी प्रमाण में सुख छूट कर दुख ने व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व में प्रवेश किया । आज स्थिति कहाँ तक पहुँच गई है यह सुविदित होने से कहने की वस्तु नहीं है ।

दीर्घ आयु और स्थिर आरोग्य की प्राप्ति का एक उपाय रसायन-सेवन है । 'रसायन' की परिभाषा देखने से वाचक यह बात अंशतः समझ गए होंगे । यह रसायन केवल औषध-रूप नहीं होता, बल्कि अमुक प्रकार की चर्या भी स्वयं रसायनरूप होती है । सत्य तो यह है कि रसायनौषध-सेवी को भी रसायन का परिणाम इस चर्या के सेवन से ही प्राप्त होता है । इस चर्या का नाम **आचार–रसायन** है । जो व्यक्ति इस चर्या के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता हो उसे आचार्य ने **नित्य–रसायन** नाम रसायन द्रव्य का सेवन न करते हुए भी उसके फल का भोक्ता होने से जानी नित्य-रसायन-सेवी कहा है ।

अब स्वयं आचार्य के पदों में आचार–रसायन की परिभाषा देखिए —

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात् ।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम् ॥
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम् ।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम् ॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदितम् ।
समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम् ॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहंकृतम् ।
शस्ताचारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम् ॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम् ।
धर्मशास्त्रपर विद्यान्नरं नित्यरसायनम् ॥
गुणैरेतैः समुदितः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम् ।
रसायनगुणाम् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते ॥ —च० वि० १।४।३०।३५

करुणया सत्त्वानि पश्यतीति करुणवेदी । असंकीर्णः असंकीर्णभोजी । ('असंकीर्णः कुलजः' इति पाठान्तरम्) । नित्यं रसायन–प्रयोगो यस्य से नित्यरसायनः ।

—चक्रपाणि

ऐसे पुरुष को नित्य-रसायन (रसायनों का नित्य प्रयोक्ता) समझें जो सत्यवादी हो, क्रोध न करता हो, मद्य और मैथुन से निवृत्त रहता हो[१] हिंसारहित हो, आयास[२] (शरीर तथा मन को शान्ति मिले ऐसी और इतनी चेष्टा) न करता हो; अति शान्त हो, प्रियभाषी हो, जप और शुद्धि में तत्पर हो, धीर (मान-अपमान, हर्ष-शोक प्रभृति द्वन्दों से शून्य—निर्विकार) हो[३]; तपस्वी हो[४], देव, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु और वृद्धों के अर्चन (सत्कार) में रत हो; नित्य अनुशंसता (अक्रूरता) में परायण रहता हो; नित्य दया की दृष्टि से प्राणिमात्र

१—यहाँ मद्य के अतियोग का ही निषेध समझना चाहिए। कारण, सम प्रमाण में मद्य स्रोतों को निवृत्त (खुला) करने वाला, मनःप्रसादकर, दीपन-पाचन, धातुओं की पुष्टि करने वाला तथा अन्य अनेक प्रकार से गुणकारी है। इन गुणों के कारण आयुर्वेद में इसे यक्ष्मा में भी परमोपयोगी कहा है। नवीनों ने भी मदिरा को स्रोतोरोधहर (वेसो-डायलेटर—Vesodialator) अतएव हृद्ग्रह (एन्जाइना—Angina) में उपयुक्त पाया है।

मैथुन का अर्थ आर्तव बन्द होने पर बारह रात्रियों तक, पर्व के दिनों के अतिरिक्त एवं कन्या या पुत्र की इच्छा हो तो क्रमशः विशम और सम रात्रियों में स्त्री-समागम ही लेना चाहिए। शेष रात्रियों में गमन करते हुए पुरुष ब्रह्मचारी ही रहता और कहाता है यह आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्र का स्पष्ट मत है। अन्य शब्दों में ब्रह्मचर्य का अर्थ ही है ऋतुकाल—गमन।

२—अंग्रेजी में इसे स्ट्रेस (Stress) या स्ट्रेन (Strain) कहते हैं। चरक ने इसे **आयासः सर्वापथ्यानाम् (श्रेष्ठः)**—च० सू० २५।४० सर्व अपथ्यों में सब से बढ़ कर कहा है।

धीर-पुरुष-लक्षणम्

३—धीर पुरुष का लक्षण अधोलिखित पद्य से विदित हो सकता है। श्रीराम को उद्दिष्ट कर भगवान् वशिष्ट कहते हैं—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय वा।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥

—अभिषेक का आमन्त्रण पाने पर और वन जाने का आदेश मिलने पर—दोनों ही अवस्थाओं में—मैंने उसके आकार में (हर्ष या शोकजनित) अणुमात्र रूपान्तर होता नहीं देखा।

तपसो लक्षणम्

४— तप शब्द का अर्थ श्रीमद्भगवद्गीता में (अ० १७। श्लोक १४।१६) उत्तम वर्णित है। वह यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है।—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनंशौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

—देव, ब्राह्मण, गुरु और बुद्धिशालियों का सत्कार, पवित्रता, आर्जव (सरलता), ब्रह्मचर्य और अहिंसा—इसे **शारीर** तप कहते हैं।—

को देखता हो[1]; जिसके जागरण और निद्रा सम प्रकृति आदि के अनुसार योग्य मात्रा में); जो नित्य दुग्ध और घृत का सेवन करता हो; जो देश और काल (परिस्थिति) के प्रमाण को जानता हो (तदनुकूल सोच-समझ कर कार्य करता हो); युक्तिज्ञ हो (कौशल से कार्य करता हो); अहङ्कारशून्य हो प्रशस्त आचार वाला हो; असंकीर्ण (अमिश्रित; जिसमें अनेक कल्पनाएँ न हों, अतएव जो केवल रुचिकर होने से अतिमात्र खाया जाय ऐसा न हो ऐसा) भोजन करने वाला हो; जिसकी इन्द्रियाँ अध्यात्म में प्रवृत्त[2] हों; जो वृद्धों, आस्तिकों और जितेन्द्रिय पुरुषों की उपासना (सान्निध्य—संग—और सेवा—संमान) करता हो; और जो धर्मशास्त्रपरायण हो ।

—जो पुरुष इन गुणों से युक्त हो रसयन का सेवन करता है वह यथोक्त सर्व रसायन के गुणों को प्राप्त होता है ।

—मेधायुष्कामीय अध्याय के अन्त में सुश्रुत ने भी आचार-रसायन के सदृश ही नियम बताए हैं; यद्यपि संक्षेप में । तथा हि :—

सतताध्ययनं वादः परतन्त्रावलोकनम् ।
तद्विद्याचार्यसेवा च बुद्धिमेधाकरो गणः ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

—ऐसा वाक्य (बोलना) जो क्लेशदायी न हो, परंतु प्रिय (मधुर) साथ ही सत्य हो तथा शास्त्रों का अभ्यास —यह **वाचिक** (वाङ्मय) तप कहा जाता है ।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥

—मानसिक शान्ति, सौम्यता (मन की शीतलता), मौन, आत्म-निग्रह, विचारों की शुद्धि —यह **मानस तप** है ।

आधुनिक मानसशास्त्रियों ने आन्तर मन या उपमन (Subconcious self—सबकॉन्शस सेल्फ) को ही जीवन का निर्माण करने वाला (घड़वैया) बताया है । कहा है कि व्यक्त बाह्य मन जब कार्य नहीं कर रहा होता उस काल निद्रा में आन्तर मन कार्य करता है । निद्रा की अपेक्षया प्राचीनों ने मौन तथा समाधि की अन्तर्मुख वृत्ति को इस मन की प्रवृत्ति के लिये अधिक उपयुक्त माना था । इस प्रकार नव्यमत से मौन का महत्त्व समझा जा सकता है ।

गीता ने आगे इस त्रिविध तप के सात्त्विकादि तीन प्रभेद बनाए हैं । जिज्ञासुओं को उन्हें वहीं देखना चाहिए ।

१—**करुणवेदी** शब्द में सामान्य ज्ञान-वाचक विद धातु है । उसका यहाँ विशेष ज्ञान 'देखना' अर्थ गृहीत है ।

२—प्रवण का अर्थ प्रवृत्त, झुका हुआ है । इसी अर्थ के अंग्रेजी शब्द Prone —प्रोन से इसका साम्य द्रष्टव्य है ।

आयुष्यं भोजनं जीर्णे वेगानां चाविधारणम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च साहसानां च वर्जनम् ॥ —सु० चि० २७।२८।२७-

न केवलं रसायनयोगादेव मेधायुषी भवतः, किं तर्हि x x। —**डल्हन**

—केवल रसायन-द्रव्यों के सेवन से ही मेधा और आयु की वृद्धि नहीं होती । अमुक प्रकार का आचार भी मेध्य और आयुष्य होता है । यथा, सतत अध्ययन, वाद (शास्त्र चर्चा, संभाषा), अन्य तन्त्रों का अवलोकन तद्विद्य आचार्यों का सान्निध्य— यह बुद्धि और मेधा की वृद्धि करने वाला गुण है ।

—पूर्वकृत भोजन जीर्ण होने पर भोजन, वेगों का अ–विधारण[1], ब्रह्मचर्य अहिंसा (अन्यों को कष्ट न देना) तथा साहसों का वर्जन—ये आयुष्य हैं ।

यथास्थूलमनिर्वाह्य दोषाञ्छारीरमानसान् ।

रसायनगुणैर्जन्तुर्युज्यते न कदाचन ॥

योगा ह्यायुःप्रकर्षार्था जरारोगनिबर्हणाः ।

मनः शरीरशुद्धानां सिध्यन्ति प्रयतात्मनाम् ॥ —च० चि० १।४।३६-३७

—शारीर और मानस दोषों को स्थूलता के क्रम से शुद्ध किए बिना पुरुष कदापि रसायन के गुणों को प्राप्त नहीं करता ।

—आयु को प्रकृष्ट (दीर्घ और सुखी) करने वाले एवं जरा और रोग को निर्मूल करने वाले योग मन और शरीर से शुद्ध जितात्माओं को ही लाभ पहुँचाते हैं ।

यह आचार–रसायन आज के विश्व को आयुर्वेद की ओर से मिलनेवाली चेतावनी है । परिस्थिति कुछ ऐसी हो गयी है कि, एक, ओर तो जीवन में

वेगधारणं कथं क्लेशमावहति

१—मल, मूत्र, अधोवात, शुक्र और गर्भ का वेग के पूर्व धारण और वेग होने पर मोक्ष आयुर्वेद के मत से एक ही वायु—अपान—के कर्म हैं नव्य—मत से इनका धारण एक तन्त्र का कार्य है तथा मोक्ष दूसरे तन्त्र का । स्वयत्त नाड़ी—संस्थान के दो भेदों—आग्नेय (सिम्पेथेटिक) और सौम्य (पेरासिम्पेथेक) के ये पृथक् कर्म हैं। उत्पन्न वेग को धारण करने से निर्गमनोन्मुख मलों (Toxins टॉक्सिन्स) का संचय होने से तो हानि होती है; साथ ही मल —प्रवर्तक नाड़ी—तन्त्र क्षुभित (इरिटेट) भी होता है । इसी प्रकार अनुदीर्ण वेग को उदारित करने से मल-धारक नाड़ी—तन्त्र क्षुभित होता है । इस क्षोभ से उनका मस्तिष्क में स्थित केन्द्र भी क्षोभ को प्राप्त होता है । इस क्षोभ का प्रभाव उसी के समीपवर्ती, सहकारी तथा अध्यक्षभूत मस्तिष्क सौषुम्णिक नाड़ी—तन्त्र पर पड़ता है । इस प्रकार केवल वेगों के धारण और उदीरण से ही विभिन्न रोग उत्पन्न होने के योग्य भूमिका तैय्यार हो जाती है ।

चिन्ता, शोक, आयास आदि उत्पन्न करने वाले कारण भारी संख्या में खड़े हो गये हैं, दूसरी ओर मन को शान्त करने में सहायक हो सके ऐसी चर्या क्रमशः छूटती जा रही है । न वह संध्या–पूजन न वह व्रत, न वह मौन, न वह भूत–दया, न वह वृद्धों और अतिथियों का संमान । रह गयी है केवल सतत कार्य-व्यग्रता, जिसकी बुरी छाप, आधुनिकों ने भी प्रबल शब्दों में कहा है–हृदय, मस्तिष्क, अधिवृक्क (एट्रीनल), अग्न्याशय (पेन्क्रियास), रस, रक्तवह धमनियों आदि पर पड़ती है । अनेक कम्पनियों का डायरेक्टंर–उद्योगपति, रात दिन प्रेक्टिस में पड़ा चिकित्सक, काम और स्वामी की वक्र दृष्टि के बीच दबा क्लर्क, अति–वृष्टि–अनावृष्टि आदि के विचार के भार से पिसता किसान, भारी कुटुम्ब का एक मात्र पालक साधारण गृहस्थ इन सब को आज के जीवन की विषम पद्धति का मूल्य हाई ब्लड प्रेशर, हृदय–दौर्बल्य, यक्ष्मा, मधुमेह, पैत्तिक शूल (पैष्टिक अल्सर), मेदस्विता आदि रोगों और अन्त में सहसा मृत्यु के रूप में चुकाना पड़ता है ।

मनःसमाधेर्महत्त्वम्

आयुर्वेद तथा भारतीय वाङ्मय में मनः समाधि (मानसिक शान्ति) का महत्त्व इसी कारण स्थान–स्थान पर वर्णित है । इस मनः समाधि को को उद्दिष्ट कर चरक ने स्पष्ट कहा है–

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत्परम् ।
मनःसमाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम् ॥ —च० चि० २४।५२

—इह लोक में (वर्तमान जीवन में), मरण के अनन्तर जन्मान्तर में, इतना ही नहीं मोक्ष में (स्वर्गापवर्ग में) जो कल्याण प्राणि-मात्र को उपलब्ध होता है, वह सब मनः समाधि के ही अधीन है—मनः समाधि से ही प्राप्त होता है ।

इसी कारण साधारण रोगों में तो उपचारतया मानस गुणों के अवलम्बन का उपदेश प्राचीनों ने किया ही है, जनपदोद्ध्वंसक व्याधियों का प्रादुर्भाव होने पर भी इसका आश्रय विहित है, यह ऊपर यथा—प्रकरण हम देख चुके हैं अन्यत्र प्रज्ञापराध को सर्व रोगों का कारण कहते हुए आचार्य ने प्रकारान्तर से यही बात कही है । प्रज्ञापराध का विचार संक्षेप में पहले कर आए हैं । उपयुक्त होने से पुनः कुछ विस्तार से उसका उल्लेख किया जाता है ।



प्रज्ञापराध–विवरणम्

उपधाया दुःखमूलत्त्वम्

उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः ॥
त्यागःसर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः ॥
कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रधान् ।
उपादत्ते तथाऽर्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः ॥
यस्त्वग्निकल्पानर्थांज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते ।
अनारम्भादसंयोगात्तं दुःखं नोपतिष्ठते[1] ॥

—च० शा० १।६५–६७

उपधा (भोग की तृष्णा) ही दुःख के आश्रय—भूत शरीर की उत्पत्ति का मूल कारण है तथा सर्व प्रकार की उपधातुओं का त्याग ही समस्त दुःखों का निवर्तक है । (टीकाकार चक्रपाणि इसकी व्याख्या करता हुआ कहता है) —पुरुष भोग की तृष्णा (रागद्वेष) से प्रवृत्ति करता हुआ—विविध चेष्टा करता हुआ—दुःख और शरीर के उत्पादक धर्म और अधर्म का[2] ग्रहण करता है । परन्तु वह सर्व प्रकार की उपधा का त्याग कर दे तो राग—द्वेषवश किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता (निष्काम ही कर्म करता है) । इस निष्काम प्रवृत्ति के कारण ही धर्माधर्म का ग्रहण नहीं करता । परिणामतया, अब तक न किए धर्म और अधर्म का अभाव होता है—उनकी उत्पत्ति नहीं होती । उधर, पहले उपर्जित धर्म–अधर्म का राग–द्वेषशून्य हो उपभोग करने से ही क्षय हो जाता है । इस प्रकार सर्वथा कर्म–क्षय होने के कारण दुःख और दुःखाश्रय—भूत शरीर का अभाव (अन्य शब्दों में स्वर्गापवर्ग) होता है ।

१–परो हेतुरिति मूलकारणम् । दुःखरूपेणैव दुःखाश्रयः । भोगतृष्णया हि प्रवर्तमानो धर्माधर्मान् दुःख शारीरोत्पादकानुपादत्ते । सर्वोपधात्यागात्तु न रागद्वेषाभ्यां कचित्प्रवर्तते । अप्रवर्तमानश्च न धर्माधर्मानुपादत्ते । एवमनागतधर्माधर्मोपरमः । उपात्तधर्माधर्मयोस्तु रागद्वेषशून्यस्योपभोगादेव क्षयः । तेन सर्वथा कर्मक्षयाद्दुःखशरीराभाव इति भावः । अत्रैव तृष्णाया दुःखकारणत्वे दृष्टान्तमाह- कोषकार इत्यादि । कोषकारः स्वनामप्रसिद्धः कीटः । सदातुर इति सदा संसारदुःखगृहीतः । अनारम्भादिति रागद्वेषपूर्वकारम्भविरहात् । असंयोगादिति आरम्भ—शून्यत्वेन धर्माधर्मोच्छेदकृताच्छरीरसंयोगात् । शरीराभावे च निराश्रयमकारणकं दुःखं न भवतीति भावः ॥ —चक्रपाणि

२–स्मरम रहे, धर्म और अधर्म शब्द लोक–व्यवहार में शुभ–अशुभ कर्मों के लिए प्रसिद्ध हैं । भारतीय दर्शन के अनुसार ये आत्मा के गुण हैं । आत्मा इन्द्रियों

—तृष्णा से जन्म-मरण और शरीर के बन्धन में पड़ने के इस विषय को दृष्टान्त से समझाते आगे मूल ग्रन्थकार कहता है—जिस प्रकार कोषकार (रेशम बनाने वाला कीड़ा) अपना वध करनेवाले सूत्रों को स्वयं (बनाता और) ग्रहण करता है, तद्वत् (उसी प्रकार) अज्ञ और सदा रोगी (सदा संसार–रूप दुःख के पाश में पड़ा) पुरुष विषयों के प्रति तृष्णा को ही स्वीकार करता है । परन्तु—

—बुद्धिसम्पन्न पुरुष विषयों को अग्नि–तुल्य समझ कर उनसे निवृत्त (विमुख, पराङमुख होता है; और राग–द्वेष पूर्वक कर्मों का आरम्भ (प्रवृत्ति) न करता होने से परिणामतया धर्माधर्म का उच्छेद होने के कारण शरीर का संयोग न होने से उसे दुःख की उपलब्धि नहीं होती ।

निष्काम (राग–द्वेष या महत्वरहित) कर्म करने से कर्म करते हुए भी उनका लेप या बन्धन नहीं होता इस विषय का विस्तार जिज्ञासुओं को श्रीमद्भगवद्गीता से प्राप्त हो सकता है ।

आगे दुःखों के (शारीर–मानस रोगों के) कारणों का निर्देश करते ग्रन्थकार कहते हैं—

धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः संप्राप्तिः कालकर्मणाम् ।
असात्म्यार्थागमश्चैव ज्ञातव्या दुःखहेतवः[1]॥ —च० शा० १।९८

दुःखों के ये तीन कारण हैं —१—बुद्धि (हिताहित का ज्ञान), (हिताहित का संयोग होने पर उनके हित और अहित होने की) स्मृति और (अहित के परित्याग और हित के सेवन के लिये योग्य) धृति या संयम–प्रज्ञा के इन गुणों का नष्ट होना (प्रज्ञा-पराध); २—काल और कर्म की संप्राप्ति; अर्थात् अमुक काल उपस्थित होने पर जो रोग प्रकट होते हैं उनका यथाकाल प्रकट होना एवं कर्म का परिपाक होने पर जो दुःख या रोग प्रादुर्भूत होते हैं उनका प्रादुर्भाव होना[2]; तथा ३— इन्द्रियों का अपने अर्थों से असात्म्य योग (अयोग, हीनयोग तथा अतियोग-मिथ्या योग; इनका विस्तार स्वस्थवृत्त में द्रष्टव्य है ।)

की सहायता से जो शुभ–अशुभ कर्म करता है वे धर्म–अधर्म नामक गुणों के रूप में आत्मा में रहते हैं । परिपाक काल उपस्थित होने पर ये सुखःदुख के रूप में परिणत हो जाते हैं । इन्हें संस्कार भी कहते हैं । अदृष्ट, दैव आदि इसी के पर्याय हैं ।

१— X X X धीधृतिस्मृतयः प्रज्ञाभेदाः । X X X संप्राप्तिः कालकर्मणामिति कालस्य संप्राप्तिः कर्मणश्चः संप्राप्ति । कर्मसंप्राप्तिः पच्यमानकर्मयोगः । कालसंप्राप्तिग्रहणेन चेह ये कालव्यक्तास्ते गृह्यान्ते, नावश्ये कालजन्याः । X X X कर्मजास्तु प्रज्ञापराधजन्या एवेह XX पृथगुच्यन्ते X XX ॥ —चक्रपाणि

२—तत् तत् ऋतु में तत्–तत् दोष का ऋतुस्वभाववश संचय, प्रकोप और प्रशम; अथवा ऋतुओं की व्यापात्ति (लक्षण न्यून, अधिक या विपरीत होना); वय के तीन भेद; दिवस तथा रात्रि दोनों के पूर्व, मध्य और अपर भाग; एवं भोजन के संबंध से अन्नपान का भोजन; जरण तथा जीर्णता—इन स्थितियों में जो दोषों का

कर्मज रोगों को अन्यत्र (जैसे पूर्वघृत जनपदोद्ध्वंसनीयाध्याय में) प्रज्ञापराधजन्य ही कहा है ।

बुद्ध्यादि–प्रज्ञापराध लक्षणम्

विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते ।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति ॥
विषयप्रवणं सत्त्वं धृतिभ्रंशान्न शक्यते ।
नियन्तुमहितादर्थाद्धृतिर्हि नियमात्मिका ॥
तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः ।
भ्रश्यते स स्मृतिभ्रंशः स्मर्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम् ॥

—च०शा० १।९९–१०१

नित्य और अनित्य, हित और अहित (हितकर और अहितकर) पदार्थों के विषय में जो विषय नाम विपरीत निर्णय—अर्थात् हित को अहित और अहित को हित तथा नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य मानना इसका नाम बुद्धिविभ्रंश है । कारण, बुद्धि स्वस्थ हो तो वस्तुओं का सम ही दर्शन करती है—वस्तु जैसी हो वैसा ही उसका अनुभव करती है ।

—धृति (संयम) का भ्रंश (च्युति) हो जाय तो अहित विषयों के प्रति प्रवृत्त होते हुए मन को उनसे परावृत्त नहीं किया जा सकता । कारण, स्वस्थ धृति का कार्य है—अकार्य में प्रसक्त मन को नियंत्रित करना । (वह अपना यह कर्म करने में असमर्थ रहे तो यह उसका भ्रंश कहाता है ।)

—पुरुष–विशेष रजोगुण और तमोगुण से आवृत्त मनवाला होने से उसकी स्मृति तत्व का ज्ञान (स्मरण) करने के स्वकर्म से च्युत हो जाए तो इसे स्मृतिभ्रंश कहते हैं । कारण, स्मर्तव्य वस्तु स्मृति में ही स्थित होती हैं । (स्मृति स्मर्तव्य का धारण न करे तो यह उसका भ्रंश ही होता है ।)

प्रज्ञापराध–लक्षणम्

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ —च० सा० १।१०२
सर्वदोषशब्देन वातादयो रजस्तमसी च गृह्यन्ते ॥

—चक्रपाणि

वैषम्य होकर रोगोत्पत्ति होती है उसे काल-सम्प्राप्ति कहते हैं । इस प्रकरण में विषम—ज्वरों तथा जरावस्था आदि स्वाभाविक रोगों को भी कालज कहा है ।

—धी (बुद्धि), धृति और स्मृति से (पूर्वोक्त प्रकार से) भ्रष्ट हुआ पुरुष जो अशुभ (अहित) कर्म करता है, शारीर दोष बात–पित्त–कफ तथा मानस–दोष रजस्–तमस् को प्रकुपित (विषम) करने वाले इस कर्म को **प्रज्ञापराध** कहते हैं ।

अशुभ कर्म का विवरण करते ग्रन्थकार कहते हैं—

उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः ।
सेवनं साहसानां च नारीणां चातिसेवनम् ॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम् ।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिघर्षणम् ।
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम् ।
परमौन्मादिकानां च प्रत्ययानां निषेवणम् ॥
अकालादेशसंचारौ मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः ॥
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृतस्य–च वर्जनम् ॥
ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः ।
तज्जं वा कर्म यत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद्देहकर्म च ।
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम् ।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम्[१] ॥ —च० शा० १।१०३–८

—वहिर्गमशील मलों का वेग उपस्थित न हो तो उपस्थित करना—मिथ्या बल करना, वे उदीर्ण हों (उसकी हाजत हुई हो) तो उनका निग्रह, साहस (शक्ति से अधिक कायिक, वाचिक, मानसिक श्रम), अति व्यवाय (मैथुन,), चिकित्सा का काल उपस्थित होने पर उसका अतिक्रमण (उस काल चिकित्सा न करना)[२]; पंचकर्मों का अयोग, हीनयोग या अतियोग, विनय और आचार का लोप (वर्जन); यथा विशेषकर पूज्यों की अवज्ञा जिन अर्थों—विषयों—के विषय में विदित है कि वे अहित हैं उनका सेवन; मन को दूषित (विकृत, राग, द्वेष, क्रोधादि से आक्रान्त) करने वाले पदार्थों का संसर्ग, अहित देश और काल में संचरण पतितों का संग, इन्द्रियोपक्रम–प्रकरण में कहे स्वस्थवृत्त का अनुष्ठान न करना;

१—**कर्मकालातिपातश्चिकित्साकालातिवर्तनम् । मिथ्यारम्भ इति अयोगातियोगमिथ्या योगरूपः । विनयाचारलोपेनैव प्राप्तमपि यत् पुनः पूज्यनामभिघर्षणाद्यभिधीयते तद्विशेषेण प्रकोपकत्वख्यापनार्थमुदाहरणार्थं च । संक्लिष्टकर्मभिरति पतितैः । क्लिष्टं निन्हितम् ॥ —चक्रपाणि**

२— सुश्रुत ने सु०अ० २१ में प्रकोप की संचयादि छ अवस्थाएँ बताकर प्रत्येक के पृथक्-पृथक् लक्षण कहे हैं । इनमें प्रत्येक को प्रथम, द्वितीय आदि

ईर्ष्या मान (अहंकार), भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद और भ्रम; अथवा इनके वश हो किया अप्रशस्त कर्म, अथवा कोई भी निन्दित शारीर चेष्टा—इन सबको शिष्ट पुरुष रोग-मात्र का कारणभूत प्रज्ञापराध कहते हैं ।

पुनः अपराध के लक्षण को विशद करते अत्रिपुत्र कहते हैं ।

बुद्धया विषमविज्ञानं विषम च प्रवर्तनम् ।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत् ॥ —च० शा० १।१०६

—बुद्धि से (हिताहित का) विपरीत ज्ञान होना; एवं (शुद्ध ज्ञान हो या न हो) विपरीत प्रवृत्ति करना—इसका नाम प्रज्ञापराध है । ये ज्ञान और प्रवृत्ति मन के ही विषय होने से प्रज्ञा के (मनो गुण विशेष के) अपराध माने गये हैं ।

मूल ग्रन्थ में इसके आगे ग्रन्थकार ने रोगोत्पत्ति में काल तथा असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग की कारणता सविस्तार समझायी है । वह विषय विद्यार्थी स्वस्थवृत्त के प्रकरण में पढ़ेंगे ही । यहाँ कर्मज रोगों के विषय में आयुर्वेद का सिद्धान्त अन्य पद्धतियों से कुछ विलक्षण होने से दिया जाता है—

कर्मजरोगविचारः

निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत्पौर्वदैहिकम् ।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ॥
न हि कर्म महत् किञ्चत् फलं यस्य न भुज्यते ।
क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ॥
—च० शा० १।११६–१७

—पौर्वदैहिक कर्म जिसे दैव (या अदृष्ट) शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है वह भी परिपाक का काल आने पर रोगों का हेतु हुआ देखा जाता है । (इसी से ऐसे रोगों की कालज रोगों में यहाँ गणना की है) :

कोई भी ऐसा बड़ा कर्म नहीं है जिसके फल का निश्चित भोग (रोगादि दुःखों के रूप में) न करना पड़े । ('बड़ा' कर्म इस हेतु कहा कि, छोटा कर्म प्रायश्चित्तादि से दबा भी दिया जा सकता है) । ये कर्मज (पूर्वजन्म के कर्म का फल भोगने के लिये हुए) रोग क्रियाओं को-उपचारों को—नष्ट करने

क्रम से चिकित्सा–काल कहा है । इन अवस्थाओं में रोग अणु होता है । इसे उसी काल पराभूत करना सुकर होता है । अन्यथा दोष उत्तरोत्तर धातुओं में प्रविष्ट होता हुआ—गम्भीर होता हुआ—असाध्यतर होता जाता है । इन तथा अन्य प्रकरणों में दोष–विशेष के प्रकोप के जो कारण कहे गये हैं, उन्हें विरोधी दोष के क्षय के कारण भी समझना चाहिए । इस प्रकार शास्त्र में विस्तार से दोषों के प्रकोप की चर्चा की गई है, पर अर्थापत्ति से उनके क्षय का भी विचार इनमें हो ही गया मानना चाहिए ।

वाले—निष्फल बना देने वाले—होते हैं । वे कर्म का क्षय होने से ही क्षय को प्राप्त होते हैं ।

लोक में भी प्रायः चिरानुबंधी रोगों के लिये कहा जाता है—भोग होगा तब तक भोगना होगा; पनौती (साढ़ेसाती आदि) चलती रहेगी, तब तक यातना रहेगी इत्यादि । आयुर्वेदोक्तदैवव्यपाश्रय चिकित्सा—इन कर्मज रोगों को लक्ष्य में रखकर ही विशेषतया होती है ।

प्रकरण के अन्त में पुनः उपधा या तृष्णा से रोगोत्पत्ति–विषय का उसंहार करते मुनि कहते हैं—

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात्प्रवर्तते ।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते ॥

—च० शा० १।१३४

सुखदुःखोत्पत्तिक्रममाह—इच्छत्यादि । सुखादिच्छारुपा तृष्णा, दुःखाच्च द्वेषरुपा तृष्णा प्रवर्तते । इयं चोत्पन्ना तृष्णा ईस्पितेऽर्थे प्रवर्तयन्ती द्विष्टे च निवर्तयन्ती X X सुखदुःखे जनयतीति वाक्यार्थः ॥ —**चक्रपाणि**

सुख होने से उसकी प्राप्ति को इच्छारूप तृष्णा तथा दुःख होने पर उसके कारण के प्रति द्वेषरूप तृष्णा उत्पन्न होती हैं । यह उत्पन्न तृष्णा सुख के कारणभूत अर्थ में प्रवृत्त तथा द्विष्ट (द्वेषपात्र) अर्थ से निवृत्त करती हुई पुरुष को सुख और दुःख हेतु भूत विषयों के संसर्ग में लाती हुई तथा उनसे निवृत्त करती हुई सुख और दु,ख का कारण बनती है ।

प्रज्ञापराधस्य रोगहेतु—प्रामुख्यम्

रोगों के जो तीन कारण ऊपर कहे हैं, उनमें प्रज्ञापराध ही मुख्य हैं । कारण, प्रज्ञा भ्रष्ट होने से वह प्रज्ञापराध के प्रकरण में कहे असद्वृत्त का सेवन करता ही है, साथ ही इन्द्रियों के लिये असात्म्य विषयों का भी सेवन करता है, तथा काल उपस्थित होने पर रोगों का प्रतीकार करने के लिये जो उपचार करना चाहिए उसका आचारण (अनुष्ठान) नहीं करता । यह विषय स्वयं संहिताकार के शब्दों में देखिए । स्वस्थ–वृत्त के प्रकरण की परिसमाप्ति करते हुए वे कहते हैं—

अजातानामनुत्पत्तौ जातानां विनिवृत्तये ॥
रोगाणां यो विधिर्दृष्टः सुखार्थी तं समाचरेत् ॥
सुखार्थाः सर्वभूतानां मतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥
ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः ॥

—च० सू० २८।३४-३५

—अनुत्पन्न रोगों की अनुत्पत्ति[1] के लिए तथा उत्पन्न रोगों की निवृत्ति के लिए तन्त्र में जो विधि बताई गयी है, सुखार्थी पुरुष को उसका आचरण करना चाहिए ।

—सर्व प्राणियों की सर्व प्रवृत्तियाँ सुख के प्रयोजन से ही होती हैं । परन्तु मार्ग और अमार्ग (अनुचित दिशा) पर उनकी प्रवृत्ति (क्रमशः) ज्ञान और अज्ञान (प्रज्ञापराध के कारण होती है ।)

हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥
रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः ॥
श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दाक्ष्यं धृतिर्हितनिषेवणम् ।
वाग्विशुद्धिः शमो धैर्यमाविशन्ति परीक्षकम् ॥
लौकिकं नाश्रयन्त्येते गुणा मोहरजः श्रितमू ।
तन्मूला बहवो यान्ति रोगाः शारीरमानसाः[2] ।

—च० सू० २८।३६-३८

—परीक्षक नाम सदसद्विवेचक तथा समीक्ष्यकारी पुरुष[3] उत्तम प्रकार से परीक्षा कर के तत्काल दुःखदायी होते हुए भी परिणाम में सुखद हित (श्रेय) को ही ग्रहण करते हैं । इसके विपरीत अपरीक्षक लौकिक पुरुष रजस् और मोह (तमस्) से आवृत मनवाले हो तत्काल सुखद परन्तु परिणाम में असुखकर प्रिय (प्रेय) को ही स्वीकारते हैं ।

—श्रुत (शास्त्रज्ञान), बुद्धि (निश्चय, स्थिर निश्चय करने का मनोगुणविशेष; अध्यवसाय), स्मृति, दक्षता, धृति हित के ही सेवन की प्रवृत्ति, वाणी की विशुद्धि; शम और धैर्य—ये सुगुण परीक्षक को प्राप्त होते हैं ।

—मोह और रजस् में लीन अपरीक्षक को ये गुण सुलभ नहीं होते । अतएव तन्मूलक शारीर और मानस रोग उसे आक्रान्त करते हैं ।

प्रज्ञापराधाद्धयहितानर्थान् पञ्च निषेवते ।
संधारयति वेगांश्च सेवते साहसानि च ॥
तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते ।

१— यहाँ तथा अन्यत्र अनुत्पत्ति शब्द अंग्रेजी प्रिवेन्शन के पर्याय रूप में आया है । इसके लिए प्रतिकर्म शब्द भी प्रयुक्त हुआ है ।

२— हितमेवेत्यायतिविशुद्धमेव तदात्वे दुःखकरमपि । प्रियमेवेति तदात्वे सुखमायतिविरुद्धम् । लौकिका अपरीक्षकाः । X X X तन्मूला रजस्तमोमूलाः । तदात्वे=तत्काल; आयति= उत्तरकाल । —चक्रपाणि

३— परीक्षकाः सदसद्विवेचकाः प्रेक्षकापूर्वकारिकः—शिवदाससेन ।

रज्यते न तु विज्ञाता विज्ञाने ह्यमलीकृते ॥ —च० सू० २८।३६-४०

—लौकिक पुरुष को ये रजस्तमोमूलक रोग कैसे होते हैं इसका विवरण करते मुनि कहते हैं—अपरीक्षक पुरुष प्रज्ञापराधवश ही अहित (अयोगादियुक्त) पाँच विषयों का सेवन करता है, वेगों का धारण करता है तथा साहस कर्म करता है ।

—अज्ञ पुरुष ही तात्कालिक सुख की प्रतीति कराने वाले परन्तु 'परिणाम में विषोपम' भावों में आसक्त होता है । ज्ञानवान् पुरुष अपने निर्मल ज्ञान के कारण इनमें रक्त नहीं होता ।

हिताहारस्य विशेषतोऽवधेयता

शरीर और मन के आरोग्य और बल=वृद्धि के लिये उपयुक्त सर्व भावों में हिताहार का महत्त्व सर्वोपरि है । इसी से प्रकरण के उपसंहार में उसके प्रति सविशेष चित्त आकृष्ट करते अत्रि पुत्र आगे कहते हैं ।

न रागान्नाप्यविज्ञानादाहारानुपयोजयेत् ।

परीक्ष्य हितमश्नीयाद्देहो ह्याहारसंभवः ॥ —च० सू० २८।४१

—अमुक आहार-द्रव्य अहित है यह जानते हुए भी राग-वश (जिह्वालौल्यवश), अथवा अज्ञानवश आहार-द्रव्यों का उपयोग न करना चाहिए । किन्तु **परीक्ष्य हितमश्नीयात्**—सदसद्विवेचनपूर्वक हित ही वस्तु का सेवन करना चाहिए । कारण, देहो ह्याहासंभवः-इस शरीर की उत्पत्ति (पुष्टि और आरोग्य) आहार से ही होती है—

आहारस्य विधावष्टौ विशेषा हेतुसंज्ञकाः ॥

शुभाशुभसमुत्पत्तौ तान् परीक्षा प्रयोजयेत् ॥ —च० सू० २८।४२

—आहार के विधान में (आहार-द्रव्यों से) शुभअशुभ-हित और अहित-परिणाम की उत्पत्ति में कारणभूत द्रव्य की प्रकृति (रस, गुण आदि), भोक्ता की प्रकृति तन्मयता आदि आठ विशेष (नियम) कहे हैं[1] । उनकी परीक्षा कर आहार-द्रव्यों का सेवन करना चाहिए ।

अपनी ओर से पुरुष को स्वस्थ रहने का प्रयत्न करना चाहिये । इसी में उसकी इतिकर्त्तव्यता है । इतना होने पर भी प्राक्तन कर्मवश रोग आ ही पड़े तो उसका कुछ अपराध नहीं : देखिए—

परिहार्याण्यपथ्यानि सदा परिहरन्नरः ।

भवत्यनृणतां प्राप्तः साधूनामिह पण्डितः ॥

१—देखिए च०वि० १।२४-४८ । विद्यार्थी स्वस्थवृत्त में इन्हें सविस्तार पढ़ेंगे ।

यत्तु रोगसमूत्थानमशक्यमिह केनचित्[1] ।
परिहर्तुं न रत्प्राप्य शोचितव्यं मनीषिभिः ॥

—च० सू० २८। ४३–४४

—परिहार्य (त्याज्य, असेव्य) अपथ्यों का परिहार करता हुआ परीक्षक पुरुष सज्जनों की दृष्टि में (कृत–कार्य होने से मानो) अनृणता को प्राप्त होता है । परन्तु, बलवत्प्राक्तनकर्मवश उत्पन्न जिस रोग को उत्पन्न होने से रोकना किसी के लिये भी अशक्य है, वह उत्पन्न हो जाए तो बुद्धिशाली को शोक न करना चाहिए ।

आगन्तुरुन्मादोऽपि प्रज्ञापराधज एव

देव, गन्धर्व आदि ग्रह (भूत) योनियों का आवेश होने से हुआ उन्माद आगन्तु उन्माद कहाता है । यह भी अन्त में तो प्रज्ञापराध–निमित्तक ही होता है । हो, इस तथा अन्य आगन्तु रोग में भी दोष–मात्र स्वयं रोगी ही होता है । तथादि—

नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्नन्ति मानवम् ॥
ये त्वेनमनुवर्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा ।
न स तद्धेतुकः क्लेशो, न ह्यस्ति कृतकृत्यता ॥

—च०नि० ७।२२–२३

—न देव, न गन्धर्व न पिशाच, न राक्षस और न कोई अन्य ग्रह–योनि ऐसे किसी पुरुष को पीड़ित करते हैं जिसने स्वयं दुष्कर्म न किया हो ।

—सो, अपने प्राक्तन कर्म से परिक्लेशित हुए पुरुष में ही यदि देवादि भूत आविष्ट हो तो रोगी को होने वाला क्लेश (उन्माद) देवादिजन्य नहीं कहा जा सकता । कारण, (रोगी के अशुभ कर्म ने) जो कर दिया उसमें फिर (देवों को) करने को क्या रह जाता है ? अतः,

प्रज्ञापराधात्संभूते व्याधौ कर्मज आत्मनः ।
नाभिशंसेद् बुधो देवान्न पितृन्नापि राक्षसान् ॥
आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः ।
तस्याच्छ्रेयस्करं मार्ग प्रतिपद्येत नो त्रसेत् ॥
देवादीनामपवितिर्हितानां चोपसेवनम् ।

१—यस्तु दैवागतस्तस्य व्याधिस्तत्र साधवो नैव पथ्यसेविन गर्हयन्ति, एतदेवाह —यत्त्वित्यादि । **—चक्रपाणि**

ते च तेभ्यो विरोधश्च सर्वमायत्तमात्मनि ॥ —च०नि० ७।२४–२६

—अपने ही प्रज्ञापराध–वश कर्मज व्याधि उत्पन्न होने पर बुद्धिशाली पुरुष को न देवों को उपालम्भ (उलाहना, दोष) देना चाहिए, न पितरों को और न राक्षसों को ।

—उसे अपने को ही सुख और दुःख का कर्त्ता मानना चाहिए । ऐसा मानकर श्रेयस्कर मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए । (श्रेयस्कर मार्ग पर वह आरूढ़ हो तो देवादि से) उसे कोई भय नहीं रखना चाहिए । (कारण, सत्कर्म करने वाले को कभी पीड़ा नहीं देते) ।

देवादि की पूजा, हित (आहार, विहार, औषध, देश और काल) का सेवन ये दोनों वस्तुएँ तथा देवों से विरोध यह सब अपने ही अधीन है ।



हिताहारोपयोगस्य महत्त्वम्

ऊपर हिताहार से ही शरीर का उत्कर्ष सिद्ध होने की बात कही है। नीचे दिए वचन में आचार्य ने और भी भार देकर यही बात कही है। इससे स्पष्ट होगा कि पुरुष अपनी प्रकृति, जिस देश और काल में वास कर रहा है उसकी प्रकृति, सेव्य अन्नपान की प्रकृति, परिभाषा (मात्रा, राशि) आदि का विचार कर हिताहार का सेवन करे तो शरीर के स्वास्थ्य के लिये अन्य वस्तुओं पर विशेष लक्ष्य देने की आवश्यकता नहीं है, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है।

अब मूल वचन देखिए।

हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्त इति ॥ —च० सू० २५।३१

हिताहारोपयोग एक एवेत्यवधारणेनास्य प्राधान्य दर्शयति, नान्यप्रतिषेधम्। आचारस्य स्वप्नादेस्तथा शब्दादीनामपि कारणत्वेनोक्तत्वात्। xxx ॥ —**चक्रपाणि**

—हिताहर का उपयोग ही एकमात्र पुरुष की वृद्धि करने वाला है। इसके विपरीत अहिताहार का उपयोग रोगों का कारण है। टीकाकार चक्रपाणि कहता है, यहाँ 'एकः एव' ऐसा जो अवधारण (मर्यादा बोधक पद-प्रयोग) है उसका अर्थ हिताहार का प्राधान्य सूचित करना ही है, न कि आरोग्य के अन्य हेतुओं का प्रतिषेध। कारण, आचार (विहार), निद्रा, आदि तथा समयोगयुक्त शब्दादि विषयों को भी आरोग्य का हेतु माना गया है।

आगे हिताहार का लक्षण बताते अत्रि-पुत्र कहते **हैं** —

यदाहारजातमग्निवेश, समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोतीत्येतद्धितं विद्धि, विपरीतं त्वहितमिति ॥ —च० सू० २५।३३

—हे अग्निवेश, जो आहार-द्रव्य सम शरीर के धातुओं को (दोषों, धातुओं, उपधातुओं और मलों[१] को) प्रकृति में—समावस्था में—रखता है, और विषम

धातु—शब्दस्य मुख्यो गौणश्चार्थः

१—धातु शब्द यों मुख्यतया रसादि धातु-सप्तक का वाचक है। कारण वे शरीर का धारण (निर्माण) करते हैं। परन्तु दोषाद्रि भी यत्किंचित् धारण करने वाले होने से गौण रूप से उनके लिये भी धातु शब्द का व्यवहार शास्त्र में बहुशः होता हैं।

धारण का अर्थ शरीर के कठिन या घन अंश का निर्माण है। आयुर्वेद में (यथा, च० शा० ४।१२, सु० शा० १।१६) पृथिवी महाभूत का कार्य मूर्ति या मूर्त द्रव्य बताया गया है। टीकाकारों ने इनका अर्थ काठिन्य तथा कठिन्य द्रव्य कहा है। पाणिनि ने मूर्ति घनः, सूत्र द्वारा घन शब्द का अर्थ मूर्ति या मूर्त द्रव्य कहा है। इन सब का तात्पर्य यह है कि, मूर्त, मूर्ति कठिन, घन ये सब शब्द एकार्थ–वाचक

धातुओं को सम करता है उसे हित समझो तथा इससे विपरीत द्रव्य को अहित मानो ।

आधार से शरीर के आरोग्य का स्थैर्य और अनारोग्य की निवृत्ति कैसे होती है, यह स्वस्थवृत्त का विषय है । यहाँ संक्षेप में इतना ही कह दूँ कि, शरीर में किसी भी गुण (यथा, शैत्य, गौरव, माधुर्य प्रभृति) की वृद्धि हुई देखने में आए तो उसके विरोधी गुण (यथा, उष्ण, लघु, तिक्त प्रभृति) वाले द्रव्य आदि का सेवन करना चाहिए । इस प्रकार वृद्ध हुए दोषादि समावस्था में आते हैं । इसके विपरीत जिस गुण का क्षय हुआ हो, उसके विरुद्ध गुणवाले द्रव्य या द्रव्यों का सेवन कर क्षीण गुण की वृद्धि करते हुए उसे समावस्थ करना चाहिए । यही संक्षेप में हिताहार का स्वरूप है —इतना ही नहीं, यही संक्षेप में आयुर्वेद है ।

इसी बात को अन्यत्र संहिताकार ने इन शब्दों में कहा है—

सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम् (श्रेष्ठः) । एकरसाभ्यासो, दौर्बल्यकराणाम् (श्रेष्ठः)।

—च० सू० २५।४०

—सर्व रसों का सदा सेवन बलकर भावों में श्रेष्ठ है । एक (दो, तीन, चार या पाँच) ही रस (या रसों) का सेवन दौर्बल्य करने वाले भावों में श्रेष्ठ सर्वोपरि है ।

प्राचीन आचार्यों ने द्रव्यों के गुण-कर्म प्रधानतया उनके मधुरादि रसों के निर्देश द्वारा कहे हैं । सो, रसवाचक शब्दों से उस द्रव्य के सभी गुण-धर्म गृहीत समझने चाहिए । एवं सर्व-रसाभ्यास का अर्थ होगा—सर्व गुणों का यथावश्यक अभ्यास ।

अन्यत्र हिताहार या समाहार की परिभाषा यह की है कि, आहार पाञ्चभौतिक होना चाहिए । इस विषय का विस्तार विद्यार्थी अन्य विषयों के प्रसंग में पढ़ेंगे ही ।



हैं । गर्भोपनिषद् में कहा है—इस शरीर में **'यत् कठिनं सा पृथिवी'**— जो कठिन—घन, द्रव्य—विपरीत—है वह पृथिवीभूतात्मक है । इसी प्रकरण में आगे पृथिवी का अर्थ उपनिषत्कार ने धारण कहा है—**पृथिवी धारणे** । इसका आशय यह हुआ कि शरीर में जितने भी घन द्रव्य हैं उनकी रचना का नाम धारण है । आयुर्वेद की संहिताओं में धारण शब्द का इतना वैशद्य नहीं देखा है ।

त्रिविधमौषधम्

अब तक के वचनों से वाचकों को विदित हो चुका होगा कि आयुर्वेद–मत से कुछ रोग कर्मज होते हैं और कुछ दोषज । इन दोनों का मूल प्रज्ञापराध होता है । इसी कारण चिकित्सा भी आयुर्वेद में त्रिविध मानी गयी है । देखिए—

त्रिविधमौषधमिति—दैयव्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं, सत्त्वावजयश्च ।

तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणि-मङ्गलबल्युपहार-होमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि ।

युक्तिव्यपाश्रयं पुनराहारौषध द्रव्याणां योजना ।

सत्त्वावजयः पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः[1]।। —च० सू० ११।५४

—औषध त्रिविध होता है-**दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय** और **सत्त्वावजय ।**

—दैव का अर्थ है अदृष्ट, प्राक्तन कर्म । उनसे सम्बद्ध जो–जो मन्त्रादि व्यांधि–प्रत्यनीक (रोग–विरोधी) औषधोपचार होता है उसे **दैवव्यपाश्रय** कहते हैं । अथवा—दैव का अर्थ है देव । मन्त्रादि देवों के प्रभाव से ही रोगहारक होते हैं । देव जनबलि, उपहार आदि से प्रसन्न हो अपने प्रभाव से रोगों को दूर करते हैं । दैवव्यपाश्रय के उदाहरण ये हैं—मन्त्र, धारणीय औषध (हाथ, सिर, गल, कटि आदि में धारण करने से ज्वर, शिरोरोग–शिरोवेदना, कामला, मूढगर्भ आदि की निवृत्ति करने वाले औषध), मणि मङ्गल, बलि, होम, नियम, प्रायश्चित, उपवास, स्वस्तिवाचन, देवों को प्रणाम, दूर देशवर्ती देवों के प्रणामार्थ गमन–प्रभृति ।

—आहार और औषध द्रव्यों (साथ ही विहार, देश और काल) की योजना (विचार–पूर्वक निर्देश) को **युक्तिव्यपाश्रय** औषध कहते हैं ।

—अहित अर्थों (विषयों) से मन के निग्रह (परावर्तन, पराङमुखीकरण) को **सत्त्वावजय** कहा जाता है ।

—औषध–त्रय में आशुकारी होने से दैवव्यपाश्रय का उल्लेख प्रथम किया है ।

आज भी कई देवों (देव–प्रतिमाओं) के प्रणिपातादि से रोग–निवृत्ति के उदाहरण प्रायः पाए जाते हैं ।

१—वैवमदृष्यं तद्वयपाश्रयं, तच्च यददृष्टजननेन व्याधिप्रत्यनीकं मन्त्रादि । यदि वा दैव–शब्देन देवा उच्यन्ते तानाश्रित्य यदुपकरोतिं तत्ताथा । मन्त्रादयो हि देवप्रभावादेव व्याविहराः । बल्युपहारादिप्रीताश्च देवा एव प्रभावाद्वयाधीन् ध्नन्ति । अत्र दैव–व्यपाश्रयमादायुक्तमाशु व्याधिहरत्वेन । प्रणिपातो देवादीनां शारीरो नमस्कारः, गमनं विदूरदेशादिगमनम् । —चक्रपाणि

सदातुराः पुरुषाः

वेग-धारण को आयुर्वेद में रोगों का परम निदान होने से कैसा गर्हित और अनाचरणीय कहा है, यह ऊपर दिए कतिपय प्रकरणों से विदित होगा। नव्यमत से भी इसकी यत्किंचित् व्याख्या करने का प्रयास ऊपर किया। इस प्रकरण के अनन्तर हम चरक-संहिता से राजयक्ष्मा का निदान प्रस्तुत करेंगे। उससे भी विदित होगा कि वेग–धारण राजयक्ष्मा के चार कारणों में अन्यतम् (एक) है। आगे दिये पद्यों से विदित होगा कि, वेग–धारण विषमाशन आदि जिनकी चर्या के अङ्ग हो गए हैं, वे पुरुष सदा रोगी रहते हैं। तथाहि—

अथाग्निवेशः सततातुरान्नरान् हितं च पप्रच्छ गुरुस्तदाह च ।
सदातुराः श्रोत्रियराजसेवकास्तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः ॥

—च० सि० १२।२७

—अग्निवेश ने गुरु से पूछा, कौन पुरुष सदा रोगी रहते हैं ? गुरु ने उत्तर दिया— श्रोत्रिय (वेदपाठी, कथा–वाचक विप्र), राज–सेवक (सरकारी अधिकारी), वेश्या तथा वैश्य।

इनके सदातुर (नित्य रोगी) होने के कारण बताते हुए गुरु कहते हैं—

द्विजो हिं वेदाध्ययनव्रतान्हिकक्रियादिभिर्देहहितं न चेष्टते ।
नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात् परानुरोधाद् बहुचिन्तनाद्भयात् ॥
नृचित्तवर्तिन्युपचारतत्परा मृजाविभूषानिरता पणाङ्गना ।
सदासनादत्यनुबन्धविक्रयक्रयादिलोभादपि पण्यजीविनः ।
सदैव ते ह्यगतवेगनिग्रहं समाचरन्ते न च कालभोजनम् ।
अकालनिर्हारविहारसेविनो भवन्ति येऽन्येऽपि सदातुराश्च ते ॥

—च० सि० १२-२८-३०

यथोक्तानां सदातुरत्वे हेतुमाह-द्विजो हीत्यादि । 'देहहितं त चेष्टते' इति पण्यजीविन इत्यन्तं यावदनुवर्तनीयम् । XX निर्हारो मलादि-निर्गमः ॥ —**चक्रपाणि**

इनके सदातुर होने में हेतु बताते हैं—ये सब-के-सब उपस्थित वेग का निग्रह करते हैं तथा यथाकाल भोजन नहीं करते। विशेष में द्विज (ब्राह्मण) वेदाध्यन, व्रत, अह्निक (दैनिक पूजा–पाठ) क्रिया आदि के कारण शरीर के हित की चेष्टा नहीं करता। राजसेवक (अन्य भी सेवक पुरुष), राजा (अधिकारी) के चित्त की रक्षा करते रहने से—उसे बुरा न लग जाय, इसी बात की चिन्ता और तदनुकूल प्रयास करते रहने के कारण, अन्य भी सहयोगियों अथवा कार्य के लिये आए पुरुषों की अनुकूलता–प्रतिकूलता का ध्यान रखने के कारण एवं अति चिन्ता तथा भय के कारण अपने शरीर का विचार नहीं

करते । वाराङ्गना भी राजा के चित्त का अनुवर्तन करती हुई, अन्य पुरुषों की भी परिचर्या में लीन रहती हुई तथा शुद्धि (समय—असमय पर तथा अति मात्रा में स्नानादि) और वस्त्रालंकार में तत्पर रहती हुई शरीर के हित का ध्यान नहीं रखती । पण्यजीवी (वैश्य) भी सदासन (सदा बैठकर काम करने) के कारण और निरन्तर होने वाले क्रय—विक्रय के लोभ के कारण उपस्थित वेग का अवरोध करते तथा यथाकाल भोजन नहीं करते ।

—इनकी ही केवल बात नहीं, अन्य भी जो पुरुष असमय पर (वेग उपस्थित हो तब नहीं) मल—विसर्जन, विहार (और आहार) के सेवन के स्वभाव वाले हों, वे भी इसी प्रकार सदा रोगी रहते हैं ।



अथातः शोषनिदानं व्याख्यास्यामः

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ —च० नि० ६।१-२

वेगधारण, विषमाशन आदि का अर्थ क्या है तथा इनके विपरिणाम आयुर्वेद-मत से कितने भयावह हैं, यह जानने के लिये चरकोक्त शोष निदान अध्याय उपयोगी है । अतः वह आगे उद्धृत किया जाता है ।

—अब शोष (राजयक्ष्मा) का निदान, जैसा कि भगवान आत्रेय पुनर्वसु ने उपदेश किया उस प्रकार कहेंगे ।

राजयक्ष्मा का प्रसार आज के दीप्यमान प्रश्नों में एक है । आयुर्वेद इसका क्या कारण बताता है, यह भी इस प्रकरण से विद्यार्थी को विदित होगा, साथ ही एक सम्पूर्ण अध्याय एक साथ बाँचने से आचार्य की शैली और संस्कृत का भी परिचय उसे होगा । इस हेतु चरक–संहिता से शोष–निदानाध्याय यहाँ दिया जाता है ।

शोष-कारणचतुष्टयम्

इह खलु चत्वारि शोषस्यायतनानि भवन्ति; तद्यथा-साहसं, संधारणं, क्षयो, विषमाशनमिति ॥ —च० नि० ६।३

XX आयतनानीति कारणानि ॥ XX **—चक्रपाणि**

—शोष (राजयक्ष्मा) के चार कारण आयुर्वेद–मत से होते हैं—**साहस** (अयथा-बल आरम्भ–शक्ति से अधिक कायिक, वाचिक, मानसिक उद्योग **(वेग-धारण, धातु-क्षय** और **विषमाशन ।**

प्रत्येक कारण की सम्प्राप्ति देते हुए संहिताकार कहते हैं—

साहसोत्थस्य राजयक्ष्मणः संप्राप्तिः

तत्र साहसं शोषस्यायतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः । यदा पुरुषो दुर्बलो हि सन् बलवता सह विगृह्णाति, अतिमहता वा धनुषा व्यायच्छति, जल्पति वाऽप्यतिमात्रम्, अतिमात्रं वा भारमुद्वहति, अप्सु वा प्लवते चातिदूरम्, उत्सादनपदाघातने,[1] वाऽतिप्रगाढमासेवते, अतिप्रकृष्टं बाऽध्वानं द्रुतमभिपतति, अभिहन्यते वा, अन्यद्वा किंचिदेवविधं विषममतिमात्र वा व्यायामजातमारभते तस्यातिमात्रेण कर्मणोरः क्षण्यते ।

१—उत्सादनपराघातने-इति पाठान्तरम् ।

पादाघातनं पद्भ्यामुद्वर्तनम् । अतिप्रकृष्टमतिदूरम् । उरःक्षनमुपप्लवते व्यपनोतीत्यर्थः । उरःस्थमिति स्वभावादेवोरःस्थम् । उरस्या इत्युरोगता हृद्‌द्रव

तस्योरःक्षतमुपप्लवते वायुः । स तत्रावस्थितः श्लेष्माणमुरःस्थमुपसंगृह्य[1] पित्तं च दूषयन् विहरत्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च । तस्य योंऽशः शरीरसंधीनाविशति तेनाऽस्य जृम्भाऽङ्गमर्दो ज्वरश्चोपजायते । तस्य यस्त्वामाशयमभ्युपैति[2] तेन रोगा भवन्त्युरस्या अरोचकश्च । यः कण्ठमभिप्रपद्यते कण्ठस्तेनोद्ध्वंस्यते स्वरश्चावसीदति । यः प्राणवहानि स्रोतांस्यन्वेति तेन श्वासः प्रतिश्यायश्च जायते । यः शिरस्यवतिष्ठते शिरस्तेनोपहन्यते ।

ततः क्षणनाच्चैवोरसो विषमतित्वाच्ज वायोः कण्ठस्य चोद्ध्वंसनात् कासः सततमस्य संजायते । स कासप्रसंगादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति । शोणिंतगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते । एवमेते साहसप्रभवाः साहसिक—मुपद्रवाः स्पृशन्ति । ततः स उवशोषणेरेतैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति ।

तस्मात् पुरुषो मतिमान् बलमात्मनः समीक्ष्य तद्नुरुपाणि कर्माण्यारभेत कर्तृम्। बलसमाधानं हि शरीरं, शरीरमूलश्च पुरुष इति ।

भवति चात्र—

साहसं वर्जयेत् कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः।

जीवन् हि पुरुषस्त्विष्टं कर्मणः फलमश्नुते ॥ —च० नि० ६।४-५

—चार कारणों में साहस शोष का मूल है, यह जो कहा, उसकी व्याख्या करते हैं[3]:-

---

—शूलादयः (हृद्द्रवशूलादय इति पाठान्तरम्) । आमाशयगतेन चोरस्यरोगकरणमुरसोऽप्यामाशयप्रत्यासन्नत्वात् । बलेन सम्यगाधीयते धार्यत इति वलसमाधानं शरीरम् । शारीरमूलश्च पुरुष इति संयोगपुरुष इत्यर्थ : ॥ —चक्रपाणि

१—उपसंसृज्य शोषयन्—इति पाठान्तरम् ।

२—यस्त्वामाशयमभ्युपैति तेनास्य बर्चो भिद्यते । यस्तु हृदयमाविशति तेन रोगा भवन्त्युरस्याः । यो रसनां तेनास्यारोचकः—इति पाठान्तरम् ॥

सम्प्राप्ति—लक्षणम

३— संप्राप्ति संज्ञा का प्रयोग आयुर्वेद में बार-बार आएगा । वह यहाँ संक्षेप में समझ लें । सम्प्राप्ति का यह पद्यबद्ध लक्षण वैद्यों में प्रसिद्ध है—

यथादुष्टेन दोषेण यथा चानुऽविसर्पता ।

निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ —अ० हृ० नि० १।८

—संप्राप्तिलक्षणमाह-यथा दुष्टेनेति । यथा येत प्रकारेण निर्वृत्तिः, असौ प्रकारः संप्राप्तिः । स च प्रकारो दुष्टत्वेन संचलितत्वेन च । रुपहानिर्वा रूपवृद्धिर्वा रूपान्तर वेत्यादि दुष्टत्वप्रकारः । संचलितत्वेन वा वेगेन वा मार्गान्तरेण या गतिरित्यादि संचलितत्वप्रकारः । संप्राप्तेः पर्यायौ चातिंरागतिश्च ॥ —हेमाद्रि

—जब पुरुष दुर्बल होते हुए भी, अपने से अधिक बलवान के साथ विग्रह (युद्ध, कुश्ती, मारपीट या वाचिक झगड़ा) करता है, अथवा बहुत बड़े धनुष से (किंवा व्यायाम के अन्य उपकरणों की सहायता से) व्यायाम करता है, अथवा अत्यधिक भाषण करता है, अथवा जल में बहुत दूर तक तैरता है, अथवा सर्वाङ्ग या पैर अतिशय उद्वर्तन (उत्सादन, उबटन) करता है (उद्वर्तन और अन्यों का ताड़न अत्यधिक परिमाण में करता है । पाठान्तर का अर्थ), अथवा अतिदीर्घ मार्ग का अतिक्रमण अतिवेग से करता है, किंवा किसी से मारा जाता है, अथवा ऐसा ही कोई विषम या अतिमात्र व्यायाम करता है, तो उसके इस अतिमात्र कर्म से उर में (छाती में—फुप्फुस में) क्षत—उरःक्षत होता है[1] ।

X X यथा ज्वरस्य 'मसास्तत्र' (अ० हृ० नि० २।३) इत्यादिलक्षणलक्षिताः तत्र मलानामामाशयप्रवेशनेन, तथाऽऽमानुगमनेन तथा स्रोतोरोधेन, तथा पक्तिस्थानाज्ज्वलननिरसनेन, तथा तेनैव जाठरेण वह्निना तेषामभिसर्पणेन, तथा सकलः-देहतापेन, गात्रं चात्युष्णं कुर्वता, एवंविधया संप्राप्त्या ज्वरोऽयमितिनिश्चीयते X X ।

—अरुणदत्त

—दोष की दुष्टि किस प्रकार की हुई और उसके अनन्तर दुष्ट हुआ यह दोष किस प्रकार शरीर में प्रसृत होकर रोग की उत्पत्ति हुई—इस बात को (इस बात के विवरण को) संप्राप्ति कहते हैं । इसी को जाति या आगति भी कहते हैं (यद्यपि इन पर्यायों का उपयोग शास्त्र में देखा नहीं जाता) ।

—दोष किस प्रकार दुष्ट (विषम) हुआ, यह जो कहा उसका अर्थ यह है कि, वातादि दोषों की दुष्टि अनेक प्रकार से होती है । यथा—कभी उसकी रूपहानि होती है—उसके लक्षणों तथा गुण—कर्मों की क्षीणता होती है, कभी रूप—वृद्धि होती है—उसके गुण—कर्मों की वृद्धि—प्रकोप—होता है, कभी रूपान्तर होता है । इसी प्रकार दुष्ट हुए दोष में अनेक प्रकार देखे जाते हैं । (आगे निदान—पंचक के प्रकरण में विद्यार्थी इस विषय का विस्तार देखेंगे) ।

—दोष का प्रसरण (अनुविसर्पण) भी अनेक प्रकार से होता है । यथा—कभी वह स्थान—भ्रष्ट होता है, कभी वेग से प्रसृत होता है, कभी उसका मार्गान्तर से गति होती है, इत्यादि ।

—संप्राप्ति में दोष के प्रसरण का उदाहरण देते अरुणदत्त कहता है —जैसे (ज्वराधिकार में) दुष्ट हुए दोषों की आमाशय में स्थिति, आम का अनुगमन करना (आमरस के साथ एकीभूत होना), उनके द्वारा स्रोतोरोध होना, पक्तिस्थान से जाठराग्नि का निरसन (बाहर निकाल दिया जाना), उस अग्नि के साथ सारे शरीर में प्रसरण; उसके कारण सारे शरीर में ताप और उसके परिणाम में शरीर की अति उष्णता होती है । यह संप्राप्ति देखने से निश्चय (निदान, निर्णय) होता है कि यह रोग ज्वर है ।

रोग—ज्ञान के जो पाँच साधन—निदान—हैं, उनमें एक यह संप्राप्ति भी है ।

क्षत—शब्दस्य तात्पर्यम्

१—संस्कृत में रक्त का क्षतज पर्याय प्रसिद्ध है । अर्थोपत्ति से कह सकते हैं

—उसके इस उरःक्षत को वायु व्याप्त कर लेता है । यह वायु वहाँ रहता हुआ, उरोगत श्लेष्मा को भी अपने साथ लेकर (श्लेष्मा के साथ संयुक्त ही उसे शुष्क करता हुआ-पाठान्तर में अर्थ) तथा पित्त को भी दूषित करता हुआ ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् दिशा में (शारीर में) संचरण करता है ।

—(सर्व शारीर में संचरण करते हुए वात–कफ–संसृष्ट) इस वायु का जो अंश शरीर की संधियों में (केवल अस्थिसन्धियों में ही नहीं—शरीर के अवयवमात्र की संधियों में) प्रविष्ट होता है, इससे पुरुष को जृम्भा, अङ्गमर्द और ज्वर हो आता है ।

—वायु का जो अंश आमाशय में पहुँचता है उसके कारण आमाशय के और उर समीपवर्ती होने से उरोगत रोग हृद्द्रव (हृत्कम्प), हृच्छूल आदि तथा आरोचक (अरुचि) होते हैं । पाठान्तर में— वायु का जो अंश आमाशय–पक्वाशय–में पहुँचता है, उससे इससे पुरीष का भेदन होता है—पुरीष छोटे–छोटे खण्डों में विभक्त हो जाता है, जिससे उसकी प्रवृत्ति थोड़ी–थोड़ी करके होती है । वायु का जो अंश हृदय-हृदय तथा फुफ्फुस–में पहुँचता है, उससे उरस्य–उरोगत–रोग–होता है । जो अंश रसना–जिह्वेन्द्रिय–में पहुँचता है, उसके कारण अरोचक होता ।

दुष्ट वायु का जो अंश कण्ठ में पहुँचता है, इसके कारण कण्ठोद्ध्वंस (स्वरविकृति) तथा स्वरसाद (स्वर की क्षीणता) हो जाता है । जो अंश प्राणवह स्रोतों (श्वास क्रिया के अवयवों) में प्रविष्ट होता है, उससे श्वास और प्रतिश्याय होता है । जो सिर में प्रविष्ट होता है, उससे सिर में वेदना आदि होते है ।

—इसके अनन्तर उरस् (छाती) के क्षणन–क्षत के–कारण, तथा वायु की विषम गति हो जाने से एवं कण्ठोद्ध्वंस के कारण पुरुष को प्रसक्त (सतत) कास के वेग होते हैं । कास के प्रसंग (नैरन्तर्य) के कारण उरःक्षत[1] होने

—रक्त जिस व्रण से निकले, उसे क्षत कहते हैं । त्वचा, मांसादि धातुओं को निरन्तरता नष्ट हो कर भले व्रण बन जाएँ, पर उसे तब तक क्षत न कहेंगे, जब तक उसमें से रक्त का स्राव न हो । रक्तस्राव तभी होता है, जब मासान्तर्गत रक्तवाही सिराएँ (केशिका–प्रभृति) खण्डित हो जाएँ । (देखिए; सु० शा० ४:–६-११) सो, क्षत का अर्थ हुआ–केशिका–प्रभृति सिराओं (रक्तवाहिनियों) का कटना । तात्पर्य कि, जहाँ भी रक्त–दर्शन हो, वहाँ शास्त्र में वर्णित न होने पर भी क्षत समझना चाहिए और केशिकाओं के विवरण की कल्पना करनी चाहिए ।

उरःक्षतं च राजयक्ष्मा च

१—आगे रोग—प्रकरण में उरःक्षत का स्वतन्त्र रोग–रूप में विवरण होगा–उसकी निदान–चिकित्सा बताई जायेगी । उसका निदान देखने से विदित होगा कि, उरःक्षत का जो निदान है, वही साहस–जन्य राजयक्ष्मा का भी है । पुनः उरःक्षत

से पुरुष रक्त का ष्ठीवन करता है—उसके थूक में रक्त पड़ता है । रक्तष्ठीवन से उसमें दौर्बल्य होता है । इस प्रकार साहसिक पुरुष को ये साहस–जन्य उपद्रव प्राप्त होते हैं । शरीर धातुओं का शोषण करने, वाले-उन्हें क्षीण करने वाले–इन उपद्रवों से पीड़ित होकर वह शनैः–शनैः सूखता जाता है । इस कारण मतिमान् पुरुष को अपना बल (अपनी शक्ति की मर्यादा) देखकर तदनुरूप कर्म करना चाहिए । क्योंकि शरीर बल से ही धारण किया जाता है (अतः बल की रक्षा करनी चाहिए; और बल से धारित) यह शरीर ही पुरुष का मूल है । (शरीर नष्ट होने से पुरुष–जीवन–आयु–नष्ट हो जाता है ।) अतएव कहा भी है—

अपने जीवन की रक्षा (दीर्घता और आरोग्य) चाहने वाले पुरुष को साहसरूप कर्म का सर्वथा त्याग करना चाहिए । पुरुष जीता रहे, तो कर्म के अभीष्ट परिणाम को प्राप्त कर सकता है (रोगी रहकर या मरकर नहीं ।)

ऐसा ही वचन नीति—ग्रन्थ में भी है—**जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत् ।**

संधारणोत्थस्य राजयक्ष्मणः सम्प्राप्तिः

संधारणं शोषस्यायतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः । यदा पुरुषो राजसमीपे भर्तुः समीपे वा गुरोर्वा पादमूले द्यूतसभामन्यं वा सतां समाजं स्त्रीमध्यं वा समनुप्रविश्य यानैर्वाऽप्युच्चावचैरभियान् भयात् प्रसंगाद्धीमत्त्वाद् घृणित्वाद्वा निरुणद्ध्यागतान् वातमूत्रपुरीषवेगान् तदा तस्य संधारणाद्वायुः प्रकोपमापद्यते । स प्रकुपितः पित्तश्लेष्माणौ समुदीर्योर्ध्वमधस्तिर्यक् च विहरति । ततश्चांशविशेषेण पूर्ववच्छरीरावयवविशेषं प्रविश्य शूलमुपजनयति, भिनत्ति पुरीमुषच्छोषयति वा, पार्श्वे चातिरुजति, अंसाववमृद्नाति, कण्ठमुरश्चावधमति, शिरश्चोपहन्ति; कांसं श्वासं ज्वरं स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजनयति । ततः स उपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैःशनैरुपशुष्यति । तस्मात् पुरुषो मतिमानात्मनः शारीरेष्वेव योगक्षेम–करेषु प्रयतेत विशेषेण । शारीरं ह्यस्य मूलं शरीरमूलश्च पुरुषो भवति ॥

का पृथक् निदान क्यों बताया, यह प्रश्न प्रकृत्या हो सकता है । उत्तर यह है कि, प्रायः उपेक्षा या मिथ्योपचार से उरःक्षत राजयक्ष्मा में परिणत हो जाता है । परन्तु उपचार सम्यक् हो तो उरःक्षत की आगे वृद्धि नहीं भी होती । अतः उसका पृथक् उल्लेख अनुपयुक्त नहीं है । ऊपर दी संप्राप्ति में 'उरःक्षण्यते' तक उरःक्षत की संप्राप्ति कही है । आगे रोग की, राजयक्ष्मा में परिणति होने पर होनेवाली, संप्राप्ति प्रदर्शित की है ।

दूसरी स्मर्तव्य बात यह है कि उरःक्षत साहजन्य स्वतन्त्र रोग भी हो सकता है, तथा यक्ष्मा का उपद्रव–रूप भी हो सकता है । मूल में 'उरःक्षण्यते' से साहसजन्य उरःक्षत की उत्पत्ति बताई है । अन्त में **'कास–प्रसंगात उरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति'** से राजयक्ष्मा से उपद्रव–रूप उरःक्षत का वर्णन किया है ।

रक्तष्ठीवन अंग्रेजी में Haemoptysis हीमोप्टिसिस कहता है ।

भवति चात्र—

सर्वमन्यपरित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ।
तदभावे हि भवानां सर्वाभावःशरीरिणाम् ॥

—वेगधारण शोष का आयतन (कारण) है, यह जो कहा उसकी व्याख्या (विवरण) देते हैं ।

—पुरुष जब राजा के समीप (किसी सरकारी अधिकारी के समीप) अपने स्वामी (उच्चाधिकारी) के समीप, गुरु के चरणों के सान्निध्य में, द्यूत–सभा में, सज्जनों के अन्य प्रकार के समाज में अथवा स्त्रियों के मध्य में प्रविष्ट होकर किंवा निम्नोन्नत यानों (सवारियों) से जाता हुआ, पुनः– पुनः भयवश, लज्जावश, किंवा घृणावश वात, मूत्र तथापुरीप के उपस्थित हुए वेगों का निरोध (निग्रह) करता है तो इस निरोध के कारण वायु प्रकोप को प्राप्त होता है । वह प्रकुपित हुआ वायु पित्त और श्लेष्मा को भी स्थानभ्रष्ट और कुपित कर (शरीर में) ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् दिशा में संचार करता है ।

—तदनन्तर अपने अंशों से वह पूर्वोक्त प्रकार से शरीर के तत्तत् अवयव में प्रविष्ट होकर शूल उत्पन्न करता है; पुरीष को भिन्न कर देता है (इस प्रकार अतिसार उत्पन्न करता है) अथवा पुरीष को अति शुष्क (ग्रथित) कर देता है और विबन्ध उत्पन्न करता है; पार्श्वों में अतिवेदना उत्पन्न करता है; अंसों (कन्धों) में अवमर्दनटूटने की-सी पीड़ा-उत्पन्न करता है; कण्ठ और छाती में अवधमन-विशेष प्रकार के शब्द—उत्पन्न करता है; सिर में वेदना उत्पन्न करता है; एवं कास, श्वास, ज्वर, स्वरभेद और प्रतिश्याय को जन्म देता है ।

—तत्पश्चात् उपशोषण करने वाले—शरीर को कृश और दुर्बल करने वाले–इन उपद्रवों से पीड़ित हुआ पुरुष क्रमशः शुष्क हो जाता है ।

—इस संप्राप्ति को देखते हुए बुद्धिशाली पुरुष को अपने शरीर के योग-क्षेम करने वाले भावों (आहार–विहारादि) के प्रति ही विशेषतया प्रयत्नवान् रहना चाहिए । कारण, शरीर ही इसका मूल (इसके धर्मार्थ-कास-मोक्ष-रूप पुरुषार्थों का हेतु) है । और पुरुष भी शरीर–मूलक ही होता है । कहा भी है—

—पुरुष को अन्य सब छोड़ एक शरीर की ही रक्षा करनी चाहिए । कारण उसके अभाव में भाव–रूप (विद्यमान भी) अन्य पदार्थों का (उपभोग–सामर्थ्य न होने से) अभाव ही होता है ।

धातु-क्षयजन्यस्य राजयक्ष्मणः सम्प्राप्तिः

क्षयः शोषस्यायतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः ।

यदा पुरुषोऽतिमात्रं शोकचिन्तापरिगतहृदयो भवति, ईर्ष्योत्कण्ठाभय-क्रोधादिभिर्वा समाविश्यते, कृशो वा सन् रूक्षान्नपानसेवी भवति, तदा तस्य हृदयस्थायी रसः क्षयमुपैति । स तस्योपक्षयाच्छोषं प्राप्नोति; अप्रती/काराच्चानुवध्यते यक्ष्मणा यथोपदेक्ष्यमाणरुपेण ।

यदा वा पुरुषोऽतिहर्षादतिंप्रसक्तभावः स्त्रीष्वतिप्रसंगमारभते, तस्याति-प्रसंगाद्रेतः क्षयमेति । क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि यदि मनः स्त्रीभ्यो नैवास्य निवर्तते, तस्य चातिप्रणीतसंकल्पस्य मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्ततेऽतिमात्रोपक्षीणरेतसत्वात् । तथाऽस्य वायुर्व्यायिच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणित प्रच्यावयति । तच्छुक्रक्षयादस्य पुनः शुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्तते वातानुसृतलिङ्गम् ।

अस्थास्य शुक्रक्षयाच्छोणितप्रवर्तनाच्च संधयः शिथिलीभवन्ति, रौक्ष्यमुपजायते, भूतः शरीरे दौर्बल्यमाविशति, वायुः प्रकोपामद्यते । स प्रकुपितो वशिकं शरीरमनुसर्पन्नुदीर्य श्लेष्मपित्ते परिशोषयति मांसशोणिते, प्रच्यावयति श्लेष्मपित्ते, संरुजति पार्श्वे, अवमृद्नात्यंसौ, कण्ठमृद्ध्वंसति, शिरः श्लेष्माणमुपक्लेश्य प्रतिपूरयति श्लेष्मणा. संधीश्च प्रपीडयन् करोत्यङ्गमर्दमरोचकाविपाकौ च, पित्तश्लेष्मोत्क्लेशात् प्रतिलोमगत्वाच्च वायुर्ज्वरं कासं श्वासं स्वरभेदं प्रतिश्याय चोपजनयति । स कासप्रसं-गादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति; शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते । ततः स उपशोष-णैरेतैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति । तस्मात् पुरुषो मति-मानात्मनः शरीरमनुरक्षञ्छुक्रमनुरक्षेत् । पर ह्येषा—फलनिर्वृत्तिराहारस्येति स्येति । **भवति चात्र**—

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः ।
क्षयो ह्यस्य बहून्रोगान्मरणं वा नियच्छति[1] ॥ —च० नि० ६।८-१०

आयुर्वेद–मत से क्षय–धातुक्षय—दो प्रकार का है । प्रथम सर्वधातुओं के पोषक रसधातु का, आगे कहे कारणों से क्षय होकर तत्पोष्य शेष धातुओं का भी क्रमशः क्षय हो, तो इसे अनुलोमक्षय कहते हैं । इसके विपरीत वक्ष्यमाण प्रकार से प्रथम शुक्रक्षय हो और होता रहे, परिणामतया रसधातु का उसी के पोषण में संपूर्ण भाव से व्यय हो जाय, तो शेष धातुओं की पुष्टि न हो पाने से उनका क्षय होता है । इसे **प्रतिलोमक्षय** कहते हैं । दोनों का परिणाम अन्त में यक्ष्मा होता है । यह विषय अब स्वयं ग्रन्थकार के शब्दों में देखिए

१—XX यथोपदेक्ष्यमाणरुपेणेति 'संधयः शिथिलीभवन्ति' इत्यादि ग्रन्थवक्ष्यमाणलक्षणेन । संप्रति क्षयेषु शोषकारणेषु प्रायः शोषजनकत्वेन प्रधानं शुक्रक्षयं शोषकरणं यदा वेत्यादिना प्राह । अतिप्रणीतसंकल्पस्येति अति महता प्रयत्नेन कृतध्वजोच्छ्रायस्य । व्यायच्छमानस्येति व्यवायमाचरतः । वातानुसृतलिङ्गमिति वातलिङ्गयुक्तं, दुष्टवातलिङ्गयुक्तमिति यावत् । वशिकमिति शून्यं, शुक्रशोणितक्षयाद्रिक्तमित्यर्थः । एतच्च हेतुगर्भ विशेषणम्, एतेन् एस्माद्वशिकं तत्माद्नुसर्पतीत्यर्थः । परं धामेत्युत्कृष्टसारम् उत्कृष्टत्वं च शुक्रस्यातिप्रसादरुपत्वात् एतच्च शोषकारणेषु क्षयेषु केवल–शुक्रक्षयोपसंहरणं प्राधान्यात् । रुक्षान्नपानसेवनजनितो रक्तादिक्षयोऽपि राजयक्ष्म–कारणत्वेनोक्तः ॥ —चक्रपाणि

क्रमशः अनुलोम और प्रतिलोम क्षय की व्याख्या और उससे यक्ष्मा की संप्राप्ति का निर्देश करते हुए वे कहते हैं—

—क्षय (धातुक्षय) शोष का कारण है, यह जो कहा, उसकी व्याख्या करेंगे। पुरुष जब अत्यधिक शोक और चिन्ता से अभिभूत (आक्रान्त) हृदयवाला होता है, किंवा ईर्ष्या, उत्कण्ठा (काम) भय, क्रोध प्रभृति विकारों से आविष्ट–चित्त होता है, अथवा कृश (क्षीण–धातु) होता हुआ भी रुक्षान्नपान का सेवन करता है; अथवा प्रकृत्या दुर्बल होता हुआ भी अनाहार या अल्पाहार करता है, तो उसका हृदयस्थ रसधातु क्षय को प्राप्त होता है[1]। उसके क्रमिक क्षय से वह शोष (इतर धातु–क्षय) को प्राप्त होता है। उपचार किया न जाय तो

रहस्य स्थानं हृदयम्

१—रस की स्थिति और क्रिया का स्थान समस्त शरीर होते हुए और शास्त्रों में इस वस्तु का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी हृदय को रस का स्थान कहा है। इस बात का वैशय इस प्रकरण से हो सकता है। मन, ओज रस; साधक—पित्त, कफ विशेष, आत्मा इन सब का स्थान हृदय बताया गया है। उसका महत्त्व निदान-चिकित्सा की दृष्टि से विशेष है। उल्लिखित कारणों से किंवा दीर्घ रोगों से (ग्रहणी, संततज्वरादि से) हृदय दुर्बल हो, तो मन दुर्बल और दीन होता है — अनेक मिथ्या विचारों से आक्रान्त होता है। अतः चिकित्सा में हृदय को बल देने के लिये प्रवाल–आदि की योजना की जाती है एवं संतर्पण कराया जाता है। उधर मन का मनोविकारों का–प्रभाव हृदय पर पड़ता है। यह बात ऊपर मूल में ही सविस्तार कही है। हृदय दुर्बल और क्षीण होने से रसधातु भी क्षीण होता है। इतना ही नहीं हृदय के क्षीण होने से — उसकी मन्दता के कारण=सर्व शरीर में रस-रक्त का विक्षेपण भी मन्द हो जाता है। इन दोनों कारणों से धातुओं का पोषण यथावत नहीं होता। ऐसी स्थिति में चिकित्सा मन की करने से हृदय और रस तथा परिणाम में शेष धातु—सब प्रकृत हो जाते हैं। ओज के क्षय का भी प्रभाव हृदय पर पड़ता है। यही बात साधक पित्त तथा कफ-भेद के विषय में है। क्रियाशरीर में विद्यार्थी इन द्रव्यों का परिचय प्राप्त करेंगे ही।

इस प्रकार स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य के विषय में परस्पराश्रित होने से हृदय की रसादि का स्थान कहा है। परन्तु स्थान का अन्य अर्थ भी यहाँ ग्राह्य है। भाषा शास्त्र की दृष्टि से स्थान शब्द की धातु 'स्था' (ष्ठा) तथा अंग्रेजी 'स्टे' एक ही है। स्टे धातु से स्टेशन शब्द बनता है। स्टेशन का अर्थ होता है वह स्थान जहाँ से गाड़ी, विमान आदि चलकर तथा अपने क्षेत्र में संचरण कर पुनः चलना आरम्भ करने के लिये वहीं लौट आएँ। संस्कृत में 'स्थान' शब्द का भी यही अर्थ है। रस का स्थान हृदय है— इसका आशय यह है कि हृदय से रसधातु चल कर 'सारे शरीर' में पहुँचता, धारण–पोषणादि आत्म–कर्म करता और पुनः संचरण करने के लिये हृदय में ही लौट आता है। रस का अर्थ नव्य-मत से प्लाज्मा, लिम्फ और टिश्यु फ्जुइड है, यह पहले कह आये हैं।

परिणामतया-'संधियाँ' शिथिल हो जाती हैं, इत्यादि आगे कहे जाने वाले प्रकार से वह यक्ष्मा से पीड़ित होता है ।

—शोष के कारणों में एक क्षय (धातु–क्षय) है, यह जो कहा, उससे यह समझना चाहिए कि रुक्षान्नपान-सेवन आदि से रक्तादि धातुओं का क्षय होकर भी राजयक्ष्मा होता है; परन्तु इन क्षयों में प्राधान्य शुक्रधातु के क्षय का है । अतः उसी का विवरण देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं —

—अथवा पुरुष जब अत्यन्त हर्ष (कामावेश) के कारण, निरन्तर आसाक्ति की वासनावाला हो, स्त्रियों में अति प्रसंग करता है, तो उसके इस अतिमात्र प्रसंग के कारण रेत (शुक्र) क्षय को प्राप्त होता है[1] । रस के **क्षीणमाण** होते हुए भी उसका मन स्त्रियों से विमुख (निवृत्त) नहीं हो (अति प्रवृत्त ही हो) तो, अत्यधिक प्रयत्न द्वारा यथाकथंचित् जिसको ध्वजोच्छ्राय (लिङ्ग का उत्थान) हुआ है, ऐसे मैथुन करते इस पुरुष के शुक्र का अत्यन्त क्षय हो जाने से (व्यवाय के समय) शुक्र की प्रवृत्ति नहीं होती । अथ च, व्यवाय करते हुए ही वायु इसकी शोणितवाहीं धमनियों में प्रविष्ट हो शोणित (रक्त) की ही च्युर्ति करता है । नाम, शुक्रक्षय के कारण शुक्रमार्ग से (शुक्र न निकलकर) दुष्ट वायु के लिङ्गों (चिह्नों) सहित रक्त ही बाहर निकलता है ।

—एवं शुक्रक्षय और शोणित–प्रवृत्ति इन (दो) कारणों से उसकी संधियाँशिथिल हो जाती हैं, रूक्षता (धातुओं का क्षय, कार्श्य) उत्पन्न होता

दोषों का जो एक–एक विशेष स्थान बताया है, उसमें भी तत्तु दोष की वृद्धि से तत्त् अवयव का सविशेष पीड़ित होना यह अर्थ तो गृहीत है, साथ ही यह भी अर्थ ग्राह्य है कि प्रत्येक दोष उक्त एक–एक स्थान पर उत्पन्न और संचित होकर, वहाँ से प्रसृत हो इतर शरीरावयवों में स्थित स्व-समान दोष की पुष्टि तथा अन्य कर्म करता और पुनः चलना आरम्भ करने के लिये उसी स्थान पर आ जाता है । परन्तु, दोषों के विषय में एकैक स्थान कहने का कुछ और भी तात्पर्य है । वह यह कि, आयुर्वेद में संशोधन प्रधान चिकित्सा है और इस चिकित्सा में दोषों का संबंध एक–एक स्थान से विशेष है । दोषों ने प्रसृत हो, अवयव–विशेष में स्थान–संश्रय कर—डेरा डाल कर—रोगोत्पत्ति की हो, तो लङ्घन, स्नेहन, स्वेदनादि से उन्हें अपने कोष्ठगत स्थान में; यथा, वायु को पक्वाशय में; लाया जाता है । पश्चात् एक–एक विशेष संशोधनोपाय से उसका शरीर से निर्हरण किया जाता है; यथावस्ति से वायु को गुदद्वार से मूलोच्छिन्न किया जाता है ।

विद्यार्थियों को अभी से आयुर्वेद के इन तथा अन्य मूल सिद्धान्तों का स्वरूप समझते जाना चाहिए ।

१—रेतस्=वीर्य । ऊर्ध्वरेता शब्द में यह प्रसिद्ध । स्मरण रहे, आयुर्वेद में सप्तम धातु के लिए शुक्र शब्द है, वीर्य नहीं, वीर्य शुक्रसारों में होनेवाला विक्रमशालितारूप गुणविशेष है । शुक्र शब्द का ही योग्य व्यवहार किया जाना चाहिए

हैं[1]; इससे शरीर में और भी (अधिकतर) दौर्बल्य होता है; वायु प्रकोप को प्राप्त होता है; प्रकुपित हुआ यह वायु शून्य (शुक्र और शोणित के क्षय–वश रिक्त) हुए इस शरीर में रिक्तता के कारण ही अनुकूलता मिल जाने से प्रसृत होता हुआ श्लेष्म और पित्त को भी उदीरित (प्रकुपित) करता है; रक्त और मांस को परिशुष्क करता है; श्लेष्मा और पित्त को (तत्तत् मार्ग से) च्युत करता है—शरीर से बाहर निकालता है; पार्श्वों में शूलोत्पत्ति करता हैं; अंसों (कन्धों) में अवमर्द (टूट) उत्पन्न करता है; कण्ठोद्ध्वंस करता है; सिर में श्लेष्मा का प्रकोप कर उसे श्लेष्मा से पूर्ण कर देता है[2] और संधियों को अति पीड़ित करता हुआ अङ्गमर्द, अरोचक (अरुचि) और अविपाक (अजीर्ण) उत्पन्न करता है ।

—पित्त और श्लेष्मा के उत्क्लेश से और स्वयं प्रतिलोम–गति होने से वायु ज्वर, कास, श्वास, स्वरभेद और प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है । कास के प्रसंग (सातत्य–) वश उर में क्षत होने पर पुरुष रक्त–ष्ठीवन करता है । रक्त–प्रवृत्ति से उसे दौर्बल्य होता है । अन्त को शोष के कारणभूत इन उपद्रवों से पीड़ित हुआ वह शनैःशनैः शुष्क (क्षीण-धातु) होता जाता है ।

१— धातुओं की क्रमिक पुष्टि में जो **केदारीकुल्यान्याय** पक्ष है, उससे यह बात यों समझाई जा सकती है—सात क्यारियाँ हों और एक-एक क्यारी को क्रमशः सिक्त करता हुआ जल कुल्या (नाली) द्वारा सबको पहुँचता हो; इन क्यारियों में अन्तिम में यदि बड़ा गर्त हो, या छिद्र हो, तो भौतिक-शास्त्र के नियमानुसार सारा पानी पहले इस गर्त को भरेगा, फिर शेषांश से शेष क्यारियों को पुष्ट करेगा । द्रव, पदार्थों का दबाव सदा नीचे की ओर अधिक होता है, यह भौतिक–शास्त्र का सिद्धान्त है शारीर धातुओं में भी शुक्रधातु का अतिक्षय हो, तो रसधातु शेष धातुओं की पुष्टि का क्रम छोड़ पहले शुक्र को ही पुष्ट करने का कार्य करता है । परन्तु शुक्र का तो निरन्तर क्षरण होता रहता है, सो शेष धातुओं की पुष्टि का प्रसंग ही नहीं आता । धातुओं के क्षय के साथ उनके सारभूत ओज का भी क्षय होता है । ओज शुक्र धातु का मल है । अपने धातु की पुष्टि हो चुके, उसके अनन्तर प्राप्त रस के शेषांश से उसके मल की पुष्टि होती है, यह धातुओं की पुष्टि के विषय में नियम हैं । प्रकृत में, शुक्र का निरन्तर क्षय होता रहने से उसके मूलभूत ओज की भी पुष्टि रुक जाती है । इस प्रकार शुक्र, ओज तथा शेष धातुओं का क्षय और शुक्रमार्ग से रक्त-प्रवृत्ति इन सब हेतुओं से यक्ष्मा के उत्पन्न होने का मार्ग खुल जाता है ।

यहाँ पुरुषों की भी बात कही है । अति प्रसक्ति और अति गर्भाधानवश स्त्रियों में भी शुक्रधातु का क्षरण होने से उनके धातुओं का अनुपचय होने से यक्ष्मा होता है । गर्भस्थिति होने पर गर्भ के पोषण में ही रसधातु व्यतीत हो जाने से भी स्त्री के शरीर धातुओं का ह्रास होता है ।

२—यह सिर (मस्तिष्क तथा आवरण) में यक्ष्मा (ट्युबर्क्युलोसिस) होने की बात तो नहीं ?

—अतः बुद्धिशाली पुरुष को अपने शरीर की रक्षा करने की इच्छा हो, तो शुक्र की रक्षा करनी चाहिए। कारण, यह आहार की सर्वोत्कृष्ट फल–संपत्ति (परिणाम) है। कहा भी है—.

—शुक्र आहार का उत्कृष्ट सार (प्रसाद) है। उसकी रक्षा करनी चाहिए। उसका क्षय बहुत–से रोगों को, यहाँ तक कि मृत्यु को भी उत्पन्न करता है[1]।

विशमाशनजन्यस्य राजयक्ष्मणः संप्राप्ति

विषमाशनं शोषस्यायतनमिति[2] यदुक्तं, तदनुव्याख्यास्यामः।

यदा पुरुषः पानाशनभक्ष्यलेह्योपयोगान् प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेश-कालोपयोगसंस्थोपशयविषमानासेवते, तदा तस्य वातापित्तश्लेष्माणो वैषम्यमापद्यन्ते। ते विषमाः शरीरमनुसृत्य यदा स्रोतसामयनमुखानि प्रतिवार्यावतिष्ठन्ते, तदा जन्तुर्यद्यदाहारजातमाहरति तत्तदस्य मूत्रपुरीषमेवोपजायते भूयिष्ठं, नान्यस्तथा शरीरधातुः। स पुरीषोपष्टम्भाद्वर्तयति। तस्माच्छुष्यतो विशेषेण पुरीषमनुरक्ष्यं, तथाऽन्येषामतिकृशदुर्बलानाम्। तस्यानाप्यायमानस्य विषमाशनोपचिता दोषाः पृथक् पृथगुपद्रवैर्युञ्जन्तो भूयः शरीरमुपशोषयन्ति।

तत्र वातः शूलमङ्गमर्द कण्ठोद्ध्वंसनं पार्श्वसंरुजनमंसावमर्द स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजनयति; पित्तं ज्वरमतीसारमन्तर्दाहं च; श्लेष्मा तु प्रतिश्यायं शिरसो गुरुत्वमरोचकं कासं च। स कासप्रसंगादुरसि क्षते शोणितं निष्ठीवति। शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते।

१— आयुर्वेद और भारतीय धर्मशास्त्रों में इसीलिए योग्य वय (पुरुषों में पच्चीस वर्ष और स्त्रियों में सोलह वर्ष) आने तक ब्रह्मचर्य, गृहस्थ होने पर भी केवल बारह रात्रियों में व्यवाय, उसमें भी लड़का या लड़की की इच्छा हो तो आधी रात्रियों का परित्याग, पर्वों में सहवास का निषेध, नित्य बाजीकरणों और रसायनों का सेवन—ये नियम शुक्र की पुष्टि और रक्षा को लक्ष्य में रखकर ही बनाये हैं। आयुर्वेद और धर्मशास्त्र दोनों में विहित तिथियों में मैथुन को ब्रह्मचर्य ही माना गया है।

निदान-पर्यायाः

२— निदान (कारण) के पर्याय बताते हुए चरक ने कहा है—**इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम्।**

—च० नि० १।३

—निदान—प्रकरण में हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान और निदान ये (एकार्थवाचक शब्द) हैं। स्मरण रहे, निदान शब्द कारण–वाचक भी है, तथा रोग के ज्ञान के साधनभूत जो निदान, पूर्वरूप आदि पाँच परीक्ष्य हैं, उनका भी वाचक है। इस प्रकार निदान शब्द के दो अर्थ हैं।

एवमेते विषमाशनोपचितास्त्रयो दोषा राजयक्ष्माणमभिनिर्वर्तयन्ति । स तैरुपशोषणैरुपद्रवरुपद्रुतः शनैः शनैः शुष्यति । तस्मात् पुरुषो मनिमान् प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपशयादविषममाहारमाहरेत् ।**भवति चात्र**—

हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्कालभोजी जितेन्द्रियः ।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्[1]।।

—च० नि० ६/११–१२

—विषमाशन शोष का कारण है, यह जो कहा, उसका विवरण करते हैं ।

—पुरुष जब पीत, अशित, भक्ष्य और लेह्य इन चतुर्विध आहार–द्रव्यों की प्रकृति (द्रव्यों के गुण–कर्म), करण (संस्कार, उससे हुआ गुणों का परिवर्तन), संयोग, राशि (द्रव्यों का पृथक् तथा मिलित परिमाण), देश काल उपयोग के नियम (तन्मय हो, द्रव्यों के गुण का विचार कर खाना प्रभृति) और उपयोक्ता

१— अत्र चोपशयशब्देन उपयोक्ता यो रसविमाने वक्तव्यःस एव गृह्यते । यतस्तत्रोक्तम्–'उपयोक्ता पुनर्यस्तमाहारमाहरति, यदायत्तमोकसात्म्य' (च०वि० १।३२) इति । अनेन हि तत्रोपयोक्तृपरीक्षया सात्म्यमेव परीक्ष्यत इत्युक्तम् । —चक्रपाणि

'उपशय' शब्द से यहाँ उपयोक्ता (भोक्ता) का ग्रहण है । रस–विमान अध्याय (चरक विमानस्थान—प्रथम अध्याय) में प्रकृति आदि का विचार किया है । वहाँ उपयोक्ता शब्द का प्रयोग किया है और कहा है—आहार का जो सेवन करता है, सात्म्य (उपशय, हितकर आहार, विहार, देश, काल औषध) उसी के आश्रित होता है । सो वहाँ उपयोक्ता नाम से सात्म्य की ही परीक्षा विहित है ।

अयनमुखानीति गतिद्वाराणि; अयनं गतिः परिवार्येत्यवरुध्य । —चक्रपाणि

तथा सर्वेषामत्यर्थकृशदुर्बलानां पुरीषमनुरक्ष्यमिति योजना । एनमेव चार्थ वक्ष्यति-शोषो मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादति (पि) । सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् (च०वि० ८।८८, ४२) इति ।। —चक्रपाणि

—यक्ष्मी ही नहीं सब ही अति कृश (क्षीणधातु) और दुर्बल पुरीष के पुरीष की रक्षा करनी चाहिए । (उसके अतिसार की अप्रमत्त होकर चिकित्सा करनी चाहिए तथा विरेचन भी मृदु, अल्पमात्र और प्रतिदिन या कुछ–कुछ दिनों के अन्तर से ही देना चाहिए ।) इसी वस्तु को लक्ष्य में रख शोष–चिकित्साधिकार में कहा है—पुरीष के स्रंसन (अल्प निर्हरण) से भी शोषी (यक्ष्मी) पुरुष के अवयव (धातु) क्षीण हो जाते हैं । कारण, सर्व धातुओं के क्षय से पीड़ित यक्ष्मी का बल पुरीष का बल ही होता है । (पुरीष का ही पाक होकर उसके धातुओं को यत्किंचित् पुष्टि और बल का धारण होता है) ।

चिकित्सा–व्यवहार में प्रकृत्या या रोगादि से क्षीण और दुर्बल पुरुषों को विरेचनीय रोगों में भी विरेचन देते हुए यह बात ध्यान में रखने योग्य है । पञ्चकर्म का महत्त्व होते हुए भी उसके अपवाद भी हैं, यह वस्तु यहाँ स्मरणीय है ।

(भोक्ता) इनसे विषम रूप में सेवन करता है—नाम इन भावों को दृष्टि में रख जिन, जैसे और जितने द्रव्यों का सेवन करना चाहिए, उससे विपरीत प्रकार से सेवन करता है, तो (विषम–सेवन) इन आहार द्रव्यों के कारण उसके वात–पित्त–कफ वैषम्य (वृद्धि, क्षय या रूपान्तर) को प्राप्त होते हैं ।

—विषम हुए ये दोष स्रोतों के प्रवेश और गमन के द्वारों को अवरुद्ध कर वहीं स्थान संश्रय कर लेते हैं । इस दशा में वह जिस किसी भी आहार–द्रव्य का आहरण (सेवन) करता है, उसका अधिकांश मूत्र और पुरीष ही बनता है, शरीर के अन्य किसी धातु की वैसी पुष्टि नहीं होती । इस पुरीष-कृत उपष्टम्भ (धारण) से ही उसका जीवन–यापन होता है । अतः शोष को प्राप्त होते पुरुष के पुरीष की सविशेष रक्षा करनी चाहिए । शोषी ही नहीं, अन्य भी (जन्मना या रोगादिवस) अति कृश और दुर्बल पुरुषों के पुरीष की रक्षा करनी चाहिए । (इसकी व्याख्या टिप्पणी में देखिए) ।

इस प्रकार परिपुष्ट न होते हुए इस पुरुष के विषमाशन-वश प्रकुपित हुए दोष पृथक्-पृथक् उपद्रव्यों (विकारों, लक्षणों) से शरीर को आक्रान्त करते हुए शरीर को अधिक शुष्क (क्षीणधातुबलोत्साह) करते हैं । इनमें—

—वायु शरीर में शूल, अङ्गमर्द, कण्ठोद्ध्वंस, पार्श्मशूल, अंसमर्द, स्वरभेद तथा प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है; पित्त ज्वर, अतीसार और अन्तर्दाह को तथा श्लेष्मा, प्रतिश्याय, शिरोगौरव, अरोचक और कास उत्पन्न करता है ।

—कास के प्रसंग (सातत्य) से उरःक्षत होने के कारण वह रक्त–ष्ठीवन करता है । रक्त–प्रवृत्ति से उसमें (और भी) दौर्बल्य होता है । इस प्रकार विषमाशन के कारण पुष्ट हुए तीनों दोष राजयक्ष्मा को जन्म देते हैं। यक्ष्मी पुरुष इन शोषणकारी उपद्रवों से पीड़ित हुआ शनैः-शनैः शुष्क होता जाता है । अतएव बुद्धिशाली पुरुष को प्रकृति, कारण, संयोग, राशि, देश, काल उपयोगसंस्था (उपयोग के नियम) तथा उपशय से (इनकी दृष्टि से) अविषम ही आहार का ग्रहण करना चाहिए । कहा भी है—

—बुद्धिमान पुरुष को विषमाशन के कारण बहुविध कष्टकारी रोगों की उत्पत्ति को दृष्टि में रखते हुए हितभोजी, मितभोजी, कालभोजी तथा जितेन्द्रिय होना चाहिए:

आशय यह है कि प्रकृति, करण आदि का विचार किए बिना जो भोजन किया जाए उसी का नाम **विषमाशन** है ।

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि राजयक्ष्मा के ये चार कारण कहे हैं, तथापि पूर्णता को प्राप्त होने पर रोग का उपचार लक्षणों को ध्यान में रखकर ही किया जाता है । उस काल निदानों का भेद परखना दुष्कर हो जाता है ।

विषय का उपसंहार करते हुए, आचार्य आगे कहते हैं—

एतैश्चतुर्भिः शोषस्यायतनैरुपसेवितैर्वातपित्तश्लेष्माणः प्रकोपमापद्यन्ते । ते प्रकुपिता नानाविधैरुपद्रवैः शरीरमुपशोषयन्ति । तं सर्वरोगाणां कष्टतमत्वाद्राजयक्ष्माणमाचक्षते भिषजः । यस्माद्वा पूर्वमासोद्भगवतः सोमस्योडुराजस्य तस्माद्राजयक्ष्मेति ॥
—च० नि० ६।१३

XX 'राजेव यक्ष्मा राजयक्ष्मेति' (यक्ष्मणां राजा राजयक्ष्मा इति पाठान्तरम्) निरुक्तिर्बोद्धव्या XX राजसंज्ञत्वं सोमस्य । ततश्च 'राज्ञो यक्ष्मा राजयक्ष्मा' इति निरुक्तिर्भवति ॥
—चक्रपाणि

—शोष (राजयक्ष्मा) के हेतुभूत इन चार के सेवन से वात, पित्त और श्लेष्मा प्रकोप को प्राप्त होते हैं । प्रकुपित हुए ये दोष अनेकविध उपद्रवों से शरीर को उपशोषित करते हैं । सर्व रोगों में कष्टतम (सविशेष कष्टदायी एवं कष्टसाध्य) होने से वैद्य इसे राजयक्ष्मा कहते हैं । इस पक्ष में राजा के समान[1] यक्ष्मा[2], यह इसकी निरुक्ति है । 'अथवा रोगों का राजा' यह भी इसकी निरुक्ति है । किंवा, यह (अति ग्रामधर्मासक्त होने से) सर्वप्रथम नक्षत्र–राजा सोम (चन्द्र) को हुआ (वैद्यों को इस रोग का प्रथम दर्शन चन्द्र में हुआ) अतएव भी इसे राजयक्ष्मा कहते हैं । इस पक्ष में 'राजा का (राजा को हुआ) यक्ष्मा–रोग' यह इसकी निरुक्ति है । राजा का अर्थ चन्द्र संस्कृत वाङ्मय में प्रसिद्ध है यह यहाँ गृहीत है ।

राजयक्ष्मणः पूर्वरूपाणि[3]

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति । तद्यथा-प्रतिश्यायः क्षयथुरभीक्ष्णं श्लेष्मप्रसेको मुखमाधुर्य मनन्नाभिलाषोऽन्नकाले चायासो दोषदर्शनमदोषेष्वल्पदोषेषु वा भावेषु

१—राजा के चतुर्दिक् जैसे उसके रक्षकादि परिवृत (उसे घेरे कर स्थित) होते हैं, वैसे नानाविध घोर लक्षणों से परिवेष्टित यह राजयक्ष्मा रहता है, इस निरुक्ति से बोधित वस्तु है ।

२— यक्ष्मा का अर्थ योग भी होता है । तथाहि—

रोग पर्याय

तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यमर्थान्तरम् ॥
—च० नि० १।५

व्याधि, आयम, गद, आतङ्क, यक्ष्मा, ज्वर, विकार और रोग ये परस्पर पर्याय हैं ।

अर्थान्तर का अर्थ है—अन्य अर्थ; यथा देशान्तर नाम अन्य देश । अनर्थान्तर का अर्थ हुआ जिसका अन्य अर्थ न हो, नाम पर्याय । इनमें आमय नाम ही सार्थकता पहले जता आये हैं । इस प्रकरण में **चक्रपाणि**—ने भी कहा है— **प्रायेणामसमुत्थत्वेनामय इत्युच्यते**—प्रायशः आम से उत्पन्न होने के कारण रोग को आमय कहा जाता है ।

पूर्वरूप–लक्षणम्

३—पूर्वरूप के विषय में अधिक ज्ञातव्य आगे रोग-निदानाधिकार में आयेगा । यहाँ उसका स्पष्ट लक्षण दिया जाता है ।

पात्रोदकान्नसूपापूपोपदशपरिवेषकेषु भुक्तवतश्चास्य हृल्लासस्तथोल्लेखनमप्याहारस्यान्तराऽन्तरा मुखस्य पादयोश्च शोफः ('शोषः' इति पाठान्तरम्) पाण्योश्चावेक्षणमत्यर्थमक्ष्णोः श्वेतावभासता चातिमात्रं वाह्वोश्च प्रमाणजिज्ञासा स्त्रीकामता निर्घृणित्वं बीभत्सदर्शनता चास्य काये स्वप्ने चाभीक्ष्णं दर्शनमनुदकानामुदकस्थानानां शून्यानां च ग्रामनगर-निगमजनपदानां शुष्कदग्धभग्नानां च वनानां कृकलासमयूरवानरशुकसर्पकाकोलूकादिभिः संस्पर्शनमधिरोहणं यानं वा श्वोष्ट्रखरवराहैः खेशास्थिभस्मतुषाराङ्गारराशीनां चाधिरोहणमित ॥

—च०नि० ६।१४

X X X बीभत्सदर्शनता काय इति कायस्य विवर्णगन्धत्वादिना X X X ॥

—चक्रपाणि

उस राजयक्ष्मा के पूर्वरूप ये होते हैं—प्रतिश्याय, छिक्का, निरन्तर कफप्रसेक, (मुख से कफ निकलना), मुखमाधुर्य (मुख का रस मधुर होना), अन्न की अभिलाषा न होना, अन्नपान के सेवन के समय आयास (श्रम तथा ऊब प्रतीत होना); पात्र जल अन्न, दाल, रोटी (अपूप=पूड़ा), चटनी तथा परोसनेवाले–ये पदार्थ दोष–रहित हों, किंवा अल्पदोष (अल्प–त्रुटियुक्त) हों तथापि उनमें दोष–दर्शन (भूल निकालकर टोकना), खाते समय हृल्लास (लालास्त्राव) एवं भोजन (के खण्ड) मुख से बाहर भी गिर जाना, बीच–बीच में मुख तथा पैरों पर शोथ (पाठान्तर में–शोष), हथेलियाँ बार–बार देखना आँखें अति श्वेत दीख पड़ना, बाहुओं के प्रमाण (मोटाई, स्थूलता) की जिज्ञासा (इसके लिये दर्पण में किंवा उसके बिना बार–बार अपने बाहु देखना); स्त्री–कामना (समागम की इच्छा वृद्धि) , निर्दयता; दुर्गन्ध, वर्ण–विकार प्रभृति के कारण शरीर बीभत्स (विरूप, दुर्दर्शन, अमनोरम) होना; स्वप्न में जलशून्य जलस्थान, जनशून्य ग्राम, नगर, निगम एवं जनपद तथा शुष्क (दावानल से), दग्ध और भग्न (टूटे वृक्षोंवाले) वनों का दर्शन; स्वप्न में ही गिरागट, मयूर, वानर, शुक, सर्प, काक, उलूक– प्रभृति प्राणियों का आकार अपने शरीर को स्पर्श करना, अथवा अपने शरीर पर आकर बैठना; स्वप्न में ही कुत्ता, उष्ट्र, गर्दभ तथा बराह (शूकर) पर सवारी एवं स्वप्न में ही केश, अस्थि, भस्म (राख), तुष (चावल आदि के दोनों का आवरण) का अङ्गार–इनकी ढेरी पर अधिरोहण (इन पर होकर जाने का स्वप्न में दर्शन) ।

स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धां भाविव्याधिप्रबोधकम् ।
दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्ग पूर्वरूपे तदुच्यते ॥

च० नि० १।८ **चक्रपाणि** धृत तन्त्रान्तरीय वचन

—कुपित हुए दोष (प्रसृत होते हुए, स्त्रोतों की दुष्टि अर्थात् वातादिकृत अवरोध के कारण आगे न जाकर जब कहीं) स्थान–संश्रय कर लेते हैं तो भावी रोग के सूचक जिन (अव्यक्त) लक्षणों को उत्पन्न करते हैं, उन्हें **पूर्वरूप** कहते हैं ।

राजयक्ष्मणो रूपाणि

अत ऊर्ध्वमेकादश रूपाणि तस्य भवन्ति । तद्यथा-शिरसःप्रतिपूर्णत्वं कासःश्वासःस्वरभेदः[1] श्लेष्मणश्छर्दनं शोणितष्ठीवनं पार्श्वसंयोजनमंसावमर्दो ज्वरोऽतीसारोचकश्चेति ॥ —च० वि० ६।१५

इसके अनन्तर (पूर्वरूप प्रकट होने पर भी उपचार न किया जाय अथवा मिथ्योंपचार हो तो) ग्यारह रूप (लक्षण) उत्पन्न होते हैं; यथा—सिर की श्लेष्मा से घूर्णता (सिर भरा हुआ प्रतिभाषित होना); कास, श्वास, स्वरभेद (स्वर–विकृति), कफ-ष्ठीवन (मुख से या छर्दि में आमाशय से कफ निकलना), रक्तष्ठीवन, पार्श्वशूल, अंसमर्द, ज्वर, अतिसार अरोचक ।

अन्यत्र आचार्यों ने राजयक्ष्मा के छ और तीन लक्षण भी बताये हैं । कहीं–कहीं लक्षणों में कुछ भिन्नता दीख पड़ती है; पर समस्त लक्षणों की संख्या इतनी ही होती है । लक्षणों के इन तीन वर्गों को दृष्टिगत रख राजयक्ष्मा के तीन भेद किये गये हैं—**त्रिरूप राजयक्ष्मा, षड्रूप राजयक्ष्मा और एकादशरूप राजयक्ष्मा ।**

राजयक्ष्मणः साध्यासाध्यत्वम्

तत्रापरिक्षीणबलवर्णमांसशोणितो बलवानजातारिष्टःसर्वैरपिशोषलिङ्गैरुपद्रुतः साध्यो ज्ञेयः । बलवानुपचितो हि सहत्वाद्व्याध्यौषधबलस्य कामं सुबहुलिङ्गोऽप्यल्पलिङ्ग एव मन्तव्यः । —च० नि० ६।१५

XX अल्पलिङ्ग एवेति अल्पलिङ्ग एव सुखसाध्य इत्यर्थः ॥ **—चक्रपाणि**

—शोषरोगियों में जिसका बल, मांस और रक्त अति क्षीण न हुआ हो, जो सहज (जन्मजात, अकृत्रिम) बल से युक्त हो, जिसके अरिष्ट (मरण–सूचक लक्षण) न उत्पन्न हुए हों, उसे शोष के सभी लिङ्गों (लक्षणों) से पीड़ित होते हुए भी साध्य ही समझना चाहिए । कारण बलवान् और उपचित (पुष्ट रक्त, मांसादि धातुओंवाला) पुरुष रोग और औषध के बल को सहन करने के सामर्थ्यवाला होने से भले ही अति अधिक लक्षणोंवाला हो, तो भी उसे अल्पलक्षण नाम अल्पलक्षणाक्रान्त के सदृश सुखसाध्य ही मानना चाहिए ।

दुर्बलं त्वतिक्षीणबलमांसशोणितमल्पलिङ्गमजातारिष्टमपि बहुलिङ्गं जातारिष्टं च विद्यादसहत्वादौषधबलस्य । तं परिवर्जयेत् । क्षणेनैव हि प्रादुर्भवन्त्यरिष्टानि, अनिमित्तश्चारिष्टप्रादुर्भाव इति । —च० नि० ६।१७

बहुलिङ्गं जातारिष्टं च विद्यादिति बहुलिङ्गमिवासाध्यं तथा जातारिष्टमिव मारकं विद्यादित्यर्थः X X ॥ **—चक्रपाणि**

१—निदानाधिकार में जहाँ नेत्र–परीक्षा हो; वहाँ नेत्र से उसकी श्लेष्मकला (Conjunctiva-कङ्जङ्क्टाइवा) का ग्रहण होता है ।

—जो यक्ष्मी जन्मना दुर्बल हो, साथ ही रोगवश अति क्षीण बल, मांस और रक्तवाला हो उसे रोग और औषध के बल का असहिष्णु होने के कारण अल्पलिङ्ग वाला और जिसमें अरिष्ट उत्पन्न नहीं हुए हैं ऐसा होते हुए भी बहुत लिङ्गोंवाला नाम उसके समान असाध्य एवं उत्पन्न अरिष्ट लक्षणोंवाला अर्थात् तद्वत् मरणासन्न मानना चाहिए । उसे छोड़ देना चाहिए । कारण, क्षणमात्र में ही उसमें अरिष्ट लक्षण प्रादुर्भूत हो जाते हैं और अरिष्ट-लक्षण बिना कारण ही उत्पन्न होते हैं । (अर्थात् अमुक कारण हों तो उनसे बचा जा सकता है, पर अरिष्ट-लक्षण अकारण ही उत्पन्न होते हैं और उक्त प्रकार के रोगी में कभी भी उत्पन्न हो सकते हैं) ।

समुत्थानं च लिङ्गं च यः शोषस्यावबुध्यते ।
पूर्वरूपं च तत्त्वेन स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ —च० नि० ६।१८

—इस विषय में (सर्वसंग्राहक) श्लोक है—जो वैद्य शोष के कारण, पूर्वरूप और रूप को यथार्थतः जानता है, वह राजा की चिकित्सा कर सकता है ।



षड्रसाश्रिता चिकित्सा

गत प्रकरण के आरम्भ में कहा गया है कि—षड्रसों का नित्य सेवन श्रेष्ठ है। इसके पूर्व भी आयुर्वेद—मत से समस्त रसों के सेवन का गौरव-बता आए हैं। इस प्रसंग में यह समझ लेना चाहिए कि, आयुर्वेद में आहार तथा औषध—द्रव्यों के स्वरूपद्योतक रसों के अतिरिक्त गुण, वीर्यादि अन्य भी धर्म कहे हैं, तथापि रसों के ही इस प्रकार सेवन का महत्त्व बताने का अर्थ यह है कि, प्रायः द्रव्यों के इतर गुण—धर्मों का निर्देश उनके रसों के निर्देश द्वारा किया जा सकता है। कारण, प्रत्येक रस के सहचारी अमुकामुक गुण—वीर्य—विपाकादि नियत ही होते हैं। ऐसे द्रव्यों का गुण—निर्देश रसों के गुण-धर्म के निर्देश द्वारा ही करने की तन्त्रकारों की पद्धति है। तथाहि—

तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः।

—च० सू० २६।४६

परन्तु जिनके गुण—वीर्य—विपाकादि कुछ विपरीत होते हैं उनके गुणादि का कथन अपवादतया पृथक् किया जाता है। तात्पर्य, जब रसों के महत्त्व की बात की जाती है, तब द्रव्यों के शेष गुण—धर्मों के साम्य और वैषम्य के हित—अहित परिणामों का भी ग्रहण अर्थापत्ति[1] से ही हो जाता है।

अर्थापत्ति—लक्षणम्

१—अर्थापत्ति (अर्थ—प्राप्ति) एक तन्त्र—युक्ति (आयुर्वेदीय तथा अन्य तन्त्रों—शास्त्रों—में प्रयुक्त होनेवाली संज्ञा) है। इसका बार—बार मैंने प्रयोग किया है। सो, सुश्रुत और चरक के पदों में इसका अर्थ समझना योग्य है।

यदकीर्तितमयर्थादापद्यते साऽर्थापत्तिः। यथा—ओदनं भोक्ष्ये इत्युक्तेऽर्थादापन्नं भवति—नायं पिपासुर्यवागूमिति॥ —सु० उ० ६५।२०

—जो वस्तु (कण्ठरव से शब्दतः) कही न गई हो, परन्तु (कथित) वस्तु से ही उसका स्वयं ग्रहण हो जाय तो इसे **अर्थापत्ति** कहते हैं। यथा कोई कहे 'भात खाऊँगा, तो इस शब्द के अर्थ से यह वस्तु स्वयं आपन्न (प्राप्त, गृहीत, अवबुद्ध) होती है कि वह यवागू पीने की इच्छा नहीं रखता।

चरक ने अर्थ—प्राप्ति नाम से इसका निर्देश किया है। तथाहि—

अथार्थप्राप्तिः। अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापररस्यार्थस्यानुक्तस्यापिसिद्धि। यथा—नायं संतर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिरपतर्पणसाध्योऽयमिति। नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भावयत्यर्थप्राप्तिर्निश भोक्तव्यमित। —च० वि० ८।४८

अर्थप्राप्तिरित्यर्थापत्तिरित्यर्थ : XXX॥ **—चक्रपाणि**

—अब अर्थप्राप्ति या अर्थापत्ति (का लक्षण कहते हैं) —**अर्थप्राप्ति** उसे कहते हैं; जब एक अर्थ (वस्तु, बात) कही जाने से अनुक्त भी अर्थान्तर (अन्य अर्थ)–की

इस प्रकार प्राचीनों ने रसों तथा अन्य गुण–धर्मों के निर्देश के रूप में ही आहारौषध द्रव्यों के कर्मों का प्रतिपादन किया है । इस विषय में प्रथम शोचनीय यह है कि, स्वस्थवृत के आयुर्वेदीय विवरण में भी सुविद्य वैद्य भी आहार–द्रव्यों का निर्देश रसादि के रूप में न कर प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदि के रूप में ही करते हैं । आयुर्वेद के स्वरूप में इस प्रकार हम विद्यार्थी को दूर ले जाते हैं । चाहिए यह कि नव्य मत का बोधन करना ही हो तो प्रथम आयुर्वेदीय पद्धति से ही द्रव्यों का उनके रस–गुण–वीर्य–विपाकादि के रूप में परिचय कराना चाहिए; पश्चात् प्रोटीन आदि का स्वरूप-निर्देश कर उनकी तुलना प्राचीन–मत से करनी चाहिए । यथा—गुरू द्रव्यों में शरीर में गौरव (धातुओं की पुष्टि) उत्पन्न करने वाला प्रोटीन प्रधानतया होता है । स्निग्ध द्रव्यों में विभिन्न स्नेह होते हैं । फिर इन द्रव्यों का शीत—उष्णादि भेद से विचार करना चाहिए । घृत और तैल स्निग्ध होते हुए भी घृत शीत है और तैल उष्ण । मुक्ता और शंख केल्शियम होते हुए भी मुक्ता शीत है और शंख उष्ण । इनके आयुर्वेदोक्त गुणों को दृष्टि से रख इनका दोष—भेद से उपयोग करना चाहिए ।

वस्तुतः प्राचीनों ने रसों का विचार न केवल स्वास्थ्य की अनुवृत्ति (स्वास्थ्य के स्थिर बने रहने) के लिए किया था, रोग होने पर उनके निवारण में भी इन रसों का ही विचार किया जाता था । तथाहि—

भेदश्चैषां त्रिषष्टिविधविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद्भवति । तमुपदेक्ष्यामः ॥

—च० सू० २६।१४

X X प्रभावशब्दो द्रव्यदेशकालैः प्रत्येकं युज्यते । तत्र द्रव्यप्रभावाद्यथा—'सोमगुणातिरेकान्मधुर' इत्यिदा । **देशप्रभावाद्यथा**—हिमवति द्राक्षादाडिमादीनि मधुराणि भवन्त्यन्यत्राम्लानीत्यादि । कालप्रभावाद यथा—बालाम्रं सकषायं तरुणमम्लं पक्वं मधुरं, तथा हेमन्ते औषध्यो मधुरा वर्षास्वम्ला इत्यादि । अग्निसंयोगादयो येऽन्ये रसहेतवस्तेऽपि काले द्रव्ये वाऽन्तर्भावनीयाः ॥ —**चक्रपाणि**

—द्रव्य (द्रव्य की पाञ्चभौतिक घटना) देश और काल–इनके प्रभाव से (इनकी क्रिया से) रसों के तिरसठ (६३) भेद होते हैं । इनकी व्याख्या करेंगे ।

—द्रव्य—प्रभाव से रसभेद, यथा—हिमवान् (हिमाचल) में द्राक्षा, दाडिम आदि फल मधुर होते हैं, अन्यत्र अम्ल इत्यादि । काल के प्रभाव से रसभेद, यथा—बालाम्र (अम्बी) कषायरस युक्त होता है, तरुण आम्र अम्ल तथा पक्व मधुर होता है । यद्वाऔषधियाँ (धान्य) हेमन्त में मधुर होती हैं, वर्षा में अम्ल इत्यादि । रसों की उत्पत्ति में अग्नि—संयोगादि हेत्वन्तर हैं । उनका अन्तर्भावदेश और काल में करना चाहिए ।

(आप ही आप) सिद्धि—ग्रहण—हो जाय । यथा—यह रोग संतर्पणसाध्य नहीं है, ऐसा कहने से अर्थप्राप्ति होती है, कि यह रोग अपतर्पण साध्य है । यद्वा इसे दिन में नहीं खाना चाहिए; ऐसा कहने पर अर्थप्राप्ति होती है—रात को खाना चाहिए ।

रस के इन भेदों का विवरण देते संक्षेप में धन्वन्तरि कहते हैं :—

तत्रैतेषां रसानां संयोगास्त्रिषष्टिर्भवन्ति । यद्यथा—पञ्चदद्विकाः, विंशतिस्त्रिकाः, पञ्चदश चतुष्काः, षट् पञ्चका, एकशः, षड्रसाः एकः षट्क इति । तेषामन्यत्र प्रयोजनानि वक्ष्यामः ।

—सु० सु० ४२।१२

—इन रसों में तिरसठ संयोग होते हैं । तद्यथा—दो-दो रसों के (मधुर–लवण,मधुर–अम्ल आदि के) द्विक पन्द्रह प्रकार के होते हैं; तीन–तीन रसों के (मधुर–अम्ल–लवण, मधुर–अम्ल—कटु आदि के) त्रिक बीस होते हैं; चार–चार रसों के (मधुर–अम्ल–लवण–कटु; मधुर–अम्ल–लवण–तिक्त आदि के) संयोग चतुष्क पन्द्रह होते हैं; पाँच–पाँच रसों के पञ्चक छ होते हैं; एकश; (पृथक् प्रत्येक रस) छ होते हैं; और षट्क (छ रसों का समुदाय) एक होता है । इन संयोगों का (संयोगों के इस विवरण का) प्रयोजन अन्यत्र—उत्तरतन्त्र में—(अ०६३ तथा ६६ में कहेंगे ।

उक्त प्रकरण में रसों के इन संयोगों का विवरण कर आत्रेय पुनर्वसु कहते हैं :—

इति त्रिषष्टिद्रव्याणां निर्दिष्टा रससंख्यया ॥
त्रिषष्टिः स्यात्त्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात् ।
रसास्तरतमाभ्यां तां संख्यामतिपतन्ति हि ॥

—च० सू० २६।२२–२३

—द्रव्यों के रसों की संख्या की दृष्टि से ये तिरसठ भेद कहे । रसों के साथ रहे अनुरस[1] का भी विचार किया जाए तो ये तिरसठ भेद भी

अनुरस–लक्षणम्

१—व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते ।
विपर्ययेणाऽनुरसः ॥ —च० सू० २६।२८

पूर्वोक्तरसानुरसलक्षणमाह–व्यक्त इत्यादि । शुष्कस्य चेति चकारावार्द्रस्य । आदौ चेति चकारादन्ते च । तेन शुष्कस्य वार्द्रऽस्य वा प्रथमजिह्वासंबन्धे वाऽऽस्वादान्ते वा यो व्यक्तत्वेन मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादिना विकल्पेन गृह्यते स व्यक्तः । यस्तूक्तावस्थाचतुष्टयेऽपि व्यक्तो नोपलभ्यते, किं तर्ह्यव्यपदेश्यतया छायामात्रेण कार्यदर्शनेन वाऽनुमीयते, सोऽनुरस इति वाक्यार्थः ॥ —चक्रपाणि

—रस और अनुरस का लक्षण बताते हैं–द्रव्य शुष्क हो वा आर्द्र; उसका जिह्वा के साथ प्रथम संबंध होने पर अथवा आस्वाद के अन्त में 'यह मधुर–रस है'—यह अम्ल–रस है' इत्यादि प्रकार से जिसका व्यक्त रूप से ग्रहण **(बोध, ज्ञान)** होता है उसे रस कहते हैं । परन्तु —

असंख्य हो जाते हैं; और इन रसों तथा अनुरसों के तर–तम आदि भेद (मधुरतर-मधुरतम् आदि प्रकार से भेद) किए जाएँ तो भी ये रस–भेद संख्यातीत हो जाते हैं ।

संयोगाः सप्तञ्चाशत् कल्पना तु त्रिषष्टिधा ।
रसानां तत्र योग्यत्वात्कल्पिता रसचिन्तकैः ॥ —च० सू २६।२४

एवमसंख्येयत्वेऽपि त्रिषष्टिविधैव कल्पना चिकित्साव्यवहारार्थमिहाचार्यैः कल्पितेत्याह—संयोगा इत्यादि । तत्र योग्यत्वादिति तत्र स्वस्थातुरहितचिकित्साप्रयोगेऽनतिसंक्षेपविस्तरतया हितत्वादित्यर्थः ॥ —**चक्रपाणि**

—इस प्रकार यों रसानुरस असंख्य हैं तथापि स्वस्थ और आतुर दोनों की चिकित्सा (स्वस्थ के स्वास्थ्य संरक्षण तथा रोगियों के रोगप्रशमन) में न अति संक्षिप्त और न अति विस्तृत होने से उपयुक्त होने के कारण रसों की तिरसठ प्रकार की कल्पना और (पृथक् छ रसों को छोड़कर · शेष) सत्तावन (५७) संयोस रस–चिन्त्कों ने (षड्रसों का ही दोषों के बलाबल को देखकर उपयोग करने में विशारद आचार्यों ने) माने हैं ।

इन रसों का चिकित्सा में उपयोग किस रीति से करना चाहिए इसका विवरण देते तन्त्रकार आगे कहते हैं :—

क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित् ।
दोषौषधादीन् संचित्य भिषजा सिद्धिमिच्छता ॥
द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधाः ।
रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान् प्रति ॥

तमेव चिकित्साप्रयोगमाह—क्वचिदित्यादि । अत्रादिग्रहणाद्देशकालबलादीनामनुक्तानां ग्रहणम् । एतदेव संयुक्तासंयुक्तरसकल्पनं भिन्नरसद्रव्यमेलकाद्वाऽनेकरसैकद्रव्यप्रयोगादेकरसद्रव्यप्रयोगाद्वा भवतीति दर्शयन्नाहद्रव्याणीत्यादि । द्विरसादीन्युत्पत्तिसिद्धद्विरसत्रिरसादीनि । द्विरसं

—उक्त चारों अवस्थाओं में (द्रव्य की शुष्कता या आर्द्रता एवं उसका जिह्वा के साथ सम्बन्ध का आरम्भ या अन्त इनमें) जिसका बोध व्यक्ततया न हो, किन्तु अव्यपदेश्य रूप से (वाणी से जिसका निर्देश न किया जा सके इस प्रकार) छायामात्र ग्रहण हो अथवा कार्य को देखकर जिसका केवल अनुमान हो उसे अनुरस कहा जाता है ।

संस्कृत में 'च' से **अनुक्त—समुच्चय** नाम जो वस्तु न कही हो उसका भी **ग्रहण** कभी–कभी होता है । जैसे—यहाँ । इस पद्य में **'शुष्कस्य च'** ऐसा कहा है, **'च'** से **'आर्द्रस्य'**— आर्द्र का भी निर्देश हुआ माना जाता है । एवं, **'आदी च'** ऐसा कहा है । यहां **'च'** से **'अन्ते च'** —अन्त में भी यह निर्देश समझा जाता है । यह विवरण चक्रदत्त की ऊपर घृत टीका में देखिए ।

यथाकषायमधुरो मुद्गः; त्रिरसं यथा—"मधुराम्लकषायं च विष्टम्भि गुरु शीतलम् । पित्तश्लेष्महरं भव्यं ग्राहि वक्त्रविशोधनम्" (च०सू० २७।१३१) इत्यादिः चतूरसस्तिलः, यदुक्तम्—"स्निग्धोष्णमधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिल" (च०सू०अ०२७) । पञ्चरसं त्वामलकं हरीतकी च; 'शिवा पञ्चरसा' इत्यादि वचनात् । XX एवं द्विरसादिद्रव्ययोगाद् द्विरसाद्युपयोगः ।

तथा, संयुक्तांश्च रसानिति एकैकरसादिद्रव्यमेलकात् संयुक्तान् रसानेकैकशः कल्पयन्ति प्रयोजयन्ति । xx द्विरसादिभेदो गद एव । स्वस्थे तु सर्वरसप्रयोग एव । यदुक्तं —"समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते" (च० सू० ७४।१) इति XXX ॥

—**चक्रपाणि**

—सिद्धि की इच्छा रखने वाले वैद्य को रसों का चिकित्सा में प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए । दोष, औषध, देश, काल, बल आदि का विचार कर कभी एक (असंयुक्त) रस की और कभी संयुक्त रसों की (संयुक्त रसवाले द्रव्यों की) योजना करनी चाहिए ।

—तथाहि, रोगों को लक्ष्य में रखकर, ऐसे एक-एक द्रव्य की योजना की जाती है । जिनमें प्रकृत्या दो तीन आदि रस हों; अथवा जिनमें उत्पत्ति-सिद्ध अनेक रस न हों तो पृथक् रस या रसों वाले अनेक द्रव्यों को संयुक्त कर उनकी योजना की जाती है; और कभी रसों का एकैकशः भी प्रयोग किया जाता है ।

=उत्पत्ति–सिद्ध द्विरसादि द्रव्यों के उदाहरण देते टीकाकार—**चक्रपाणि** कहते हैं— मृद्ग कषाय–मधुर होने से द्विरस है । भव्य[1] मधुर, अम्ल कषाय (त्रिरस) तथा विष्टम्भी, गुरु, शीतल, पित्तश्लेष्महर, ग्राही और मुख–शोधक (मुख को लिप्त करने वाले कफ की शुद्धि करने वाला) है । तिल चतूरस द्रव्यों का उदाहरण है। कहा भी है–तिल स्निग्ध, उष्ण तथा मधुर–कषाय–तिक्त और कटु है । आमलक और हरीतकी (शिवा) पञ्चरस[2] है ।

यह उत्पत्ति—सिद्ध किंवा संयोग–सिद्ध द्विरसादि द्रव्यों की कल्पना रोगों के प्रति नाम चिकित्सा–विषयक है । स्वस्थ पुरुष के लिए तो यही नियम है कि, समधातु (स्वस्थ) पुरुष के लिये जिसमें सर्व रस सम (योग्य) प्रमाण में हो ऐसा ही अन्न-पान सात्म्य और प्रशस्त होता है—

समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते ॥ च० सू० ७।४१

इस रस—चिकित्साधिकार का उपसंहार करते महर्षि पुनर्वसु कहते हैं—

१—वंगदेश उत्कल (उड़ीसा), कोंकण आदि में होने वाला एक फल; बंगला नाम—चाल्ला, मराठी—करंबल, करमल लेटिन Dellenia Indica-डेलेविआ इंडिका ।

२—लसुन भी पञ्चरसात्मक प्रसिद्ध है । इसका पर्याय रसोन है, जिनका अर्थ ही यह है कि इसमें एक रस (लवण) ऊन (न्यून अविद्यमान) होता है ।

यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित् ।

न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ च० सू० २६।२७

—जिसे रसों के समस्त भेदों का ज्ञान है, साथ ही जो दोनों के समस्त भेदों को जानता है वह वैद्य रोगों के हेतु, लिङ्ग (लक्षण) और उनकी चिकित्सा में कभी मोह (अज्ञान, मिथ्याज्ञान तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ता) को प्राप्त नहीं होता ।

अन्यत्र विद्यार्थी पढ़ेगे कि तीन-तीन रस एक-एक दोष को शान्त करते हैं तथा तीन-तीन कुपित करते हैं । सो कौन-सा दोष कितना कुपित या क्षीण है यह देखकर, साथ ही कुपित या क्षीण दोष के किस गुण–विशेष का कोप या क्षय हुआ है और वह कितने परिमाण में है इसका निदान (अंशांश–कल्पना) कर उसके विरुद्ध–गुणयुक्त रस वाले द्रव्य या द्रव्यों का उचित परिमाण में सेवन करने से निश्चित है कि कुपित दोष क्षीण होकर तथा क्षीण दोष वृद्धि को प्राप्त होकर समावस्था में आएगा । यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है ।

वाचक इस अन्तिम पद्य की प्राणवती पदावली का विचार करें । कितने आत्मविश्वास से आचार्य षड्रसानुकूल चिकित्सा से प्राप्त होने वाली निश्चित सिद्धि का उल्लेख कर रहे हैं । वाचक आजकल प्रवर्तमान आयुर्वेदीय व्यवसाय के साथ तुलना कर यह भी देखें कि आयुर्वेद से हम कितनी दूर जा पड़े हैं ।

अस्तु, अब यही षड्रसाश्रित चिकित्सा विषय धन्वन्तरि के पदों में देखिए—

दोषाणां पञ्चदशधा प्रसनरोऽभिहितस्तु यः ।

त्रिषष्ट्या रसभेदानां तत्प्रयोजनमुच्यते ॥ —सु० उ० ६३।३

xx अत्र पञ्चदशधेत्युपलक्षणम् । तेन दोषभेदानां त्रिषष्टिरपि गृह्यते । अयमभिप्रायः— त्रिषष्टिप्रकाराणामपि दोषभेदानामुपयोगार्थं रसभेदा उक्ताः ॥

—(सूत्रस्थान के इक्कीसवें अध्याय—व्रणप्रश्नाध्याय–में) दोषों का पन्द्रह प्रकार का प्रसर[1] बता आए हैं । वह उपलक्षणभूत है । उसका भी विस्तार कर **तिरसठ प्रकार से दोषों का प्रसर होता है । यह जो दोषों का प्रसर कहा गया है उसका प्रयोजन रसों के तिरसठ भेदों का उपयोग बताना है ।**

अविदग्धा विदग्धाश्च भिघन्ते ते तिषठिरधा ।

रसभेदत्रिषष्टिं तु वीक्षा वीक्ष्यावचारयेत् ॥ —सु० उ० ६३।४

प्रसर–लक्षणम्

१—दोषों के प्रकोप की छ अवस्थाएँ—**संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय व्यक्ति** तथा भेद । इनमें प्रसर का लक्षण प्रसंगोपात्त लिखा जाता है ।

xx अविदग्धा असंयुक्ता एकाकिनः समवायतो भिद्यन्त इत्यर्थः । विदग्धाः संयोगतः समवायतश्च संयुक्ता रसान्तरसंयोगाद्भिद्यन्ते । विदग्धशब्दः संयुक्ते वर्तते, धातूनामनेकार्थत्वात् xxx ॥

—डल्हन

—असंयुक्त (पृथक्–पृथक् मधुरादि रस) तथा संयुक्त (मिलित) रस मिलकर इनके तिरसठ भेद होते हैं । इन रसों के तिरसठ भेदों को दोषादि तथा उनका तारतम्य देख–देखकर योजित करना चाहिए ।

=अत ऊर्ध्वं प्रसरं वक्ष्यामः । तेषामेभिरातङ्कविशेषैः प्रकुपितानां किण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति । तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतु, सत्यप्यचेतन्ये । स हि रजोभूयिष्ठः । रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम् ।

—सु० सू० २१।२८

—अब प्रसर का विवरण करते हैं । इन (पूर्वोक्त) प्रकोपक कारण—विशेषों से प्रकुपित होकर उद्रिक्त (उच्छलित) हुए दोषों का प्रसर होता है—अपने संचय के स्थान से शरीर में फैलने की उन्मुखता होती है । यह प्रसर वैसा ही होता है, जैसे किण्व (संधान—बीच, खमीर), जल और पिष्ट (आटा) के समुदाय का हुआ करता है । यद्यपि ये दोष स्वयं अचेतन हैं तथापि गतिमान् होने से वायु उनके प्रसरण में निमित्त होता है । कारण, वायु रजोगुण—भूयिष्ठ (रजोबहुल) होता है और यह रजोगुण (शारीर या बाह्य) सर्ब पदार्थों का प्रवर्तक (अपनी–अपनी क्रिया में प्रेरित करनेवाला) होता है ।

इसी अवस्था को उदाहरणान्तर से समझाते हुए तन्त्रकार पुनः कहते हैं —

यथा महानुदकसंचयोऽतिवृद्धः सेतुमवदायपिरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति, एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ता शोणितसहिता वाऽनेकधा प्रसरन्ति ।

तद्यथा—

वातः, पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं वातपित्ते, वातश्लेश्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ, वातशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि, वातश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानि—इत्येवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति ॥

—जैसे कोई बड़ा जलाशय अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो जाए तो पाली (बाँध) को तोड़कर (और समीप में अन्य) जलाशय हो तो उसके साथ संयुक्त हो चारों ओर प्रसृत हो जाता है, ऐसे ही दोष कभी अकेले, कभी दो–दो, कभी तीनों और कभी रक्त के साथ संयुक्त हो अनेक प्रकार से प्रसृत होते हैं ।

—इस प्रकार इनका पन्द्रह प्रकार से प्रसर होता है । जैसे–वात, पित्त, कफ, रक्त, वात–पित्त, वात–कफ, पित्त–कफ, वात–रक्त, कफ–रक्त, वात–पित्त–रक्त, वात–कफ–रक्त, वात–पित्त–कफ और वात–पित्त–कफ–रक्त ।

इन्हीं दोषों में किसी का कोप, किसी का क्षय, किसी का साम्य और इनके कोपादि के तर-तम भाव को दृष्टिगत रख दोषों के संयुक्तासंयुक्त प्रसर के तिरसठ भेद किये गये हैं । इनका संक्षेप आगे कहा है । विस्तार निदान—ग्रन्थों में देखना चाहिए ।

—संयुक्त रसों का संयोग दो प्रकार का होता है—संयोग से तथा समवाय से । एक–एक या अधिक रसवाले अनेक द्रव्यों के मेल से जब अनेक रसात्मक योजना होती है तो इस संयोग को संयुक्त रस कहते हैं । जैसे, सैन्धव और तक्र[1] का संयोग होने से मधुर, अम्ल, लवण और कषाय रसों का संयोग होता है । संयुक्त रसों के दूसरे प्रकार में अनेक रस उत्पत्ति–समकाल एक ही द्रव्य में संयुक्त होते हैं । एक ही द्रव्य में गुणों के अवस्थान (विद्यमानता) के लिए समवाय संज्ञा शास्त्र–प्रसिद्ध है । समवाय से संयुक्त रसों के संयोग का उदाहरण पूर्वोक्त रसोन लहसुन है । इसमें मधुर, लवण, कटु, तिक्त और कषाय पञ्च रस होते हैं । शिवा (हरीतकी)[2] और धात्री फलआमलक–मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त और कषाय–इस प्रकार पञ्चरसात्मक होते हैं ।

—(विदग्ध शब्द के जला हुआ एवं जिसका प्राकृत या विकृत अम्लपाक हुआ है । ऐसा द्रव्य —ये दो अर्थ प्रसिद्ध हैं । यहाँ[3], विदग्ध शब्द 'संयुक्त' अर्थ में आया है । कारण, धातुएँ अनेकार्थक हैं । नाम, पाणिनि आदि वैय्याकरणों के बनाए धातुपाठों में इनके जो अर्थ निर्दिष्ट हैं, उनसे भिन्न अर्थ भी इनके होते हैं, यह सिद्धान्त है ।

एकैकेनानुगमनं भागशो यदुदीरितम् ।
दोषाणां, तत्र मतिमांस्त्रिषष्टिं तु प्रयोजयेत् ॥ —सू० उ० ६३।५

XX भागशः अंशांशतया । XX मतिमानूहापोहविद् वैद्यः। XX मतिमानिति पदाद्यादृशा एव हीनाधिकभावेन दोषाणां भेदास्तादृशा एव रसभेदा योज्या इति सूचयति ॥ **—डल्हन**

आगे (छियासठवें दोषभेदीय नामक अध्याय में) बताया है कि दोष (रोग उत्पन्न करते हुए) अंशाशतः (हीन, हीनतर, वृद्ध, वृद्धतर आदि प्रकारों से) अन्य दोषों का अनुगमन करते हैं — उनसे मिलते हैं । ऊहापोह–कुशल वैद्य का कर्त्तव्य है कि दोषों ने जिस प्रकार हीनाधिक भाव से परस्पर संयुक्त होकर रोग को उत्पन्न किया है, उसे नास प्रत्येक दोष के प्रकोप के स्वरूप

१—सैन्धवान्विततक्रादिकं मधुराम्ललवणकषायम् ॥ —डल्हन

२—हरीतकीधात्रीफलादिकं मधुराम्लकटुतिक्तकषायम् । रसोनादिकं मधुरलवण कटुतिक्तकषायम् । —डल्हन

रस—भेदों के शेष उदाहरण टीकाओं में तथा द्रव्यगुण शास्त्र के ग्रन्थों में देखने चाहिए ।

३—**विदाह**—तीन अवस्थाओं में द्वितीय, जो आमाशय में होता है, वह प्राकृत विदाह है । पित्त—प्रधान विदग्धाजीर्ण नामक अजीर्ण—विशेष, जिसमें वैकारिक अम्ल द्रव्य उत्पन्न होते हैं, वह विकृत विदाह है । विद्यार्थी उभयविध विदाहों का विवरण क्रियाशारीर तथा, निदान के ग्रन्थों में देखें ।

को दृष्टि में रखकर उसी परिमाण में विरुद्ध गुणवाले तत्तद् रस वाले एक या अनेक द्रव्यों की योजना करें ।

आगे इसी अध्याय में संयुक्त हुए द्वि; त्रि आदि रसों के भेदों का नामतः निर्देश कर उपसंहार में पुनः तन्त्रकार कहता है —

एषा त्रिषष्टिर्व्याख्याता रसानां रसचिन्तकैः ।

दोषभेदत्रिषष्ट्यां तु प्रयोक्तव्या विचक्षणैः ॥ —सु० उ० ६३।१७

—रसचिन्तकों ने रसों के तिरसठ भेद इस रीति से बताये हैं । दोषों के संयोगज तिरसठ भेदों में अर्थात् उनका प्रकोप होने पर विचक्षण वैद्यों को इनका प्रयोग करना चाहिए ।



विकाराणामसंख्येयत्वम

दोषों और रसों के विषय में जो आयुर्वेदीय मन्तव्य ऊपर दर्शाया है, उससे सिद्ध है कि वैद्य की मति दोषों के प्रत्येक गुण का सूक्ष्म अवगाहन करने वाली होनी चाहिए । दोषों के गुणों के ऊहापोह (अंशांशकल्पना) द्वारा प्रत्येक दोष के प्रत्येक गुण के कोप, क्षय या साम्य का निदान कर तदनुरूप रस का उपयोग करना चाहिए और इस प्रकार :—

दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः वृद्धा निर्हर्तव्याः, समाः परिपाल्या इति सिद्धान्तः ॥

—सू० चि० ६३।३

—दोष क्षीण हों तो उनका बृंहण (वे समावस्था में आएँ तब तक वृद्धि) करनी चाहिए, कुपित हों तो प्रशमन करना चाहिए, अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हों तो संशोधन करना चाहिए और सम हों तो उनके साम्य का परिरक्षण करना चाहिए, यह सिद्धान्त है ।

दोषों के विषय में यह तथा अन्य सामान्य नियम इस प्रयोजन से बताए जाते हैं कि, तत्तत्कारणवश रोगों की गणना अशक्य है । परन्तु यह कहा जा सकता है कि कौन–सा दोष किस स्थिति में है और उसके लिए कैसा उपचार करना चाहिए । इस विषय के कतिपय आयुर्वेदीय सूत्र देखिए—

xx विकाराः पुनरसंख्येयाः, प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतन-विकल्पविशेषापरिसंख्येयत्वात् ॥

—च० सू० २०।३

xx पुनरिति वक्ष्यमाणप्रकारान्तरेण । प्रकृतिः प्रत्यासन्नं कारणं वातादि । अधिष्ठानं दूष्यम् । लिङ्गानि लक्षणानि । आयतनानि बाह्यहेतव दुष्टाहारचाराः । एषां विकल्परूपो विशेषो विकल्पविशेषः । तेषामपरिसंख्येयत्वादिति ॥

अत्र दोषाः संसर्गांशांशविकल्पादिभिरसंख्येयाः । दूष्यास्तु शरीरावयवा अणुशः परस्परमेलकेन विभज्यमाना असंख्येयाः । लिङ्गानि कृत्स्नविकारगतान्यसंख्येयान्येव, आविष्कृतानि तु तन्त्रे कथितानि । हेतवश्चावान्तरविशेषादसंख्येयाः, प्रव्यक्ता एव । x x x ॥

—चक्रपाणि

—(यों रोगों के निज, आगन्तु आदि भेद बताए गए हैं) तथापि आगे कहे प्रकारान्तर से ये रोग अपरिसंख्येय (अगण्य) होते हैं । तथाहिः प्रकृति, अधिष्ठान, लिङ्ग और आयतन इनके भेद–विशेषों के अपरिसंख्येय होने से (इनसे उत्पन्न होते) रोग भी अपरिसंख्येय होते हैं ।

—यहाँ प्रकृति का अर्थ है रोगोत्पत्ति में प्रत्यासन्न (निकट, साक्षात्) कारणभूत प्रकुपित हुए वातादि दोष । दोषों से संसर्ग (परस्पर मेलक) तथा अंशांशविकल्प के अपरिसंख्येय होने से उनकी अवस्थाएँ भी असंख्य होती हैं ।

—अधिष्ठान का अर्थ है रोग के आश्रयभूत दूष्य (धातु-उपधातु तथा मल; अन्य शब्दों में शरीरावयव) । शरीरावयव जिन अणुओं[1] के परस्पर मेल से बने हैं उनका विभाजन किया जाए (उनको दृष्टि में रखा जाए) तो वे असंख्य होते हैं । सो, रोग किसी भी अणु[2] में अवस्थित होना संभव होने से रोग भी तदनुरूप असंख्य होते हैं ।

अन्यत्र भी **चरक** ने कहा है—

त एवाऽपरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि ।
रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः ।।
व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेषु संग्रहः ।
तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते ।। —च० सू० १८।४२–४३

समुत्थानभेदा हेतुभेदाः, रूक्षभोजनरात्रिजागरणादिभिन्नहेतुजन्यो हि वातो भिन्नोपक्रमसाध्यश्च भवतीति भावः । स्थानभेदा आमाशयादयो । रसादयश्च । सस्थानमाकृतिः, यथा गुल्मार्बुदादिः । नामभेदो यथाएकस्मिन्नव राजयक्ष्मणि राजयक्ष्मणशोषादिसंज्ञा ।।

नन्वेवमपरिसंख्येयत्वे कथं व्यवहार इत्याह-व्यवस्थेत्यादि । व्यवस्थाकरणं चिकित्साव्यवहारार्थ संख्याकथनम् । यथास्थूलेष्विति ये ये स्थूला उदरमूत्रकृच्छ्रादयस्तेषु । संग्रहोऽष्टोदरीयरोगसंग्रहे इत्यर्थः ।।

अस्थूलेषु विकारेषु अष्टोदरीये संज्ञयाऽनुक्तेषु कथंव्यवस्थाकरणमित्याहतथेत्यादि । प्रकृतिसामान्यं सामान्यकारणता । तेनाऽनुक्तेषु साक्षाद् व्याधिषु वातजोऽयं, श्लेष्मजोऽयमिति, रसजोऽयं तथा रक्तजोऽयमित्यादिकी चिकित्साव्यवहारार्थ व्यवस्था कर्तव्येति भावः । अत एवाष्टोदरीये वक्ष्यति "सर्वे विकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते" (च० सू० १९।५) इति ।। —**चक्रपाणि**

—वेदना, वर्ण[3], कारण, स्थान, संस्थान (आकृति) और नाम इनकी भिन्नता के कारण यही रोग असंख्य होते हैं । तथापि व्यवहार के लिए स्थूल

१—यहाँ तथा अन्यत्र चरक में आया अणु शब्द अधुनिकों के कोषों (Cells—सेल्स) का स्मरण करता है ।

२— अणु (कोष) जिस अवयव का है उनके भेद से रोग भिन्न होना स्वाभाविक ही है । ग्रहणी के अणु का विकार होने से कोई रोग होगा, अग्न्याशय (पैनक्रियास) से अणु की विकृति से कोई, हृदय की विकृति से कोई । एवं, एक ही अवयव के अणु में दोष–भेद से तथा एक ही दोष के भी विषम हुए गुण–विशेष के कारण तथा वैषम्यवश व्यक्त हुए कर्म के भेद–वश रोगों का भिन्न–भिन्न होना स्वाभाविक है । इस विषय का विस्तार विद्यार्थी अन्यत्र देखेंगे ।

३—तोद–भेद आदि वेदनाएँ तथा स्याव (सलेटी रंग)–अरुण वर्ण वात–प्रकौपवश होते हैं; गौरव (भारीपन; Sense of heaviness–सेन्स ऑफ हेवीनेस Sense

(प्रायः देखे जाने वाले तथा स्पष्ट लक्षणों वाले बड़े–बड़े) रोगों का संग्रह (नामादिनिर्देश) किया जाता है तथा रोग के कारणभूत दोषों को सामान्य बताया जाता है—उनके समान लक्षण बताए जाते हैं। (जिससे शास्त्र में उक्त लक्षणों के समान लक्षण किसी अनुक्त रोग में देखे जाएँ तो लक्षणों के साम्य से उसके दोष की कल्पना कर लेनी चाहिए)।

—इस पद्य–द्वय की व्याख्या करता चक्रपाणि कहता है—ससुत्थान नाम कारण–भेद से रोग भिन्न होते हैं। यथा—एक ही वात का प्रकोप रूक्ष भोजन तथा रात्रिजागरण से और हेत्वन्तरों से भी होता है। भिन्न हेतु से प्रकुपित वात का उपचार भी भिन्न होता है। (रूक्ष भोजन से कुपित वात में स्निग्धोपचार ही विधेय है। तथा रात्रि–जागरणोत्थ वात की चिकित्सा दिवा–स्वप्न से ही करनी चाहिए, इत्यादि)।

—स्थान–भेद का अर्थ है आमाशयादि स्थानों किंवा रसादि दूष्यों की भिन्नता (जिनमें स्थानसंश्रय कर दोष ने रोग उत्पन्न किया है)।

—संस्थान का अर्थ है आकृति। यथा गुल्म, अर्बुदादि आकृति–भेद रोगों की भिन्नता का हेतु है।

नाम–भेद से रोगों की भिन्नता जैसी होती है। यथा—एक ही राजयक्ष्मा के राजयक्ष्मा, शोषप्रभृति नाम दिए जाते हैं।

—इस प्रकार रोग असंख्येय हैं तो (उनका विद्यार्थी को ज्ञापन कैसे हो ? साथ ही) चिकित्सा में व्यवहार कैसे हो ? इस प्रश्न का उत्तर देते तन्त्रकार कहते हैं—चिकित्सा–व्यवहारार्थ स्थूल रोगों का संग्रह अर्थात् (नाम और) संख्या के रूप में कथन अष्टोदरीय नामक अध्याय (च० सू० २६) में किया गया है। साथ ही प्रत्येक दोषज और धातुज रोग के समान कारण बता दिए हैं। इन लक्षणों को देखकर कोई शास्त्र में अनुक्त अतएव अपरिचित (अपूर्व) रोग चिकित्सक के व्यवसाय में दृग्गोचर हो तो वह लक्षण देखकर यह तो निदान कर ही सकता है कि, वह रोग वातज है या श्लेष्मज या रसज है या रक्तज इत्यादि।

—दोषों की इस नियत–कारणता को दृष्टि में रखकर ही अष्टीदरीय अध्याय में कहा है —

सर्वे विकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते ॥ —च० सू० १६।५

—रोग मात्र वात, पित्त और कफ को छोड़कर (उनके बिना) उत्पन्न नहीं होते।

---

of weight—सेन्स ऑफ वेट; तथा भार में वृद्धि एवं मानसिक भारीपन) आदि वेदनाएँ तथा श्वेत वर्ण कफ–प्रकोपवश एवं ओष–चोष–दाह आदि वेदनाएँ और नीलपीतप्रभृति वर्ण पित्तप्रकोपज होते हैं।

इसी विषय की अधिक स्पष्टता से अत्रिपुत्र ने अधोलिखित प्रकरण में कहा है । तथाहि—

तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वात् । दोषाःखलु परिसंख्येया भवन्त्यनतिबहुत्वात् । तस्माद्यथाचित्रं विकारानुदाहरणार्थमनवशेषेण च दोषान् व्याख्यास्यामः ॥ —च० वि० ६।५

XX यथाचित्रमिति यथाविन्यासम् । तेन यानेव पूर्वाचार्या विकारानधिकतमत्वेनोक्तवन्तस्तानेव व्याख्यास्यामः । न तु सर्वान् अशक्यत्वात् ।

अनवशेषेण च दोषानित्यनेन दोषा अनतिबहुत्वेनानवशेषेणाप्यभिधातु शक्यन्त इति प्रकाशयति ॥ —**चक्रपाणि**

—लोग अति बहुसंख्यक होने से अपरिसंख्येय हैं । परन्तु दोषों की संख्या बहुत न होने से वे संख्येय हैं—उनकी संख्या (गणना) की जा सकती है । अतः प्राचीन आचार्यों ने अधिकतम देखे जाने के कारण जिन रोगों का विवरण किया है उन्हीं का उदाहरण रूप से विवरण हम भी करेंगे । परन्तु दोषों का विवरण साकल्येन (संपूर्णतया) किया जाएगा । सर्व रोगों का विवरण आशक्य होने से नहीं करेंगे ।

आगे रोगों की इस असंख्येयता को ही समझाते तन्त्रकार कहते हैं—

प्रकुपितास्तु खलु ते प्रकोपणविशेषाद्दूष्यविशेषाच्च विकारविशेषानभिनिर्वर्तयन्त्यपरिसंख्येयान् ॥ —च० वि० ६।७

—ये दोष प्रकुपित हो प्रकोपक कारण के भेदवश तथा दूष्य (धातु, उपधातु, मल तथा स्थान) के भेद के कारण असंख्य विकारों को उत्पन्न करते हैं ।

इसी प्रकार में आगे **चरक** कहता है—

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ।
स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून् ॥
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च ।
समुत्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत् ॥
यो ह्येतत्त्रितयं ज्ञात्वा कर्माण्यारभेते भिषक् ।
ज्ञानपूर्व यथान्यायं स कर्मसु न मुह्यति ॥ —च० सू० १८।४५-४७

स्थानान्तरगतश्चेत्यत्र चकार एकस्थानगतोऽपि बहुविकारं करोतीति समुच्चिनोति । यतो वक्ष्यति —''करोति गलमाश्रितः । कण्ठोद्ध्वंसं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्'' । (च० चि० ८।१६) इति । अधिष्ठानान्तराण्याशयान्तराणि । ज्ञानपूर्वमिति चिकित्साज्ञानपूर्वकम् । यथान्यायं यथागमम् ॥ —**चक्रपाणि**

—एक ही कुपित दोष कारण के भेद से तथा स्थानान्तर पर गया हुआ, नाम स्थान के भेद से, अनेक रोग उत्पन्न करता है। एक ही स्थान पर रहता हुआ भी नानाविध रोग उत्पन्न करता है। यथा, राजयक्ष्मा के अधिकार में कहा है कि कुपित वायु गल (और कण्ठ) में स्थित हो कण्ठोद्ध्वंस, कास, स्वरभेद तथा अरोचक (अरुचि) को उत्पन्न करता है। (ऊपर घृत टीका में कहा है कि, 'चकान' से यह बात समुच्चित है)।

—अतः विकारों की **प्रकृति** (आरम्भक दोष), अधिष्ठान (आशय, दूष्य तथा स्थान) एवं कारण–विशेषों को जानकर (तदनुरूप) चिकित्सा करें।

—जो वैद्य इन तीनों को बुद्धि में रखकर चिकित्साज्ञानपूर्वक तथा शास्त्रानुसार चिकित्सा करता है वह मोहाविष्ट (किंकर्तव्यविमूढ़) नहीं होता।

अनुक्तानां रोगाणामुपचार–प्रकारः

ऊपर दिए वक्तव्य से स्पष्ट है कि अशक्य होने से पूर्वाचार्यों ने समस्त रोगों का नामरूपतः निर्देश किया है। परिणामतया चिकित्सा–व्यवसायकाल में कभी ऐसा भी रोग उपस्थित हो सकता है, जिसके निदान, लक्षण और चिकित्सा का सुस्पष्ट ज्ञान चिकित्सक को होते हुए भी वह उसका नामतः निर्देश रोगी या उसके स्वजन परिजनों के समक्ष न कर सके। इस स्थिति से लज्जित होने की कोई आवश्यकता चिकित्सक को नहीं।

तथाहि—

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन्।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥ —च० सू० १८।४४

ज्वररक्तपित्तादिवन्नामाज्ञानेऽपि वातादिजन्यत्यज्ञानेनैव प्रचरितव्यमित्याह-विकारेत्यादि। एवं मन्यते —यद्वातारब्धत्वादिज्ञानमेव कारणं रोगाणां चिकित्सायामुपकारि। नामज्ञानं तु व्यवहारमात्रप्रयोजनार्थं न स्वरूपेण चिकित्सायामुपकारीति॥ —**चक्रपाणि**

—चिकित्सक को ज्वर, रक्तपित्तादि रोगों के नामों के सदृश किसी रोग का नाम विदित न हो तो इससे लज्जित नहीं होना चाहिए। कारण, सर्व रोगों की नाम से विद्यमानता निश्चित नहीं है —जितने रोग भूतल पर विद्यमान हैं या होंगे उनका नाम से निर्देश हो सके यह निश्चित नहीं। अतः—

—रोग वातादि दोषों से उत्पन्न है इतने ज्ञान से ही चिकित्सा-व्यवहार करना चाहिए। वातादि दोषों से रोगों के उत्पन्न होने का ज्ञान ही चिकित्सा में उपकारी है। नाम–ज्ञान का प्रयोजन तो केवल व्यवहार (चर्चा) है, वह स्व–रूप से चिकित्सा में उपयोगी नहीं है[1]।

१—पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र से यह आयुर्वेद का एक भेद है। आयुर्वेद में नाम को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र में नामकरण का प्रचार बहुत है। यथा, नासिका में अंगुली फिराने से रक्तस्राव (नकसीर) हो तो

इसी बात को सुश्रुत ने और भी विशद पदों में कहा है । तथाहि—

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः ।

अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥ —सु० सू० ३५।१६

व्याधीनामानन्त्याद्दोषभेदेनानुक्तस्य व्याधेर्दोषव्यपेक्षाचिकित्सार्थम् xxx आह—नास्तीत्यादि x x ॥ **—डल्हण**

—रोगों के अनन्त से कई रोग अनुक्त हैं—शास्त्र में उनका नाम–रूपतः निर्देश नहीं किया गया । उनकी भी चिकित्सा दोष–भेद से —दोष को दृष्टि में रखकर–करें । कारण, कोई रोग दोष के बिना होता नहीं । अतः, विचक्षण वैद्य शास्त्र में अनुक्त (अपठित) भी रोग की चिकित्सा दोषों के चिह्नों से—दोषों के चिह्नों को चित्त में रखकर—करें ।

अन्यत्र चिकित्सा–स्थान का उपसंहार करते हुए अत्र पुत्र ने भी कहा है—

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरूपतः ।

तेषामप्येतदेव स्याद्दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम् ।

दोषदूष्यनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम् ।

उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तं नियच्छति ॥

—च०चि० ३०।२६१–६२

x x दोषादीनि दोषोभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयांसि सूत्रस्थानोक्तानि ॥

x x दोषा वातदयः, दूष्याणि रक्तादीनि निदानानि रूक्षादीनि एषां व्यस्तानां समस्तानां वा यद्विपरीतम् । हितमिति भेषजम् । xxx । दोषादीनां ग्रहणाद् दोषदूष्यसमुदायात्मा व्याधिरपि लभ्यते । तेन व्याधिविपरीतमणि भेषजमवरुद्धम् xx ॥

—चक्रपाणि

—रोग बहुसंख्यक होने से जिन रोगों का नाम–रूपतः निर्देश नहीं हुआ है उनको भी यही औषध दोष, औषध देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य सत्त्व (मनोबल) प्रकृति और वय इनकी परीक्षा करके देना चाहिए ।

—वातादि दोष, रक्तादि दूष्य तथा रूक्ष–सेवा आदि निदान एवं दोष-दूष्य का समुदाय रूप व्याधि पृथक् या समस्त इन सबके विपरीत जो

उसके लिए नाम है— एपीस्टेक्सिस डिजिटेटा (Epistaxis Digitata—अंगुलीजन्य नकसीर) ; वात–प्रकृति पुरुष मिथ्याभाषणशील हो तो, उसके लिए नाम है—सू-डो-लॉजिआ फेटेस्टिका (Pseudologice Fantastica); शल्यहर्ता को शस्त्रकर्म का बहुत शौक हो तो, उसके लिए नाम है—टॉनोमेनिआ (Tonomania) इत्यादि ।

भी हो वही निश्चित भेषज होता है । ऐसा भेषज सम्यग्योग–युक्त हो तो उक्त–अनुक्त सर्व रोगों को शान्त करता है ।

न योगैरेव केवलम्

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आयुर्वेद–मत से उपचार में दोषादि को देखकर प्रत्येक व्यक्ति के लिए पृथक् ही औषध–योजना होनी चाहिए । नुस्खेबाजी–अमुक रोग के लिए अमुक रोग–आयुर्वेदाभिमत परिपाटी नहीं है । यही बात अब तन्त्रकार के वचनों में देखिए—

योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति ।

वयोबल—शरीरादिभेदा हि वहवो मताः ॥

तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः ।

कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम् ॥

—च० चि० ३०।३२०–३२६

XX आदिशब्देन प्रकृतिसत्त्वादीनां ग्रहणम् । यस्माद्वयोबलादिभेदः बहवश्चिकित्सापेक्षणीयाश्चिकित्सकानां मताः सन्ति, तस्माद्देशादिनिरपेक्षा चिकित्सा क्रियमाणा न ईप्सितं साधयतीति भावः । XX निरूहप्रस्तावे यानि दोषौषधादोनि दश निर्दिष्टानि "समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वौकवयोबलानि" (च० चि० ६।३) इत्यनेन तान्येवात्र दश गृह्यन्ते ॥

xx शरीरस्य प्रकृतेश्च देशशब्देन भूम्यातुरग्राहिणा ग्रहणम् । उक्तं हि—"देशो भूमिरातूरश्च (च० चि० ८।६२ इति" । आहारस्य तु सात्म्यग्रहणेनैव ग्रहणम् । विमाने च यो द्वादशो विकारः पठितः, स दोषग्रहणगृहीतः xx ॥

—**चक्रपाणि**

—देश आदि का ज्ञान न रखने वाला—देशादि को चिकित्साकाल में दृष्टि में न रखने वाला; और केवल योगों (नुस्खों से चिकित्सा करने वाला वैद्य अपराधी—अपने लक्ष्य से च्युत —होता है । कारण, वय, बल, शरीर, प्रकृति, सत्त्व आदि बहुत–सी बातें चिकित्सा में अपेक्षणीय (द्रष्टव्य) हुआ करती हैं । इनसे निरपेक्ष (इनकी अपेक्षा–इनका ख्याल–न करके की गयी) चिकित्सा अभीष्टसाधक नहीं होती है । अतएव—

—दोष, औषध, देश, काल, सात्म्य, अग्नि, सत्त्व, ओक (अभ्यास–सात्म्य, व्यसन), वय और बल इन दश की यथातथ परीक्षा कर बुद्धिशाली वैद्य को चिकित्सा करनी चाहिए । केवल योगों से नहीं ।

यहाँ भूमि और आतुर (रोगी) इन दोनों के वाचक देश शब्द से रोगी का शरीर और प्रकृति इनका भी ग्रहण है । आहार का ग्रहण सात्म्य शब्द करना चाहिए । विकार अथवा रोग का ग्रहण दोष शब्द से करना चाहिए : इस प्रकार शास्त्र से अन्यत्र जो अन्य परीक्षणीय भाव कहे हैं उनका निर्देश इन दश से ही हो गया समझना चाहिए ।

योगों के विरुद्ध आचार्य की यह घोषणा देखिए और दूसरी ओर योगों (नुस्खों) की शोध में लीन आज के वैद्य–समाज पर दृष्टिपात कीजिए । आयुर्वेद के मूल वचनों को देखने से स्पष्ट जाना जा सकता है कि रोग पूर्णतया समझना, समझ कर उसके लिए सर्वतोभाव से विचार कर औषध–-निर्णय करना यही आयुर्वेद है । अमुक दवा से अमुक रोग अच्छा होता है इतना कहना और मानना आयुर्वेद नहीं है । कदाचित् इस प्रकार विचार किए बिना कोई औषध व्यवसाय में फलवती देखने में आए तो पीछे से भी उसकी उत्पत्ति आयुर्वेद–मत से बैठानी चाहिए कि कैसे इस औषध ने कार्य किया होगा ? इस प्रकार का विवरण हमारे पास हो तभी हम विशेषतया विद्यार्थी–समाज के हृदय में विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं ।

प्रकरण का उपसंहार करते आयुर्वेद के इस सिद्धान्त के प्रति विद्यार्थी का चित्त आकृष्ट कर दूँ कि प्रकृति आदि का विचार करते हुए रोगों के इस आनन्त्य के कारण कह सकते हैं कि जितने रोगी उतने ही रोग हैं । नाम, प्रत्येक रोगी का रोग एक स्वतन्त्र वस्तु होता है, जिसके निदान–लक्षण–चिकित्सा का सर्वथा स्वतन्त्र रूप से विचार करना उचित होता है । अतः आयुर्वेद का मन्तव्य है—

पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य ॥ —च० सू० १।१२३

—प्रत्येक पुरुष की परीक्षा और औषधादि की योजना पृथक् होनी चाहिए ।

दोषों के महत्त्व को देखते उनके विवरण का विशद ज्ञान आवश्यक है, यह अब तक के विवेचन से स्पष्ट है । पाठ्य–क्रम के प्रसंग से विद्यार्थी उसका ज्ञान प्राप्त करेंगे ही । यहाँ भूमिका रूप में चरक के सूत्रस्थान का द्वादश अध्याय उद्धृत करता हूँ, जिससे विद्यार्थी को विदित हो जाए कि प्राकृत कर्म तथा रोगोत्पादन दोनों दृष्टियों से प्रत्येक दोष का महत्त्व समान है । इस अध्याय से विद्यार्थियों को एक अन्य उदाहरण इस बात का मिलेगा कि प्राचीन काल में संभाषाएँ (शास्त्रचर्चा–परिषदें) हुआ करती थीं । अस्तु, अब वह अध्याय मूल ग्रन्थकार के वचनों में देखिए ।



वातकलाकलीयोऽध्यायः

अथातो वातकलाकलीयमध्यायं व्याख्यास्यामं । इति हि स्माह भगवानात्रेयः
—च० सू० १२।१-२

—अब वात कलाकलीय अध्याय का उपदेश करेंगे, जैसा कि भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ने कहा है ।

अध्याय के नाम की व्याख्या करेता हुआ चक्रपाणि कहता है—

xx कला गुणः । यदुक्तम्—'षोडशकलम्' (च०सू०१०।३) इति । अकला गुणविरुद्धो दोषः । तेन वातकलाकलीयो वातगुणदोषीय इत्यर्थः । यदि वा कला सूक्ष्मो भागः, तस्यापि कला कलाकला, तस्यापि सूक्ष्मो भाग इत्यर्थः ।

—कला का अर्थ है गुण । औषध को जो षोडशकल कहा है उसमें कला शब्द का यही अर्थ है । (दूसरे शब्द) अ—कला का अर्थ है गुण विरोधी नाम दोष । सो, वातकलाकलीय का अर्थ हुआ—वह अध्याय जिसमें वात के गुण और दोष (प्राधान्येन) उल्लिखित हों । यद्वा, कला का अर्थ है, सूक्ष्म भाग । उसकी भी कला नाम सूक्ष्मांश को कहेंगे कलाकला । (सो, वात के सूक्ष्म और सूक्ष्मतम अंशों का प्रतिपादन जिसमें हो उस अध्याय का नाम है–वाताकलाकलीय अध्याय) ।

वातकलाकलाज्ञानमधिकृत्य परस्परमतानि जिज्ञासमानाः समुपविश्य महर्षयः पप्रच्छुरन्योन्यम्—

किंगुणो वायुः, किमस्य प्रकोपणम्, उपशमनानि वाऽस्य कानि, कथं चैनमसङ्घातमनवास्थितमनासाद्य प्रकोपणप्रशमनानि प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा, कानि चास्य कुपिताकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरत कर्माणि बहिः शरीरेभ्यो वेति ॥
—च० सू० १२।३

XX असंघातमिति पित्तश्लेष्मवदवयवसंघातरहितम् । अनवस्थितमिति चलस्वभावम् । अनासाद्येति चलत्वेनानिविडावयत्वेन चेति मन्तव्यम् ॥ —**चक्रपाणि**

—वातकलाकला के विषय में एक-दूसरे का मत जानने की इच्छा रखते हुए महर्षियों ने समवेत हो परस्पर प्रश्न किया—

—वायु किन गुणोंवाला है, इसके प्रकोपक कौन हैं, एवं इसके शामक कौन हैं, अथच पित्त और श्लेष्मा के सदृश वायु के अवयवों का संघात (निबिडता) नहीं है (वह प्रसरण शील है[1]), साथ ही वह अस्थिर–चल–हैं, ऐसी स्थिति में उसे प्राप्त किए बिना कैसे प्रकोपक पदार्थ प्रकुपित तथा शामक

१—भौतिक शास्त्र में वायु-रूप द्रव्यों का एक स्वभाव डिफ्युझन बताया है । इसका अर्थ है कि उनका आयतन निश्चित नहीं रहता उनको जिस पात्र या अवकाश में रखा जाय उतना ही उनका आयतन (वॉल्यूम) हो जाता है । असंघात शब्द से यही स्वभाव बताया गया है ।

पदार्थ शान्त कर सकते हैं । शरीर में तथा शरीर के बाहर विचरण करने वाले इसके कुपित और अकुपित (प्राकृत) दशा में शरीर में तथा शरीर से बाहर कौन कर्म हैं ?

वायोर्गुणाः प्रकोपणप्रशमनानि च

अत्रोवाच कुशः सांकृत्यायनः—रुक्षलघुशीतदारुणखरविशदः । षडिमे वातगुणा भवन्ति ॥ —च० सू० १२।३

रुक्षादयो भावप्रधानाः, तेन रुक्षत्वादयो गुणा मन्तव्याः । दारुणत्वं चलत्वम् । यदि वा दारुणत्वं शोषणत्वात् काठिन्यं करोति ॥ —**चक्रपाणि**

—इस पर सांकृत्यायंन कुश बोले–रुक्ष, लघु, शीत, दारुण, खर और विशद—में छ वात के गुण हैं ।

—(यहाँ तथा अन्यत्र प्रयुक्त हुए) रुक्ष आदि गुणवाचक शब्द भाव–प्रधान हैं, इससे रुक्ष इत्यादि शब्दों से रुक्षत्व इत्यादि गुणों का ग्रहण करना चाहिए ।

—दारुणत्व का अर्थ है—चलत्व । अथवा दारुणत्व का अर्थ है—वायु के शोषण स्वभाव के कारण काठिन्य ।

इस काठिण्य का परिणाम अन्यत्र चरक ने वर्त शब्द से बताया है । वर्त का अर्थ वर्तुलीभाव या पिण्डीभाव है । मलाशय में मल का, पित्ताशय तथा पित्तवह स्रोत में पित्त का, मूत्रयन्त्र में मूत्र का एवं रस–रक्त वह स्रोतों में रस–रक्त का वर्त होकर गुटिका (अश्मरी आदि) बनना प्रसिद्ध है ।

तत् श्रुत्वा वाक्यं कुमारशिरा भारद्वाज उवाच —

एवमेतद्यथा भगवानाह, एत एव वातगुणा भवन्ति । स त्वेवंगुणैर्द्रव्यैरेवंप्रभावैश्च कर्मभिरभ्यस्यमानैर्वायुः प्रकोपमापद्यते । समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम् ॥ —च० सू० १२।१४

xx एवं प्रभावैरित प्रभावाद्रौक्ष्यादिकारकैर्धाविनजागरणादिभिः । अभ्यस्यमानैरिति असकृत्प्रयुक्तैः ॥ —**चक्रपाणि**

—यह वाक्य सुन **कुमारशिरा भरद्वाज बोले**—भगवान् ने जो कहा, वह यथार्थ ही है । यही वात के गुण होते हैं । इन गुणों वाले द्रव्यों तथा इन प्रभाव वाले ये ही नाम रौक्ष्य आदि उत्पन्न करने वाले दौड़, जागरण आदि कर्मों (चेष्टाओं) का असकृत (बार–बार) अभ्यास या सेवन किया जाय, तो वायु प्रकोप को प्राप्त होता है । क्योंकि नियम है—

समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम् ॥

—समान गुणों का अभ्यास (निरन्तर सेवन) धातुओं की (धातुओं, उपधातुओं, दोषों और मलों की) वृद्धि का कारण है ।

तच्छ्रुत्वा वाक्यं कांकायनों बाह्लीकभिषगुवाच–एवमेतद्यथा भगवानाह एतान्येव वातप्रकोपणानि भवन्ति; अतो विपरीतानि वातस्य प्रशमनानि भवन्ति। प्रकोपणविपर्ययो हि धातुनां प्रशमकारणमिति ॥ —च० सू० १२।५

यह बचन सुन (इसका समर्थन करते हुए) बाह्लीक देश (पंजाब) के **वैद्य काङ्कायन** ने कहा—

—भगवान् ने जो कहा, सो सत्य है। ये ही द्रव्य–गुण–कर्म वात के प्रकोपक होते हैं और इनसे विपरीत (द्रव्य–गुण–कर्म) वायु के प्रशामक होते हैं। कारण प्रकोपक (द्रव्यादि) से विपरीत (द्रव्यादि) धातुओं के (दोष—धातु आदि के) प्रशम के कारण होते हैं।

वायोः प्रकोप–प्रशमकारिणां भावानां क्रियायाः स्वरूपम्

तत् श्रुत्वा वाक्यं बडिशो धामार्गव उवाच—एवमेतद्यथा भगवानाह, एतान्येव वातप्रकोपप्रशमनानि भवन्ति। यथा ह्येनमसंघातमनवस्थितमनासाद्य प्रकोपणप्रशमनानि प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा तदनुव्याख्यास्यामः ॥ —च० सू० २१।६

—इस वाक्य को सुन कर **बडिश धामार्गव बोले**—भगवान् ने जो कहा, वह सत्य ही है। यही द्रव्य, गुण, कर्म वायु के प्रकोपक और प्रशामक होते हैं। अब हम इस बात की व्याख्या करेंगे कि संघात–रहित और अस्थिर इस वायु को प्राप्त न करके (भी) किस प्रकार ये द्रव्यादि उसका प्रकोप और प्रशमन करते हैं।

वातप्रकोपणानि खलु रुक्षलघुशीतदारुणखरविशदशुषिरकराणि शरीराणाम्। तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं गत्वाऽऽप्यायमानः प्रकोपमापद्यते।

वातप्रशमनानि पुनः स्निग्धगुरुष्णश्लक्ष्णमृदुपिच्छिलघनकराणि शरीराणाम्। तथाविधेषु शरीरेषु वायुरसज्यमानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते ॥ —च० सू० १२।७

शरीराणामिति शरीरावयवानाम्। शुषिरकराणि रन्ध्रकराणि। आश्रयमिति समानगुणस्थानम्। आप्यायमानश्चीयमानः। असज्यमानोऽनवतिष्ठमानः क्षीयमानावयव इति यावत्।

एतेनैतदुक्तं भवति यद्यपि वायुना वातकारणानां वातशमनानां वा तथा संबन्धो नास्ति तथापि शरीरसंबद्धैस्तैर्वातस्य शरीरचारिणः संबंन्धो भवति। ततश्च वातस्य समानगुणयोगाद् वृद्धिर्विपरीतगुणयोगाच्च ह्रास उपपन्न एवेति ॥ —**चक्रपाणि**

—वात प्रकोपक द्रव्य शरीर के अवयवों में रुक्षता, लघुता, कठिनता, खरता, विशदता (पिच्छिल—विरोधी गुण) तथा शुषिरता (छिद्रयुक्तता) उत्पन्न करते हैं। (शरीर में) संचार करता हुआ वायु इस प्रकार के अवयवों में आश्रय प्राप्त करके वृद्धि को प्राप्त होता हुआ प्रकुपित होता है।

—इसके विपरीत वात के शामक द्रव्य शरीरावयवों को स्निग्ध; गुरु, उष्ण, श्लक्ष्ण, मृदु, पिच्छिल[1] और घन (निबिड अवयवयुक्त) करने वाले होते हैं । इस प्रकार के अवयवों में वायु संचार करता हुआ पहुँचता है, तो उसकी वहाँ संसक्ति नहीं हो सकती—वह वहाँ टिक नहीं सकता; परिणामतया उसके अवयव क्षीण हो जाने के कारण वह शान्ति को प्राप्त होता है ।

तात्पर्य, वायु के शामक या कोपक पदार्थों का शारीर वायु से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, तथापि शरीर के संग में आने पर शरीरचारी वायु से उनका सम्बन्ध होता है । वायु के समान रुक्षादि गुण जिन अवयवों में होते हैं उन अवयवों के साथ संयोग होने पर समान गुणों के योग से उसकी वृद्धि होती है; और विपरीत—स्निग्ध आदि गुणों वाले अवयवों के साथ संपर्क होने पर उसकी शान्ति होती है ।

तत श्रुत्वा वडिशवचनमवितथमृषिगणैरनुमतमुवाच वार्योविदो राजर्षिः —एवमेतत् सर्वमनपवादं यथा भगवानाह ॥ —च० सू० १२।८

—बडिश के इस सत्य और ऋषि–संघों से अनुमोदित वचन को सुन राजर्षि वार्योविद बोले–भगवान् ने यह जो कहा वह सर्व निर्दोष–सत्य–है ।

यानि तु खलु वायोः कुपिताकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि बहिः शरीरेभ्यो वा भवन्ति तेषामवयवान् प्रत्यक्षानुमानोपदेशैः साधियित्वा नमस्कृत्य वायवे यथाशक्ति प्रबक्ष्यामः ॥ —च० सू० १२।८

—शरीर में और शरीर से बाहर संचार करने वाले कुपित अथवा अकुपित (सम) वायु के शरीरों में संचार करते हुए अथवा शरीरों के बाहर जो कार्य होते हैं उनके अवयव मात्र को (एक देश को ही कुछ ही कर्मों को, कारण सबका उपदेश शक्य नहीं है) प्रत्यक्ष, अनुमान और उपदेश (आगम–प्रमाण) से सिद्ध करके और वायु को नमस्कार कर यथाशक्ति कहेंगे ।

प्राकृतस्य शरीरचरस्य वायोः कर्माणि

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः सन्धानकर शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, संशोषणो दोषाणाम्, क्षेप्ता वहिर्मलानां, स्थूलाणुस्त्रोतसां भेत्ता, कर्त्ता गर्भाकृतीनाम् आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः ।

१—पॉलिश की गई वस्तु का स्पर्श–गम्य गुण श्लक्ष्ण या मसृण कहलाता है । गोंद के पानी आदि में जो तन्तुमत्ता—गम्य गुण होता है उसे पिच्छिल कहते हैं । पके हुए फल, फोड़े आदि में जो पीडन से दबने का गुण होता है उसे मृदु कहते हैं ।

तन्त्र शरीरम् । यदुक्तम्—'तन्त्रयन्त्रेषु भिन्नेषु तमोऽन्त्यं प्रवि विक्षताम्' (च०इ०१२।४४) तदेव यन्त्रम् । उच्चावचानां विविधानाम् । नियन्ताऽनीप्सिते विषये प्रवर्तमानस्य मनसः । प्रणेता च मनस एवेप्सितेऽर्थे । उद्योजकः प्रेरकः । xx व्यूहकरः सन्धानकरो रचनाकर इति यावत् । प्रकृतिः कारणम् । श्रवणमूलत्वं वायोः कर्ण शष्कुलीरचनाविशेषे व्याप्रियमाणत्वात् उत्साहः कार्येषूद्योगो मनसः । योनिरभिव्यक्तिकारणम् । दोषसंशोषणः शरीरक्लेदसंशोषणः । भेत्ता, कर्त्ता,—एतच्च शरीरोत्पत्तिकाले । भूतशब्दः स्वरूपवचनः । **—चक्रपाणि**

—शरीरगत प्राकृत वायु शरीर—रूप यन्त्र का धारण करने वाला है । प्राण उदान, समान, व्यान और अपान—इन पाँच वायुओं के रूप में वह शरीर में रहता है । (यों वायु एक ही है, तथापि कर्म, स्थान और रोग—भेद से उसके ये पाँच भेद किए गये हैं, वह आयुर्वेद का सिद्धान्त अन्यत्र आचार्यों ने कहा है । नाम, वायु के कर्मादि के स्पष्टावबोध के लिए उसके ये पाँच कल्पित भेद किए गये हैं ।) वह विविध चेष्टाओं (उत्क्षेप आदि कर्मों) का प्रवर्तक—करानेवाला है । वह अनीप्सित (अनभीष्ट, अन्य शब्दों में अहितकर) विषय में प्रवृत्त होनेवाले मन का नियमन (नियन्त्रण) करता है[1] तथा ईप्सित (अभीष्ट) विषयों में उसे प्रवृत्त करता है । वह समस्त इन्द्रियों का प्रेरक है । वह सर्व ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का दहन करने वाला है —इन्द्रियों के विषयों का वहन कर इन्द्रियों के संसर्ग में ला उनका ज्ञान कराने वाला है । वह शरीर की सर्व धातुओं (और उपधातुओं) की रचना करने वाला है । वह शरीर का संधान करने वाला है— शरीर के षटकभूत परमाणुओं (कोषों) तथा अवयवों को एवं उनकी क्रियाओं को परस्पर जोड़ने वाला है । वह वाणी का प्रवर्तक है । वह स्पर्श और शब्द का कारण है । (स्पर्श—ज्ञान वायु से होता है । शब्द—ज्ञान का कारण आयुर्वेद तथा भारतीय दर्शनों के मत से वायु इस प्रकार है कि कर्ण शष्कुली में कर्ण के अन्दर की ओर स्थित गुहाकार भाग में स्थित वायु ही शब्द का वहन करता है) । वह श्रोत्रेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) का मूल—प्रधान कारण है । वह हर्ष और उत्साह का हेतु है । वह अग्नि का प्रदीपक है । वह दोषों का—शरीर के क्लेद का—(द्रव अंश का) शोषण करने वाला है । वह मलों को बाहर फेंकने—निकालने—वाला (और इस प्रकार सम अवस्था

१—चिकित्सा—व्यवसाय में मन पर वायु के इस प्रभुत्व को सदा स्मरण रखना चाहिए । मानस रोगों और जिन रोगों अंग्रेजी में हिस्टेरिक, न्यूरॉटिक आदि नाम देकर प्रत्याख्येय (त्याज्य) सा समझा जाता है, उनमें वायु को ही निमित्त समझ कर वस्ति, मल, वात, मूत्र तथा आर्तव का अनुलोमन प्रभृति उपचार करने चाहिए । प्रवृद्ध वायु मन को विक्षिप्त (चंचल, बेकाबू) कर तत्तत् लक्षण उत्पन्न करता है ।

इस विषय में हठयोगप्रदीपिका का यह पद्य स्मरणीय है—

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥

इन्द्रियों का स्वामी मन है और मन का स्वामी वायु है ।

में हो तो पूरीषादि मलों तथा कफ–पित्त और स्वयं अपने को समावस्था में रखने वाला, अतएव दोषों में प्रधानतया विचारणीय है । वह शरीर की उत्पत्ति के समय स्थूल और अणु (चौड़े तथा पतले) स्रोतों का भेदन करने वाला–उनके अन्तर्गत विवर (अवकाश) का निर्माण करने वाला है । वह गर्भ की आकृतियों का बनानेवाला है । वह आयु की अनुवृत्ति (सातत्य) का कारणभूत है । (जैसा कि ऊपर कहा है, ये सर्व कर्म अकुपित या प्राकृत शारीर वायु के हैं अब प्रकुपित हो जाने पर शरीर में वह क्या विकृति उंत्पन्न करता है, यह देखिए) ।

कुपितस्य शरीरचरस्य वायोः कतिचित् कर्माणि

कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति, बलवर्णसुखायुषामुपघाताय; मनो व्याहर्षयति ('व्यावर्तयति' इति पाठान्तरम्) , सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति; विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयत्यतिकालं वा धारयति; भयशोकमोहदैन्यप्रलापञ्जनयति; प्राणांश्चोपरुणद्धि ॥ —च० सू० १२।६

—वही वायु शरीर में जब कुपित होता है तो शरीर के बल (व्यायाम-कायिक आदि श्रम —करने की शक्ति एवं रोग–प्रतीकार शक्ति), वर्ण सुख (आरोग्य तथा मानस सुख) और आयु का विनाश करता हुआ उसे (शरीर को) नानाविध विकारों (रोगों) से पीड़ित करता है । तद्यथा —मन को हर्षरहित (पाठान्तर में—विक्षिप्त, चलित, उद्भ्रान्त, उन्मत्त–प्राय) कर देता है, सर्व (ज्ञान-कर्म)—इन्द्रियों को उपहत (शक्तिहीन) कर देता है; गर्भों को नष्ट कर देता है, विरूप बना देता है किंवा अतिकाल धारण करता है; शोक, मोह, दैन्य और प्रलाप को उत्पन्न करता है; तथा (एकादश) प्राणों को उपरुद्ध करता है ।

यही वायु शरीर के बाहर बाह्य प्रकृति में प्राकृत तथा विकृत दशाओं में कौन–सी क्रिया और विक्रिया करता है, यह अब तन्त्रकार की शब्दावली में देखिए, इन शब्दों को पढ़ते हुए सहज ही यह ध्यान में आ जायेगा कि जो वायु बहार है, वही अन्दर है, जो अन्दर है, वही बाहर है । इस सिद्धान्त से आयुर्वेद के वायु का स्वरूप समझने में, विशेषतया उसका नव्य मत में समन्वय करने में कुछ दीख पड़ेगा, ऐसी आशा है ।

प्रकृतिभूतस्य लौकिकस्य वायोः कर्माणि

प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोके चरतः कर्माणीमानि भवन्ति । तद्यथा-धरणीधारणम्, ज्वलनोज्ज्वालनम्, आदित्यचन्द्रनक्षत्रग्रहगणानां सन्तानगतिविधानम्, सृष्टिश्च मेघानाम्, अपां विसर्गः, प्रवर्तनं स्रोतसाम्, पुष्पफलानां चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भेदनं चौद्भिदानाम्, ऋतूनां प्रविभागः विभागो धातूनाम्, धातूमातनसंस्थानव्यक्तिः, बीजाभिसंस्कारः, शस्याभिवर्धनमविक्लेदोषशोषणम् अवैकारिकविकारश्चेति ॥

—च० सू० १२।१०

आदित्यादीनां सन्तानेनाविच्छेदेन गतिविधानं सन्तानगतिविधानम् । स्रोतसां नदीनाम् । धातूनामिति पृथिव्यादीनाम् । धातवः कार्यद्रव्याणि प्रस्तरादीनि; मानं परिमाणम्, संस्थानमाकृतिः, तयोर्व्यक्तिरभिव्यक्तिः, तत्र कारणमिति यावत् । बीजस्य शाल्यादेः, अभिसंस्कारोऽङ्कुरजननशक्तिः । अविक्लेदः पाककालादर्वागविक्लिन्नत्वम् उपशोषणं च पाकेन यवादीनामार्द्राणामेव; अविक्लेदोपशोषणे शस्थानामेव । अवैकारिकविकारेण सर्वस्मिन्नेव जगति प्रकृतिरूपे कारणत्वं ब्रूते ॥ —**चक्रपाणि**

—वायु प्रकृतिभूत (प्राकृत) अवस्था में लोक में संचार करता हो तो उसके अधोलिखित कर्म होते हैं —

—पृथिवी का धारण, अग्नि का उर्ध्व दिशा में ज्वालन; सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों और ग्रह—गणों की निरन्तर गति कराना; मेघों की उत्पत्ति, जल का उत्सर्जन (वर्षण), नदियों का प्रवाहण; पुष्पों और फलों का प्रादुर्भावन; औद्भिदों (वृक्ष—वनस्पतियों) का उद्भेदन (पृथिवी को भेद कर उगना), ऋतुओं का विभाजन, पृथिवी आदि धातुओं (भूतों) का विभाग (स्वरूप से पृथक् अवस्थिति), धातुओं (पृथिवी आदि भूतों के कार्य—द्रव्य—भूत पाषाणादि के परिमाण और आकृति का अभिव्यञ्जन (उनकी अभिव्यक्ति अर्थात् उत्पत्ति में कारण होना); शालिधान्य आदि के बीजों का अंकुरित होना; शस्यों (धान्यों) का अभिवर्धन; वे परिपक्व हों उसके पूर्व उनका क्लिन्न होने (सड़ने-गलने) से रक्षण तथा पाक होने के अनन्तर उनका शोषण; एवं इसके अतिरिक्त प्रकृति; (सृष्टि) के शेष सभी अवैकारिक (प्राकृत) विकार (कार्य द्रव्य; उनकी उत्पत्ति) ।

यही लौकिक वायु जब प्रकुपित होता है तो उसके कर्म निम्नोक्त होते हैं—

लौकिकस्य प्रकुपितस्य वायोः कर्माणि

प्रकुपितस्य खल्वस्य लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति । तद्यथा-शिखरिशिखरावमथनम्, उन्मथनमनोकहानाम्; उत्पीडनं सागराणाम्, उद्वर्तनं सरसाम्, प्रतिसरणमापगानाम्, आकम्पनं च भूमेः आधमनमम्बुदानाम्, नीहारनिर्ह्रादपांशुसिकतामत्स्यभेकोरगक्षाररुधिराश्माशनिविसर्गः, व्यापादनं च षण्णामृतूनाम्, शस्यानामसंघातः, भूतानां चोपसर्गः, भावानां चाभावकरणम्, चतुर्युगान्तकराणां मेघसूर्यानलानिलानां विसर्गः ॥

—च० सू० १२।११

xx प्रतिसरणं प्रतीपगमनम् । xx असंघातोऽनुत्पादोऽनुपचयो वा । उपसर्गो मरकादिप्रादुर्भावः ॥

—पर्वतों के शिखरों को हिला देना या तोड़ फोड़ देना; वृक्षों को विकम्पित या उन्मूलित करना, सागरों को उछाल देना, सरोवरों को उद्वेलित कर देना (उनका पानी सीमा के बाहर ले आना या ऊर्ध्व दिशा में उछालना);

नदियों की विपरीत दिशा में गति[1] भूकम्प, मेघों को सवेग इधर से उधर छितरा देना; नीहार (कुहरा), निह्रदि (मेघों के बिना गर्जन) तथा वृष्टि में धूल, सिकता (वालुका), मत्स्य, मण्डूक, सर्प, क्षार, रुधिर और पाषाण का वर्षण एवं वज्रपात; छहों ऋतुओं की व्यापत्ति (स्वभाव में परिवर्तन), शस्यों का उत्पन्न न होना या उत्पन्न होकर पुष्ट न होना; भूतों (प्राणियों) में मरण आदि का प्रादुर्भाव; भावों (भावरूप पदार्थों) का विनाश और चारों युगों का संहार करने वाले मेघों, सूर्यों, अग्नियों तथा वायुओं की उत्पत्ति ।

उपसंहार करते वायु का महात्म्य बताते तन्त्रकार पुनः कहते हैं—

स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च, भूतानां भावाभावकरा, सुखासुखयोर्विधाता, मृत्युः यमः, नियन्ता, प्रजापतिः, अदितिः, विश्वकर्मा, विश्वरूपः सर्वगः, सर्वतन्त्राणां विधाता, भावानामणुः, विभुः, विष्णुः, क्रान्ता लोकानां, वायुरेव भगवानिति ॥

—च० सू० १२।१२

xx प्रभवः कारणम् । अव्ययोऽक्षयः । सर्वतन्त्राणां सर्वकर्मणाम् तन्त्रशब्दः कर्मवचनोऽप्यस्ति, यदुक्तम्—'बस्तिस्तन्त्राणाम्' (च०सू०२५।४०) कर्मणामित्यर्थः[2]।

—वही भगवान्, कारण और अक्षय है । वह सब पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश करने वाला है । वह सुख और असुख का-आरोग्य तथा अनारोग्य का-कर्ता है । वह मृत्यु और यम है (कुपित हो तो) । वह नियन्ता है । वह प्रजापति और अदिति है । वह विश्वकर्मा और विश्वरूप है । सर्वगामी है । वह सब कर्मों का विधाता है । वह सर्व भावों (पदार्थों) में अणु है, विभु (व्यापक) है । विष्णु है । सर्व लोकों की अतिक्रमण करके स्थित है । संक्षेप में—**वायुरेव भगवान्**—वायु ही भगवान् है ।

वायोः प्राधान्यख्यापकम् एकीयं मतम्

अध्याय के शेषांश में एक महत्त्व का विवाद वर्णित हैं । एक–एक आचार्य एक–एक दोष की इतरदोषापेक्षया प्रधानता बताता है । अन्त में मध्यस्थ महर्षि **आत्रेय पुनर्वसु** यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि तीनों दोषों का महत्त्व समान है । किसी एक को अन्यों से अधिक बताना ऐकान्तिक (एक ही पक्ष की स्थापना करना) है । अब मूल वचन तन्त्रकार के शब्दों में देखिए—

तत् श्रुत्वा वार्योविदवचो मरीचिरुवाच—यद्यप्येवमेतत्, किमर्थस्यास्य वचने विज्ञाने वा सामर्थ्यमस्ति भिषग्विद्यायाम् ? भिषग्विद्यामधिकृत्येयं कथा प्रवृत्तेति ॥

—च० सू० १२।१३

१—यहाँ आया प्रतिसरण (प्रतीप-विपरीत-दिशा में गमन) शब्द आधुनिकों के रीगर्जिटेशन (Regurgitation) का अपनाने योग्य पर्याय है ।

२—"सर्व कर्मों में बस्ति श्रेष्ठ है" इस वचन में तन्त्र शब्द कर्म का वाचक है ।

वार्योविद का यह वचन सुन **मरीचि** बोले-यद्यपि यह (भवदुक्त) बात सत्य है तथापि चिकित्सा-शास्त्र में इस कथन या ज्ञान का प्रयोजन क्या है ? यह कथा (हमारी संभाषा) चिकित्सा-शास्त्र को ही लक्ष्य में रखकर चल रही है (अतः यह प्रश्न है) ।

वार्योविद उवाच—भिषक् पवनमतिबलमतिपरुषमतिशीघ्रकारिणमात्ययिकं चेन्नानुनिशम्येत्; सहसा प्रकुपितमतिप्रयतः कथमग्रेऽभिरक्षितुमभिधास्यति[1] प्रागेवैनमत्ययभयात् । वायोर्यथार्था स्तुतिरपि भवत्यारोग्याय बलवर्णविविद्धये वर्चस्वित्वायोपचयाय ज्ञानोपपत्तये परमायुः प्रकार्षाय चेति । —च० सू० १२।१४

—(उत्तर देते) **वार्योविद** बोले—(अन्य दोषों की अपेक्षया) अतिबली, अति रूक्ष, अति आशुकारी और आत्ययिक (जिसके लिए तत्क्षण उपचार करना ही पड़े ऐसे) वायु को वैद्य (पहले से ही) दृष्टि में न रखे—उचित चर्या द्वारा उसके साम्य को स्थिर बनाए न रखे तो, आगे भविष्य में सहसा प्रकुपित हुए उसे (उस वायु को) अत्यय (खतरे) का भय उत्पन्न हो उसके पूर्व ही अत्यन्त दत्तचित्त होकर भी बचाने में (समावस्था में लाने में) क्या करेगा—क्या कर सकेगा ? (तात्पर्य, अन्यदोषापेक्षया प्रबलता, अशुकारिता आदि गुणों के कारण वायु ही प्रधानतया दृष्टि में रखने योग्य होने से मुख्य है) । आरोग्य, बल और वर्ण की सुपुष्टि, तेजस्विता, उपचय (धातु आदि का पोषण), ज्ञान की प्राप्ति और आयु का उत्तम उत्कर्ष इन कार्मों के लिए (इनकी सिद्धि के लिए) वायु की जो स्तुति (हमारे द्वारा ऊपर) की गयी है वह यथार्थ ही है ।

पित्तप्राधान्यख्यापकमेकीयं मतम्

मरीचिरुवाच— अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। तद्यथा— पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतिवर्णौ शौर्यं भयं क्रोधं हर्षं मोहं प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति ॥
—च० सू० १२।१५

xx पंक्तिमपक्तिमित्यविकृतिविकृतिभेदेन पाचकस्याग्नेः कर्म; दर्शनादर्शने नेत्रगतस्यालोचकस्य; ऊष्मणो मात्रामात्रत्वं वर्णभेदौ च त्वग्गतस्य भ्राजकस्य; भयशौर्यादयो हृदयस्थस्य साधकस्य; रञ्जकस्य तु बहिः स्फुटकार्यादर्शनादुदाहरणं न कृतम् ॥ **—चक्रपाणि**

—(प्रतिवचन—रूप में) **मरीचि** बोले— शरीर में अग्नि महाभूत ही पित्त के अन्तर्गत रह कर कुपित (विषम) या अकुपित (सम) अवस्था में शुभ या अशुभ कर्मों को यथा—पाक या अविपाक (अजीर्ण), (रूप का— वस्तुओं का) दर्शन या अदर्शन; ऊष्मा (शरीर की उष्णता) की मात्रा (साम्य)[2] या अमात्रता

१—अभिधास्यति=विधास्यति । अभि+धा का अर्थ सामान्यतया कहना प्रसिद्ध है ।
२—आधुनिकों से नॉर्मल टेम्परेचर से अभिप्राय है ।

(शरीरोष्मा न्यून या अधिक होना); प्रकृति-वर्ण या विकृति-वर्ण (स्वाभाविक वर्ण तथा वैकारिक वर्ण) शौर्य या भय, क्रोध या हर्ष, मोह (इन्द्रियों का सम्यक् ज्ञान न होना) या प्रसाद (इन्द्रियों की निर्मलता, अतएव स्व-स्व-विषय-ग्रहण की पटुता)—इन तथा अन्य द्वन्द्वों (युग्मों) को उत्पन्न करता है ।

—इसकी व्याख्या करता चक्रपाणि कहता है कि, अविकृत अवस्था में पाक और विकृति अवस्था में अविपाक—ये पाचकाग्नि (पाचक पित्त) के कर्म हैं । दर्शन और अदर्शन नेत्रगत आलोचक पित्त के कर्म हैं । ऊष्मा की मात्रामात्रता यथा वर्णभेद त्वग्गत भ्राजक पित्त के कर्म हैं । भय, शौर्य आदि हृदयस्थ साधक पित्त के कर्म हैं । रञ्जक पित्त का बाहर स्पष्ट कर्म न देख पड़ने से उसका उदाहरण यहाँ नहीं किया है ।

मरीचि के इस वचन का आशय यह है कि, वह वायु को प्राधान्य देने का पक्षपाती नहीं है । उसके मत में पित्त ही प्रधान धातु हैं । अब कफप्राधान्यवादी काप्य का मत देखिए—

कफप्राधान्यख्यापकमेकीयं मतम्

तत् श्रुत्वा मरीचिवचः काप्य उवाच—सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति । तद्यथा—दार्ढ्य शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीवतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमेवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति ॥ —च० सू० १२।१६

सोमो जलदेवता, यदि वा चन्द्रः । **—चक्रपाणि**

—(दोष-त्रय में पित्त का प्राधान्य माननेवाली) मरीचि का यह वचन सुन (कफप्राधान्यवादी) **काप्य** बोले—सोम (जल की अधिष्ठात्री देवता, किंवा चन्द्र) ही श्लेष्मा के अन्तर्गत रहता हुआ कुपित या अकुपित हुआ शरीर में शुभ या अशुभ कर्मों को यथा दृढ़ता या शैथिल्य, उपचय (पुष्टि) या कार्श्य (कृशता), वृषता (मैथुन तथा प्रजोत्पादन का सामर्थ्य) या क्लीबता (उक्त सामर्थ्य की न्यूनता या अभाव), ज्ञान या अज्ञान, बुद्धि या मोह—इन तथा अन्य द्वंद्वों को उत्पन्न करता है ।

इन तीनों ऐकान्तिक (एक अन्त=पक्ष; न कि सिद्ध+अन्त=सिद्धान्त के पोषक) वचनों को सुन भगवान् **आत्रेय पुनर्वसु** ने उनका समन्वय किया । उनके वचन तन्त्रकार के पदों में देखिए—

आत्रेयपुनर्वसुना पुरस्कृतः सिद्धान्तपक्षः

तत् श्रुत्वा काप्यवचो भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच—सर्व एव भवन्तः सम्यगाहुरन्यत्रैकान्तिकवचनात् । सर्व एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषव्यापन्नेन्द्रियं बलवर्णसुखोपपन्नमायुषा महतोपपादयन्ति, सम्यगेवाचरिता

धर्मार्थकामा इच निःश्रेयसेन महता पुरुषमिह चामुष्मिंश्च लोके । विकृतास्त्वेनं महता विपर्ययेणोपपादयन्ति ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापन्ना लोकमशुभेनोपघातकाल इति ॥
—च० सू० १२।१७

X X निःश्रेयसेन सुखेन । ऋतवस्त्रय इति शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चतुर्मासेन ऋतुना। उपघातकाल इति देशोच्छेदकाले ॥ **—चक्रपाणि**

—**काप्य** का यह वचन सुन भगवान **आत्रेय पुनर्वसु** बोले—आप सब ने यथार्थ ही कहा है, केवल आप के वचन ऐकान्तिक (एकपक्षीय) हैं ? इतना ही । (सिद्धान्त यह है कि) वात–पित्त–कफ तीनों प्रकृतिभूत, (प्रकुतिस्थ, प्राकृत, सम) हों तो पुरुष को अविकृत इन्द्रियोंवाला, एवं बल, वर्ण और सुख से युक्त (बनाते तथा) विपुल आयु से संपन्न करते हैं; उसी प्रकार जैसे सम्यक् (कौशल से) आचरित धर्म, अर्थ और काम (परस्पर उपघात न करते हुए) पुरुष को इह और पर लोक में विपुलसुखान्वित करते हैं । वे ही (वातादि) विकृत (विषम) हो जाएँ तो पुरुष को अति वैपरीत्य से (उक्त प्राकृत लक्षणों से विपरीत विकारों से) पीड़ित करते हैं; उसी प्रकार जैसे शीत–उष्ण और वर्षा इन लक्षणों वाली चार–चार मास की ऋतुएँ विकृति को (विपर्यय को —ऋतुओं के हीन योग, मिथ्यायोग या अतियोग, जिनका वर्णन पहले आ चुका है, उनको) प्राप्त हो लोक को उच्छेद–काल–सुलभ (रोगज सामुदायिक विनाश के समय दीख पड़ने वाले) अशुभों द्वारा दुःखित करती हैं ।

तदृषयः सर्व एवानुमेनिरे वचनमात्रेयस्य भगवतोऽभिननन्दुश्चेति ।

भवति चात्र

तदात्रेयवचः श्रुत्वा सर्वे एबाऽनुमेनिरे ।
ऋषयोऽभिननन्दुश्च यथेन्द्रवचनं सुराः ॥ —च० सू० १२।१४–१५

—सभी ऋषियों ने भगवान् आत्रेय के इस वचन को अनुमति दी (उसको स्वीकार किया) तथा अभिनन्दन (हर्ष–प्रकाश) किया । इस प्रसंग को लक्ष्य कर कहा भी है—

—आत्रेय के इस वचन को सुन सभी ऋषियों ने उसका समर्थन किया तथा हर्ष प्रकट किया, जैसे इन्द्र का वचन सुन देव (उसका समर्थन करते तथा उसके प्रति हर्ष प्रकट करते हैं) ।

तत्र श्लोकौ—

गुणाः षड् द्विविधो हेतुर्विविधं कर्म यत् पुनः ।
वायोश्चतुर्विधं कर्म पृथक् च कफपित्तयोः ॥
महर्षीणां मतिर्या च पुनर्वसुमतिश्च या ।
कलाकलीये वातस्य तत्सर्व संप्रकाशितम् ॥ —च० सू० १२।१६–१८

संग्रहे गुणाः षडिति रूक्षादयः । द्विविधो हेतुरिति वातप्रकोपहेतुर्वातप्रशमहेतुश्च XXX ॥ **—चक्रपाणि**

इस अध्याय के दो संग्राहक श्लोक हैं ।

—वायु ले रूक्ष–प्रभृति छः गुण, वातप्रकोपक तथा वातशामक ये द्विविध हेतु, वात के विविध (संपूर्ण) कर्म, वायु के चतुर्विध (शारीर प्राकृत, शारीर विकृत, बहिश्चर प्राकृत, बहिश्चर विकृत—इन चार वायुओं के चार प्रकार के) कर्म कफ और पित्त के पृथक् कर्म, महर्षियों का (एकीय) मत, तथा (अन्त में) पुनर्वसु का मत—वातकलाकलीयाध्याय में यह सब विषय प्रकाशित (वर्णित) हुआ है ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने वातकलाकलीयो नाम द्वादशोऽध्यायः समाप्तः । इति निर्देशचतुष्कः ।

—इस प्रकार अग्निवेश–रचित तथा चरक–प्रतिसंस्कृत तन्त्र में, श्लोक स्थान (सूत्र स्थान) में वातकलाकलीयनामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ । इसके साथ निर्देशचतुष्क[१] नामक अध्याय–चतुष्टय भी समाप्त हुआ ।



१—चरक-संहिता सूत्रस्थान के कुल तीस अध्यायों में एक–एक विषय चार–चार अध्यायों में उपनिबद्ध कर चार–चार अध्यायों में प्रत्येक वर्ग को एक-एक नाम दिया गया है । तथाहि–पहले चार अध्यायों को **भेषज–चतुष्क** नाम दिया है; पाँचवें से आठवें तक के अध्यायों को **स्वस्थ-चतुष्क** नवें से बारहवें तक के अध्यायों को **निर्देश–चतुष्क,** तेरहवें से सोलहवें तक के अध्यायों को **कल्पना–चतुष्क;** सत्रहवें से बीसवें तक के अध्यायों को **रोग–चतुष्क;** इक्कीसवें से चौबीसवें तक के अध्यायों को **योजना–चतुष्क;** तथा पच्चीसवें से अट्ठाईसवें तक के अध्यायों को **अन्नपान–चतुष्क** नाम दिया गया है । प्रत्येक अध्याय का तथा अन्तिम दो (२६, ३० वें) अध्यायों का विषयानुसार पृथक् नाम भी है ।

अष्टावाहारविधि विशेषायतनानि

आयुर्वेद का यह मन्तव्य लिख आए हैं कि आहार ही पुरुष की पुष्टि और आरोग्य का एकमात्र मूलकारण है। परन्तु यह सर्वथा सम होना चाहिए। प्रकृति, करण आदि की दृष्टि से विषमाशन राजयक्ष्मा-सदृश कष्टकारी रोगों तक को जन्म देता है, यह अभी देख चुके हैं। विषय की पूर्ण प्रतिपत्ति (अवबोध, ज्ञान) के लिए प्रकृति आदि का सम आहार में क्या स्वरूप और महत्त्व है, यह बताना उचित प्रतीत होता है। अतः **चरक** के एतद्विषयक वचन उद्धृत किए जाते हैं।

ओकसात्म्य-लक्षणम्

सात्म्यं नाम तद्यदात्मन्युपशेते। सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः तत्त्रिविध प्रवरावरमध्यविभागेन; सप्तविधं तु रसैकैकत्वेन सर्वरसोपयोगाच्च। तत्र सर्वरसं प्रवरम्, अवरमेकरसं मध्यं तु प्रवरावरमध्यस्थम्। तत्रावर–मध्याभ्यां सात्म्याभ्यां क्रमेणैव प्रवरमुपपादयेत्सात्म्यम्। सर्वरसमपि च सात्म्यमुपपन्नः प्रकृत्याद्युपयोक्तृष्टत्रमानि सर्वाण्याहारविधिशेषायतनान्यभिसमीक्ष्य हितमेवानुरुध्येत[1] ॥

—च० वि० १।२३

ओकसात्म्य उस (द्रव्यादि) को कहते हैं जो अपने को अभ्यास से हित (हितावह) हो गया हो। सात्म्य का अर्थ है उपशय या हित। यह ओकसात्म्य तीन प्रकार का है **प्रवर, अवर** और **मध्य**। यद्वा, यह सात प्रकार का होता है—एक–एक रस के अभ्यास से छ प्रकार का और मिलित रसों के अभ्यास से एक प्रकार (मिलकर सात प्रकार) का। इनमें सर्व रसों का सात्म्य प्रवर (श्रेष्ठ) होता है, एकरससात्म्य अवर (निकृष्ट) तथा प्रवर और अवर के मध्य में स्थित नाम द्विरस, त्रिरस, चतूरस तथा पञ्चरस का सात्म्य मध्य होता है।

—(किसी पुरुष को) अवर और मध्य ओकसात्म्य हों तो इन सात्म्यों का त्याग सहसा नहीं करना चाहिए, किन्तु क्रमशः इनका त्याग और सात्म्य को स्वीकार करना चाहिए।

१—सात्म्यं नामेति ओकसात्म्यं नामेत्यर्थः। ओकादिति अभ्यासात्। उपशयार्थ इति उपशयशब्दाभिधेय इत्यर्थ। xx प्रवरावर-मध्यस्थमिति द्विरसादि पञ्चरसपर्यन्तम्। xx अनुरुध्येत सेवेतेत्यर्थः॥ **—चक्रपाणि**

सात्म्य शब्द यों किसी पुरुष की प्रकृति को अनुकूल (उसे हित) आहार—द्रव्य, औषध–द्रव्य, विहार, देश और काल के लिए आता है, पर यहाँ अभ्यास अथवा सतत सेवन से जो जीवन का अंग और अनुकूल—जैसा हो गया है, उस आहार–द्रव्य आदि के लिए आया है। टीकाकार ने इसे ओकसात्म्य कहा है। (ओक=अभ्यास)।

—सर्वरस के सात्म्य से युक्त (नित्य छहों का सेवन करने वाले) पुरुष को भी प्रकृति आदि उपयोक्ता (भोक्ता)—पर्यन्त आहार द्रव्यों की कल्पनाओं के हिताहितत्व के आठ कारणों का विचार करके हित ही का सेवन करना चाहिए ।

इनका नामतः तथा स्वरूपतः निर्देश करते आचार्य आगे कहते हैं—

तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्तिः तद्यथा –प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि ॥

—च० वि० १।२४

आहारस्य विधिः प्रकारो विधानं वा इत्याहारविधिः । तस्य विशेषो हितत्वमहितत्वं च । तस्यायतनानि हेतवः । आहारप्रकारस्य हितत्वमहितत्वं च प्रकृत्यादिहेतुकमित्यर्थः । उपयोक्ता अष्टमो येषां तान्युपयोक्त्रष्टमानि ॥ —**चक्रपाणि**

—ऊपर जिनकी बात की वे आठ आहार–विधि–विशेषायतन (आहार के प्रकारों के हित–अहित–रूप भेदों के कारण) अधोलिखित हैं । प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग–संस्था तथा आठवां उपभोक्ता ।

तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः । स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः । तद्यथा —माषमुद्गयोः, शूकरैणयोश्च ॥ —च० वि० १।२५

—इनमें प्रकृति का अर्थ है स्वभाव और स्वभाव का अर्थ है द्रव्यों में गुरु आदि गुणों की स्वाभाविक विद्यमानता । यथा, माष और मृद्ग अथवा शुकर और एण (हरिण–विशेष) में । (माष और शूकर में स्वाभाविक गुरुत्व होता है तथा मुद्ग और एण में स्वाभाविक लघुत्व । इन गुणों को इनकी प्रकृति कहते हैं) ।

कारणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः । संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते । ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनभावनादिभिः कालप्रकर्षभावनादिभिश्चाधीयन्ते ॥

—च० वि० १।२६

xx तच्च (गुणान्तराधानं) प्राकृतगुणोपमर्देनैव क्रियते । यथा, तोयाग्निसन्निकर्षशौंचैस्तण्डुलस्थं गौरवमुपहत्य लाघवमन्ने क्रियते । यदुक्तम "सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नः संतप्तश्चोदनो लघुः" (च० सू० २७।२२७) । तथा रक्तशाल्यादेर्लघोरप्यग्निसंयोगादिना लाघवं वर्धते ।

मन्थनाद्गुणाधानं यथा—"शोथकृद्दधि, शोथघ्नं सस्नेहमपि मन्थनात्" इति । देशेन यथा— "भस्मराशेर्धः स्थापयेत्" (च० चि० १।१।५८) इत्यादौ ।

वासनेन गुणाधानं यथा—अपामुत्पलादिवासनेन सुगन्धानुकरणम् । भावनया च स्वरसादिकृतया स्थितस्यैवामलकादेर्गुणोत्कर्षो भवति । काल-प्रकर्षाद्यथा—"पक्षाज्ज्ञातरसं पिबेत् "इत्यादि ।

भोजनेन यथा—''त्रैफलेनायसी पात्रीं कल्केनालेपयेत्रवाम्'' (च०चि० १।३।४३) इत्यादौ । आदिहणात्पेषणाभिमन्त्रणादि गह्यते । xxx ।। —**चक्रपाणि**

—**करण** का अर्थ है स्वाभाविक नाम उत्पत्ति के समय अमुक गुण वाले द्रव्यों का संस्कार और इस **संस्कार** का अर्थ है गुणान्तराधान—स्वाभाविकेतर गुण का उत्पादन । ये गुण जल का सन्निकर्ष (जल से धोना आदि), अग्नि का सन्निकर्ष (भूनना, पकाना आदि), शोधन, मन्थन, देश (स्थल–विशेष पर रखना), काल, वासन (सुगन्धीकरण), भावना इत्यादि से तथा काल–प्रकर्ष; पात्र आदि से (आदि शब्द से पेषण, अभिमन्त्रणमन्त्रपूत करना—आदि का ग्रहण है) उत्पन्न किए जाते हैं[1] ।

—इनके उदाहरण देते टीकाकार कहते हैं; यथा **जल** और **अग्नि** के **सन्निकर्ष तथा शोधन** से तण्डुल–गत गुरु गुण को दबाकर लाघव उत्पन्न किया जाता है । कहा भी है—(चावल को) अच्छे प्रकार धोकर, निथारकर एवं स्वेदन द्वारा कुछ मृदु कर बनाया हुआ गरम–गरम भात लघु होता है । कई बार स्वाभाविक ही गुण में **संस्कार** से वृद्धि होती है; यथा, अग्निसंयोगादि से रक्तशालि आदि में लाघव की वृद्धि होती है ।

—**मंथन** से गुणप्रधान यथा; दही यों तो शोथकृत होता है; पर उसे मथ लिया जाए तो उसमें भले स्नेह विद्यमान रहे (उसका मक्खन निकाला न जाए) तो भी वह शोथघ्न हो जाता है ।

—**देश** से गुणान्तराधान यथा, (द्वितीय ब्राह्मरसायन की निर्माण–विधि में कहा है कि —उसे घृत—भावित कुम्भ में रखकर भूमि के अन्दर—गढे में—एक पक्ष के लिए) भस्म राशि–राख की ढेरी–के नीचे रखे ।

—**वासन** से गुणाधान; यथा—जल को कमल आदि (पुष्पों) से वासित किया जाए तो जल में सुगन्धोत्पादन होता है ।

—स्वरस (क्वाथ आदि) से दी गयी भावना से आमले आदि में पहले से स्थित गुणों का उत्कर्ष आधिक्य होता है[2] ।

१—आहार तथा औषध द्रव्य तैयार करते समय जो विविध प्रक्रियाएं की जाती हैं उन्ही को **संस्कार** या **करण** कहते हैं । यह संक्षेप में समझना चाहिए ।

२—स्वरसादि से भावना गुण—वृद्धि तथा दोष परिहार के लिए दी जाती है । यथा, आमलक–चूर्ण को आमलक–स्वरस की भावनाएँ गुण–वृद्ध्यर्थ दी जाती है । अश्वकञ्चुकी–रस में जयपाल के दोष के निवारणार्थ भृङ्गराज–रस की इक्कीस भावानाएँ दी जाती हैं । भावना के प्रथम प्रयोजन को दृष्टि में रख चरक ने कहा है—

भूयश्चैषां बलाधानं कार्यं स्वरसभावनैः ।
सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्याद्बहुकर्मकृत् ।।
स्वरसेस्तुल्यवीर्यैर्वातस्माद्द्रव्याणि भावयेत् ।
अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मताम् ।।
कुर्यात्संयोगविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः ।। —च० क० १२।४७-४८

—कालकृत प्रकर्ष (गुणाधिक्य) यथा—एक पक्ष रखने के पश्चात् जिसमें रस उत्पन्न हो गया है ऐसे कल्प का पान करें ।

—भोजन या पात्र के संयोग से हुआ गुण–प्रकर्ष यथा—(त्रिफला–रसायन के एक प्रकार की निर्माण–विधि बताता तन्त्रकार कहता है)—त्रिफला के कल्क से लोहे की थाली को लिप्त करें ।

संयोगः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः । स विशेषमारभते, यं पुनर्नैकैकशो द्रव्याण्यारभन्ते । तद्यथा—मधुसर्पिषोर्मधुमत्स्यपयसां च संयोगः ॥
—चि० वि० १।२७

X X विशेषमारभत इति संयुज्यमानद्रव्यैकदेशेऽदृष्टं कार्यमारभत इत्यर्थः । XX मधुसर्पिषी हि प्रत्येकममारके, मिलिते तु मारके भवतः, क्षीरमत्स्यादिसंयौगश्च कुष्ठादिकारो भवति X X ॥

दो अथवा अधिक द्रव्यों के संमिलन को **संयोग** कहा जाता है । इससे संयुक्त हुए पृथक् द्रव्यों में जो गुण—कर्म नहीं होता वह उत्पन्न होता है । यथा, मधु और घृत (सम परिमाण में) संयुक्त हों तो पृथक् मारक न होते हुए भी मिलितावस्था में मारक होते हैं । अथवा—दूध, मत्स्यादि का संयोग कुष्ठादि-जनक होता है ।

राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थः । तत्र सर्वस्याहारस्य प्रमाणग्रहमेकपिण्डेन सर्वग्रहः; परिग्रहः पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकश्येनाहारद्रव्याणाम् । सर्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रहः, सर्वतश्च ग्रहः परिग्रह उच्यते ॥ —च० वि० १।२८

सर्वग्रह और परिग्रह का अपर नाम राशि (परिमाण, मात्रा) है । यह (राशि का विचार) मात्रा (सम परिमाण) तथा अमात्रा (न्यून या अधिक परिमाण में लिए आहार या औषध द्रव्य) के फल (क्रमशः शुभ और अशुभ परिणाम) के विनिश्चयार्थ होता है ।

संपूर्ण आहार (चावल, मांस, रोटी आदि मिश्रीकृत संपूर्ण भोजन–द्रव्यों) का एक पिण्ड के रूप में जो परिमाण–ग्रहण होता है उसका नाम सर्वग्रह है तथा आहार द्रव्यों का एकैकशः (पृथक्-पृथक्) जो परिमाण–ग्रहण होता है उसे परिग्रह कहते हैं । (व्युत्पत्ति द्वारा इनका अर्थ बताते हैं)—सर्व का

स्वरसों (स्वरस–क्वाथादि) की भावनाओं से इनमें भूयसी (अधिकतर) बल–वृद्धि करनी चाहिए । उत्तम भावित द्रव्य अल्प हो तो भी बहुत कर्म करने वाला होता है । अतः अपने ही स्वरस से अथवा तुल्यवीर्य द्रव्यों के स्वरसादि से द्रव्यों की भावना देनी चाहिए ।

—(आगे संस्कार की महत्ता बताता तन्त्रकार कहता है)—संयोग, विश्लेष (वियोग), काल, संस्कार और युक्ति द्वारा अल्पमात्र भी द्रव्य की प्रभूतकर्मता तथा प्रभूत भी द्रव्य की अल्पकर्मता करनी चीहिए ।

ग्रह (प्रमाण—ग्रहण, प्रमाण का ज्ञान और निर्देश) होता है वह सर्वग्रह तथा सर्वतः नाम मिश्रण के अवयवभुत प्रत्येक द्रव्य का जो ग्रहण होता है उसे परिग्रह कहते हैं ।

देशः पुनः स्थानस् ॥ स द्रव्याणामुत्पत्ति प्रचारौ देशसात्म्यं चाचष्टे ॥
—च० वि० १।२६

स्थानग्रहणेनाहारद्रव्यस्य तथा भोक्तुश्च स्थानं दर्शयति । आचस्ट इति द्रव्यस्योत्पत्तिप्रचारादिकृतगुणज्ञानहेतुर्भवति । तत्रोत्पत्त्याहिमवति जातं गुणवद् (गुरु इति पाठान्तरम्) भवति, मरौ जातं लघु भवति, इत्यादि । प्रचारेण[1] लघुभक्ष्याणां प्राणिनां तथा धन्वप्रचारिणां बहुक्रियाणां च लाघवं, विपर्यये च गौरवं गृह्यते ।

देशसात्म्येन च देशविपरीतगुणं सात्म्यं गृह्यते । यथा—आनूपे उष्णरूक्षादि, धन्वनि च शीतस्निग्धादि । ओकसात्म्यं तु उपयोक्तृग्रहणेन गृहीतम् ॥
—चक्रपाणि

—देश का अर्थ है स्थान । देश शब्द से द्रव्यों की उत्पत्ति (का स्थान) तथा प्रचार (भोजन और चेष्टा) एवं किस देश में क्या सात्म्य (हित) है इसका कथन (निर्देश) होता है ।

—उत्पत्ति की दृष्टि से गुणभेद का उदाहरण यथा—हिमाचल में उत्पन्न द्रव्य गुणवान् (गुरु–पाठान्तर) होता है, तथा मरु में हुआ लघु, इत्यादि । प्रचार (भोजन तथा चेष्टा) की दृष्टि से गुण-भेद यथा—लघुभोजी, धन्व (मरु) देश में विचरण करने वाले एवं अति चेष्टा करने वाले प्राणियों में (उनके शरीर में तथा भोज्य मांसादि में) लाघव होता है; विपर्यय (विपरीत स्थिति) होने पर गौरव होता है ।

—देश के विपरीत–गुण के सात्म्य होने का उदाहरण तथा—आनूप (जल–प्रधान, कफ–प्रकोपक) देश में उष्ण, रूक्षादि द्रव्य सात्म्य (हित) होते हैं तथा धन्व (मरु) देश में शीत, स्निग्धादि गुण सात्म्य होते हैं ।

—सात्म्य का ही एक भेद ओकसात्म्य भी होता है । उसका आगे कहे उपयोक्ता (भोक्ता) के ग्रहण से ही ग्रहण हो जाता है ।

कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च । तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते । नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः ॥
—च० वि० १।३०

१—**चर गतिभक्षणयोः**— प्रचार शब्द में आई चर धातु के दो अर्थ हैं—गति और भक्षण । गति शब्द चेष्टा–विशेष (गमन) का वाचक है, पर यहाँ चेष्टा—सामान्य के लिए आया है । देश के विचार में उत्पत्ति–स्थान का विचार अचेतन द्रव्यों के गुण निर्देशार्थ होता है तथा प्रचार का विचार भोज्य प्राणियों को चेष्टा के स्वरूप तथा निवास स्थान के निर्देशार्थ होता है । इस विवरण को दृष्टि में रख मूल का अर्थ समझना चाहिए ।

निगत्य इत्यहोरात्रादिरूपः । आवस्थिक इति रोगित्ववाल्याद्यवस्थाविशेषित इत्यर्थः । विकारमपेक्षत इति बाल्यादिकृतं तु श्लेष्मविकारं ज्वरादिकं चाहारनियमार्थमपेक्षत इत्यर्थः । xxx ॥ —**चक्रपाणि**

काल दो प्रकार का है—नित्यग और आवस्थिक । अहोरात्र (दिन-रात) आदि के रूप में जो काल है वह नित्यग कहाता है । (रुग्णता तथा उसमें दोषादि की विभिन्न अवस्थाएँ) एवं बाल्यादि अवस्थाएँ आवस्थिक काल कहलाती हैं ।

—आवस्थिक काल का विचार रोग-विशेष में आहार के नियमार्थ (निर्णयार्थ) किया जाता है । यथा, बाल्यावस्था में श्लेष्म विकार होने से अमुक प्रकार का आहार लेना चाहिए, ज्वर की विभिन्न अवस्थाओं में अनशन करना चाहिए या अमुक प्रकार का आहार ग्रहण करना चाहिए ।

—नित्यग काल का विचार (विशेषतया) ऋतु-सात्म्य की अपेक्षा से नाम किस ऋतु में कैसा आहार लेना चाहिए इस वस्तु को लक्ष्य में रखकर किया जाता है ।

उपयोगसंस्था तूपयोगनियमः । जीर्णलक्षणापेक्षः । —च० वि० १।३१

एवमाहारोपयोगः कर्तव्य एवं न कर्तव्य इत्युपयोगनियमः । स जीर्णलक्षणापेक्षः इति प्राधान्येनोक्तः । XXX —**चक्रपाणि**

—भोजन इस प्रकार करना चाहिए और इस प्रकार नहीं ऐसा जो उपयोग का नियम है उसे उपयोग-संस्था कहते हैं । वह प्रधानतया जीर्ण (पच गए आहार) के लक्षणों को दृष्टि में रखकर विचार किया जाता है ।

टीकाकार कहता है, उपयोग के आगे कहे जाने वाले नियम भी उपयोग-संस्थान्तर्गत हैं । पूर्वकृत भोजन जीर्ण होने पर इनमें सबसे प्रधान होने से उसी को यहाँ दृष्टान्तया प्रस्तुत किया गया है ।

उपयोक्ता पुनर्यस्तमाहारमुपयुङ्क्ते, यदायत्तमोकसात्म्यम् । —च० चि० १।३२

—आहार का जो उपयोग करता है उसे उपयोक्ता कहते हैं । ओकासात्म्य (अभ्यास से सात्म्य) उसी के अधीन होता है ।

अभ्यास से किसी को कोई पथ्य या अपथ्य तथा अन्त्र को कोई पथ्य या अपथ्य सात्म्य होता है । जन्मतः या सुचिरकाल से सेवन के कारण अपथ्य भी कइयों को सात्म्य (अभ्यस्त होने से सात्म्य या हितवत् प्रतीयमान) होता है । तथापि उससे क्षति तो होती ही और उसका त्याग भी करना चाहिए । परन्तु वह इस प्रकरण के आदि में जैसा कहा है उसी क्रम से करना चाहिए ।

इत्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि व्याख्यातानि भवन्ति ॥

—च० वि० १।३२

आहार के विविध प्रकारों (कल्पों) के हिताहित होने के कारणभूत आठ (भावों) की यह व्याख्या की गयी ।

एषां विशेषाः शुभाशुभफलाः परस्परोपकारका भवन्ति । तान् बुभुत्सेत । बुद्ध्वा च हितेप्सुरेव स्यात । न च मोहात् प्रमादाद्वा प्रियमहितमसुखोदर्कमुपसेव्यमाहारजातमन्यद्वा किंचित् ॥ —च० वि० १।३३

XX मोहादित्यज्ञानात् । प्रमादादिति ज्ञात्वाऽपि रागादित्यर्थः । प्रियमिति तदात्वमात्रप्रियम् । अहितमित्यस्य विवरणम् असुखोदर्कमिति । असुखं दुःखरुपम् उदर्क उत्तरकालीनं फलं यस्य स तथा । अन्यद्वेति भेषजविहारादि ॥ **—चक्रपाणि**

—इनके शुभ और अशुभ फल वाले भेद (प्रकार; यथा लघु द्रव्य शुभफल होते हैं तथा गुरु अशुभफल इत्यादि) परस्पर उपकारक होते हैं । उनको जानने की इच्छा रखे (जाने) और जानकर हित को ही प्राप्त करे – हित का ही सेवन करें । मोह (अज्ञान) – वश अथवा जान कर भी प्रमाद – वश (राग – वश, लौल्य से प्रेरित हो) ऐसे आहार – द्रव्य औषध, विहार आदि का सेवन न करे जो तत्काल तो प्रिय (आनन्द प्रद) हो परन्तु परिणाम में असुखकर – अनारोग्यकर हो ।

आहारोपयोगनियमाः

तत्रेदमाहारविधिविधानमरोगाणामातुराणां चापि केषांचित् काले प्रकृत्यैव हिततमं भुञ्जानानां भवति । —च० वि० १।३४

—अब आगे कहा जाने वाला आहार के सेवन का नियम यथाकाल (काल को दृष्टि में रखकर) सेवन करने वाले स्वस्थ पुरुषों के लिए और कतिपय रोगियों के लिए स्वभाव से ही हिततम होता है ।

ऊपर इन नियमों को कतिपय रोगियों के लिए हिततम कहा है । इसकी व्याख्या करता **चक्रदत्त** कहता है ।

xx आतुराणां च केषांचिदिति पदेन रक्तपित्तिनां शीतमेव, कफरोगिणां रुक्षमेव हितमित्यादि विपर्ययं दर्शयति । x x x ॥ **—चक्रपाणि**

इन नियमों में उष्ण भोजन का विधान किया है, पर रक्तपित्तियों के लिए (जिनमें रक्त और पित्त का प्रकोप होने से किसी मार्ग से रक्तस्त्राव होता हो ऐसे रोगियों के लिए) शीत ही आहार इष्ट होता है; एवं यहाँ स्निग्धाहार की सेव्यता कही है, पर कफरोगियों के लिए रुक्ष ही द्रव्य सेवनीय होते हैं —इत्यादि प्रकार से रोगी व्यक्तियों में इन नियमों का विपर्यय (वैपरीत्व, अपवाद) होता है ।

उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धमिष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितमजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीतात्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक् ॥
—च० वि० १।३५

—आदि में सर्व नियमों का एक साथ में उल्लेख करते हैं—उष्ण, स्निग्ध, मात्रावत्, (पूर्वकृत भोजन) जीर्ण हो जाने पर, (द्रव्यों के) वीर्य जिसमें विरुद्ध न हों ऐसे, इष्ट (मनोरम) देश में, जिसमें सर्व उपकरण (पात्रादि) इष्ट हों इस प्रकार, न अति शीघ्र न अति मन्दता से, भाषण न करते हुए, न हँसते हुए, तन्मना (तन्मय, तल्लीन) हो तथा अपना (अपने हिताहित का) सम्यक् विवेचन करते हुए भोजन करना चाहिए ।

अब इन नियमों में प्रत्येक की पृथक् व्याख्या करते हैं ।

तस्य साद्गुण्यमुपदेक्ष्यामः । उष्णमश्नीयात् । उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चाग्निमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, श्लेष्माणं च परिह्रासयति । तस्मादुष्णमश्नीयात् ॥ —च० वि० १।३६

xx परिह्रासयतीति भिन्नसंघातं करोति ॥ **—चक्रपाणि**

प्रत्येक की गुणवत्ता बताते हैं । उष्ण भोजन करना चाहिए । कारण, भोजन उष्ण हो तो खाते समय स्वादु लगता है, खाने पर औदर्य अग्नि (जठराग्नि, अन्तराग्नि, कायाग्नि) को उदीरित-प्रदीप्त-करता है; शीघ्र जीर्णता को प्राप्त होता है; वायु का अनुलोमन करता है एवं श्लेष्मा को खण्डित करता है । अतः उष्ण ही भोजन करें ।

स्निग्धमश्नीयात् । स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चानुदीर्णयग्निमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, शरीरमुपचिनोति । दृढीकरोतीन्द्रियाणि, बलाभिवृद्धिमुपजनयति, वर्णप्रसादं चाभिनिर्वर्तयतीति तस्यात स्निग्धमश्नीयात् ॥
—च० वि० १।३७

—स्निग्ध (स्नेह – द्रव्य युक्त) भोजन करे । कारण, भोजन स्निग्ध हो तो खाते समय स्वादु लगता है, खाने पर अग्नि उदीर्ण न हो तो उसे उदीर्ण करता है, शीघ्र जीर्ण हो जाता है, वायु का अनुलोमन करता है, शरीर को उपचित (पुष्ट) करता है, इन्द्रियों को दृढ़ करता है, बल की अभिवृद्धि करता है, एवं वर्ण की निर्मलता (प्राकृत वर्ण) उत्पन्न करता है । अतः स्निग्ध ही भोजन करें ।

मात्रावदश्नीयात् । यात्रावृद्धि भूक्तं वातपित्तकफानपीडयदायुरेव विवर्धयति केवलं, सुखं गुदमनुपर्येति, न चोष्माणमुपहन्ति, अव्यथं च परिपाकमेति । तस्मान्मात्रावदश्नीयात् ॥ —च० वि० ११३८

XX अपीडयदिति अनतिमात्रत्वेन स्वस्थानस्थितं सद्वातादीन् स्थानापीडनादप्रकोपयत् । गुदमनुपर्येतीति परिणतं सदनुरुपतया निः सरति ॥
—चक्रपाणि

—मात्रावत् (सम मात्रा में) भोजन करें । मात्रावत् सेवन किया गया अन्नपान वात – पित्त – कफ को पीड़ित न करता हुआ (उनके स्रोतों पर तथा

उन पर दबाव डालकर उनकी गति तथा क्रिया में व्याघात न डालता हुआ) केवल आयु की वृद्धि ही करता है, सुख से— अनारोग्य का कोई लक्षण उत्पन्न न करता हुआ—परिपक्व होकर गुदमार्ग से निकल जाता है, अग्नि को भी मन्द नहीं करता और व्यथा बिना (विभिन्न अजीर्णविकार उत्पन्न किए बिना) परिपाक को प्राप्त होता है । अतः मात्रावत् ही भोजन करे ।

जीर्णेऽश्नीयात् । अजीर्णेहि भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्याहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाहाररसेपसृजत् सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु । जीर्णे तु भुञ्जानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वग्नौ चोदीर्णे जातायां च बुभुक्षायां विवृतेषु च स्रोतसां मुखेषु विशुद्धे चोद्गारे हृदये विशुद्धे वातानुलोम्ये विसृष्टेषु वातमूत्रपुरीषवेगेष्वभ्यवहतमाहारजातं सर्वशरीरधातूनप्रदूषयदायुरेवाभिवर्धयति केवलम् । तस्माज्जीर्णेऽश्नीयात् ॥ —च० वि० १।३६

XXX स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वित्यादि जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥

—चक्रपाणि

—(पूर्वकृत भोजन) जीर्ण होने पर ही भोजन करे । (पूर्वकृत आहार) उदीर्ण न होने पर खाया गया अन्नपान पूर्व – सेवित आहार के असम्यक् परिपक्व रस को उत्तर-कालिक आहार रस के साथ संयुक्त करता हुआ शीघ्र ही संपूर्ण दोषों को प्रकुपित करता है ।

—(पूर्वकृत भोजन) जीर्ण होने पर, (उसके परिपाक के नीचे लिखे लक्षणों का उदय होने पर, तथाहि—) दोषी के निज – निज स्थानों में स्थित होने पर, अग्नि के उदीर्ण (उदित) होने पर, क्षुधा का वेग उत्पन्न होने पर, (पित्तवह तथा रसवह) स्रोतों के मुख विवृत होने पर (खुलने पर), उद्गार विशुद्ध (अम्लत्वादि अजीर्ण लक्षण – रहित) होने पर, हृदय के भी शुद्ध – गौरवादि रहित होने पर, वायु का आनुलोम्य—अधोमार्ग से सरण—होने पर एवं वात, मूत्र और पुरीष के वेगों का विसर्जन होने पर, खाया गया आहार शरीर के सर्व धातुओं को अ – दूषित करता हुआ आयु की केवल अभिवृद्धि ही करता है । अतः (पूर्व सेवित अन्नपान) जीर्ण होने पर ही भोजन करना चाहिए ।

वीर्याविरुद्धमश्नीयात् । अविरुद्धवीर्यमश्नन् हि विरुद्धवीर्याहारजैर्विकारैर्नोपसृज्यते । तस्माद्वीर्याविरुद्धमश्नीयात् ॥ —च० वि० १।४०

विरुद्धवीर्याहारजैरिति कुष्ठान्ध्यविसर्पाद्यैरात्रेयभद्रकाप्यीयोक्तैः ॥

—चक्रपाणि

—वीर्य (गुण – कर्म) की दृष्टि से (जिसके द्रव्य परस्पर) विरुद्ध नहीं हैं ऐसा भोजन करना चाहिए । अविरुद्धवीर्य भोजन करने से विरुद्धवीर्य भोजन से होने वाले कुष्ठ (त्वग्रोग), आन्ध्य (दृष्टि – दोष), विसर्प (त्वचा के प्रसरण – शील रोग) आदि विकारों से अभिभूत नहीं होता । अतः अविरुद्धवीर्य भोजन करे ।

इष्टे देश इष्टासर्वोपकरणं चाश्नीयात् । इष्टे हि देशे भुञ्जानो नानिष्टदेशजैर्मनोविघातकरैर्भावैर्मनोविघातं प्राप्नोति । तथैवेष्टैः सर्वोपकरणैः । तस्मादिष्टे देशे तथेष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात् । —च० वि० १।४१

मनोविघातकरैरिति त्रिविधकुक्षीये वक्ष्यमाणैः कामादिभिश्चित्तोपतापकरैश्चित्तविकारैरित्यर्थः X X ॥ **—चक्रपाणि**

—इष्ट (मनोऽनुकूल) स्थान में तथा खाते समय सर्व उपकरण (पात्रादि साधन) इष्ट हों इस रीति से खाए । पुरुष इष्ट देश में भोजन करे तो अनिष्ट देश में जिनका आविर्भाव सुलभ है ऐसे मनोविघातकर काम, क्रोधादि चित्त – विकारों से मनोविघात को (मन के विक्षेप को) नहीं प्राप्त होता । यही परिणाम सर्व उपकरणों के इष्ट होने का होता है । अतः इष्ट देश और सर्व उपकरणों की इष्टता – सहित भोजन करना चाहिए[१]।

नातिद्रुतमश्नीयात् । अतिद्रुतं हि भुञ्जानस्योत्स्नेहनमवसादनं भोजनस्याप्रतिष्ठानं च । भोज्यदोषसाद्गुण्योपलब्धिश्च न नियता । तस्मान्नातिद्रुतमश्नीयात् ॥ —च० वि० १।४२

उत्स्नेहनमुन्मार्गगमनम् । अवसादनमवसादः । अप्रतिष्ठानं हृदयस्थत्वेन कोष्ठप्रवेशः । भोज्यगतानां दोषाणां केशादीनां, साद्गुण्यस्थ च स्वादुत्वादेः । उपलब्धिर्न नियता भवति कदाचिदुपलभ्यते कदाचिन्नेति । तत्र दोषानुपलब्ध्या सदोषस्यैव भक्षणं, साद्गुण्यानुपलब्ध्या च प्रीत्यभावः ॥ **—चक्रपाणि**

—अति शीघ्र भोजन न करना चाहिए । अति शीघ्र भोजन करते हुए भोजन का उन्मार्ग में (यथा, श्वासपथ में), गमन (बिना चबाए) नीचे उतर जाना, तथा (भोजन का रस न लेने से) उसका शरीर में प्रतिष्ठित न होना—शारीर

१—इस विषय में अगले अध्याय (त्रिविधकुक्षीय) का यह पद्य स्मरणीय है ।

मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चाऽन्नं न जीर्यति ।

चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः ॥ च० वि० २।६

—अन्नपान पथ्य हो, मात्रावत् ही उसका सेवन किया जाय तथाऽपि चिन्ता, शोक, भय, क्रोध असुखकर शय्या और जागरण —इन भावों की विद्यमानता में उसका जरण (पचन) नहीं होता ।

मनोविघातकर भावों को लक्ष्य में सुश्रुत ने भी कहा है ।

ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षतेन लुब्धेन शुग्दैन्यनिपीडितेन ।

प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिणाममेति ॥ सु० सू० ४६।५०१

—ईर्ष्या, भय या क्रोध से अभिभूत, लोभाविष्ट, शोकग्रस्त, दैन्य से पीड़ित किंवा द्वेषग्रस्त पुरुष अन्नपान का सेवन करे तो उसका परिपाक समीचीन नहीं होता ।

आधुनिक क्रियाशारीर ने भी प्राचीनों के इस दर्शन का पूर्ण समर्थन किया है ।

धातुओं की अभीष्ट पुष्टि न होना—ये विपरिणाम होते हैं । साथ ही उसमें विद्यमान केशादि दोषों तथा स्वादुता आदि सद्‌गुणों की उपलब्धि (बोध) नियत रूप से नहीं होती—कभी होती है और कभी नहीं होती । परिणामतया, दोष की उपलब्धि न हो तो दोषयुक्त ही अन्नपान खाया जाता है, कभी गुणोपलब्धि न हो तो प्रीति बिना ही खाया जाता है ।

नातिविलम्बितमश्नीयात् । अतिविलम्बितं हि भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति, बहु भुङ्क्ते, शीतीभवत्याहारजातं, विषमं च पच्यते । तस्मान्नातिविलम्बितमश्नीयात् ॥

—च० वि० १।४३

विषमं च पच्यत इति चिरकालभोजनेनाग्निसंबन्धस्य वैषम्यादिति भावः ॥

—चक्रपाणि

—बहुत विलम्ब करके – बहुत अधिक समय लगाकर भोजन न करना चाहिए । कारण, अति विलम्ब – कालक्षेप – करके भोजन करते पुरुष को तृप्ति नहीं होती वह आवश्यक से अधिक भोजन करता है; आहार – द्रव्य भी शीत हो जाता है और चिरकाल भोजन करने से अग्नि (पाचक पित्त) के साथ संबंध सम न रहने से पाक भी विषम होता है । अतः अति मन्द गति से भोजन न करना चाहिए ।

अजल्पन्नहसन तन्मना भुञ्जीत । जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भुञ्जानस्य त एव हि दोषा भवन्ति य एवाऽतिद्रुतमश्नतः । तस्मादजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत ॥

—च० वि० १।४४

—बातचीत न करते हुए, न हँसते हुए, तन्मना (तन्मय) होकर भोजन करना चाहिए । बात करते, हँसते या अन्यत्रमना होकर खाते पुरुष को (उत्स्नेहनादि) वही विपरिणाम (अनिष्ट फल) होते हैं, जो अति द्रुत भोजन करने वाले को प्राप्त होते हैं । अतः बातचीत न करते हुए, न हँसते हुए, तद्‌गत – चित्त हो भोजन करना चाहिए ।

आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक् । इदं ममोपशेते इदं नोपशेत इत्येवं विदितं ह्यस्यात्मन आत्मसात्म्यं भवति । तस्मादात्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यगिति॥

—च० वि० १।४५

XX आत्मन इति पदेनात्मनैवात्मसात्म्यं प्रतिपुरुषं ज्ञायते, न शास्त्रोपदेशेनेति दर्शयति ॥

—चक्रपाणि

—अपनी – अपनी प्रकृति का सर्व प्रकार से सम्यक् विचार कर भोजन करना चाहिए । यह वस्तु मेरे लिए हित (सात्म्य) है, यह हित नहीं है, यह अपने को विदित हो तभी उसके शरीर के लिए सात्म्य (वस्तु का सेवन संभव) होता है । अतः आत्मा का (अपने शरीर का) सर्वथा विचार कर भोजन करना चाहिए ।

—यहाँ जो 'अपने को' हिताहित विदित होने की बात कही है, उसका तात्पर्य यह है कि पुरुष को अपने हिताहित का ज्ञान अपने आप (स्वानुभव से) ही होता है, शास्त्र के उपदेश से नहीं ।

रसान् द्रव्याणि दोषांश्च विकारांश्च प्रभावतः ।

वेद यो अदेशकालो च शरीरे च स नो भिषक् ॥

—च० वि० १।४६

जो रसों, द्रव्यों, दोषों, विकारों, देश, काल और शरीर को उनके प्रभाव (गुण – धर्म) के अनुसार जानता है, वही हमारे मत से भिषक् (वैद्य) है ।

इन प्रकृति आदि की दृष्टि से आहार हित न हो या उसका अहित प्रकार से सेवन हो तो वह विषमाशन कहाता है ।



अथ तिस्रैषणीयोऽध्यायः

ग्रन्थ के प्रारम्भ में वेद का साक्ष्य देकर हमने दर्शाया था कि वैदिक आर्यों के मत से इस शरीर का कितना महत्त्व है । इसी से इसके आरोग्य, उत्कर्ष और सुख का उन्हें सदा ध्यान रहता था । परन्तु उसकी भी मर्यादा थी । परलोक बिगड़े नहीं—प्रत्युत सुधरे, इसका भी वे सदा विचार करते थे । इस प्रकार परलोक और इहलोक दोनों में सुख–प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ (धनधान्य) तथा काम (इन्द्रिय–सुख) इन तीनों पुरुषार्थों को वे प्रत्येक पुरुष का लक्ष्य मानते थे । क्वचित् इसके साथ मोक्ष की भी गणना कर पुरुषार्थ चार माने गये हैं ।

आपाततः (प्रथम क्षण में) ये तीनों या चारों पुरुषार्थ परस्पर–विरुद्ध प्रतीत होते हैं । परन्तु इनका मर्यादित सेवन किया जाए तो यह विरोध नहीं रह जाता । मर्यादा के स्वरूप का ज्ञान वाचकों को प्राचीन–धर्म–ग्रन्थों तथा काव्यों से हो सकता है । यहाँ इतना ही कहना है कि तीनों–चारों पुरुषार्थों का कौशल–पूर्वक सेवन प्राचीन आर्यों में प्रसृत था, इसका अनुपान इसी एक बात से हो सकता है कि ऊपर घृत वातकलाकलीय अध्याय के अन्त में वात –पित्त–कफ आपाततः परस्पर–विरोध होते हुए भी शरीर में कैसे समावस्था में रह-सकते हैं, तथा परस्पर उपघात न करते हुए शरीर को भी कैसे आरोग्यादि प्रदान करते हैं इसके उपमान–रूप में इन कौशल–पूर्वक सेवित धर्म–अर्थ–काम को ही प्रस्तुत किया है । यही विषय चरक–सूत्र स्थान के एकादश अध्याय (तिस्रेषणीय अध्याय) में प्रकारान्तर से बताया है । अध्याय का पूर्वार्द्ध इस दृष्टि से अतीव उद्‌बोधक होने से यहाँ उद्धृत किया जाता है ।

अथातस्तिस्रैषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ —च० सू० ११।१-२

—अब तिस्रैषणीय अध्याय का उपदेश करेंगे, जिस प्रकार भगवान् आत्रेय ने इसका उपदेश किया ।

तिस्र=तीन, एषणाः=वाञ्छनीय पदार्थ, जिस अध्याय में उपदिष्ट हैं, उसका नामे तिस्रैषणीय है; यह इस अध्याय–वाचक शब्द की निरुक्ति (व्युत्पत्ति, विग्रह) है ।

इह[१] खलु पुरुषेणानुपहतसत्त्वबुद्धिपौरुषपराक्रमेण हितमिह चामुष्मिंश्च लोके समनुपष्यता तिस्र एषणाः पर्येष्टव्या भवन्ति । तद्यथा—प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति ॥ —च० सू० ११।३

X X पौरुषं शारीरं बलं, पराक्रमस्तु शौर्याख्यं मानसं बलम् । XXX
—**चक्रपाणि**

१—**चक्रपाणि** ने इह का अर्थ दिया है—**भोगार्थिपुरुषाधिकारे=भोगार्थी संसारी**—पुरुष के प्रकरण में ।

—संसारी पुरुष, जिसके सत्त्व (मन), बुद्धि, शारीर तथा मानस बल अकुण्ठित हैं, उसे इहलोक तथा परलोक में अपने हित को दृष्टि में रखते हुए तीन एषणाओं को सिद्ध (प्राप्त) करना चाहिए । ये तीन एषणाएँ अधोलिखित हैं—प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणा[1]।

अथ प्राणैषणोपदेशः

आसां तु खल्वेषणानां प्राणैषणां तावत्पूर्वतरमापद्येत । कस्मात् ? प्राणपरित्यागे हि सर्वत्यागः । तस्यानुपालनं—स्वस्थ्यस्य स्वस्थानुवृत्तिः, आतुरस्य विकारप्रशमनेऽप्रमादः । तदुभयमेतदुक्तं वक्ष्यते च । तद्यथोक्तमनुवर्तमानः प्राणानुपालनाद्दीर्घमायुरवाप्नोतीति प्रथमा प्राणैषणा व्याख्याता भवति ॥

—च० सू० ११।४

—इन तीनों एषणाओं में सर्वप्रथम प्राणैषणा के अनुष्ठान में प्रयास करना चाहिए । कारण ? प्राण (जीवन) का परित्याग (अभाव) होने से शेष सभी वस्तुओं का परित्याग हो जाता है—नाम, वे वस्तुएँ विद्यमान हों तो भी (स्वस्थ), जीवन के बिना अविद्यमानवत् होती हैं । उसका (जीवन का) संरक्षण दो प्रकार से होता है; स्वस्थ पुरुष का स्वस्थवृत्त का आचरण तथा आतुर (रोगी) का रोग – निवृत्ति में अप्रमाद । इस संहिता में इन दोनों का कुछ उपदेश किया है, आगे भी किया जाएगा । उसका यथोक्त (रीति से) अनुष्ठान करने से प्राण (जीवन) की रक्षा होने से दीर्घ आयु को पुरुष प्राप्त करता है । यह प्रथम प्राणैषणा की व्याख्या हुई ।

अथ धनैषणोपदेशः

अथ द्वितीयां धनैषणामापद्येत । प्राणेभ्यो ह्यनन्तरं धनमेव पर्येष्टव्यं भवति । न ह्यतः पापात्पापीयो यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः । तस्मादुपकरणोपायाननुव्याख्यास्यामः तद्यथा—कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यराजोपसेवादीनि, यागि चान्यान्यपि सतामविगर्हितानि

१—एषणा का विग्रह **चक्रपाणि** ने दिया हैः **इष्यतेऽन्विष्यते साध्यतेऽनयेत्येषणा**—जिसके द्वारा (प्राण, धन, और परलोकादि का) एषण, अन्वेषण, साधन (संपादन) किया जाय उसे **एषणा** कहते हैं ।

एषणा शब्द इस अर्थ में प्राचीन वाङ्मय में प्रसिद्ध है । यथा—शतपथ ब्राह्मण में संन्यासियों के लिए कहा है—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लौकेषणायाश्च व्युत्थायाथ भैक्षचर्य चरन्ति ॥

शत० कां० १४ (प्र०५, ब्रा० २, कं० १)

—संन्यासी लोक, पुत्रैषणा, वित्तैषणा (धनैषणा) एतथा लोकैषणा (लोक में ख्याति) से ऊपर उठ—इनसे विमुख हो—भिक्षाटन करते मोक्ष – मार्ग पर विचरण करते हैं ।

कर्माणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्तुम् । तथा कुर्वन् दीर्घजीवित जीवंत्यनवमतः पुरुषो भवति । इति द्वितीया धनैषणा व्याख्याता भवति ॥ —चि० सू० ११।५

XXX पापशब्देन पापकार्य दुःखमुच्यते[1] । उपकरणमारोग्यभोगधर्मसाधनीभूतो धनप्रपञ्च[2] XXX अन्यान्यपीति प्रतिग्रहाध्यापनादीनि[3] । वृतिर्वर्तनं, पुष्टिर्धनसंपत्तिः[4] । अनवमतोऽनवज्ञातो बहुमानगृहीत इति यावत्[5] । X X X ॥

—चक्रपाणि

—प्राणैषणा के अनन्तर (महत्त्व की दृष्टि से उससे) दूसरी धनैषणा का संपादन करना चाहिए । कारण, प्राणों के अनन्तर (प्राणों की चिन्ता करने के पश्चात्) धन ही साध्य (संपादनीय) होता है । धनहीन पुरुष की आयु दीर्घ (बड़ी) हो इस दुःख से बढ़कर कोई दुःख (इस जगत्) में नहीं है[6] । इसलिए धनोपार्जन के साधनों का निर्देश करेंगे । तद्यथा—कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, राजा (तथा अन्य सेव्य) की सेवा, (दान-ग्रहण, अध्यापन) आदि; एवं अन्य भी सत्पुरुषों से अनिन्दित तथा जीवन–निर्वाहोपयुक्त द्रव्योपार्जन के हेतुभूत जो भी कर्म प्रतीत हों उन्हें करे । ऐसा करता हुआ पुरुष दीर्घ जीवन–लाभ करता है तथा अनादर नहीं प्राप्त करता, प्रत्युत (बहुजन समाज में) आदरणीय होता है । सो यह द्वितीय धनैषणा की व्याख्या हुई[7] ।

१—पाप शब्द से यहाँ पाप का कार्य—भूत दुःख कथित है ।

२—उपकरण का अर्थ साधन होता है । यहाँ आरोग्य, भोग और धर्म का साधनभूत धन–प्रपञ्च (धन का बाहुल्य) गृहीत है ।

३—'अन्य भी' शब्द से प्रतिग्रह (दान–ग्रहण), अध्यापन प्रभृति (गृहीत) हैं ।

४—वृत्ति=वर्त्तन, जीवन–निर्वाह; पुष्टि=धन का आधिक्य ।

५—अनवमतः=जिसकी अवज्ञा (अनादर; तिरस्कार) न की जाए ऐसा, नाम अत्यन्त आदृत, सत्कृत, बहुमत ।

६—इस वचन से तथा आगे कहे इस वाक्य से कि धनवान् पुरुष अतिरस्कृत जीवन जीता है, कितने अनुभूत सत्य का प्रकाशन तन्त्रकार ने किया है । इससे उनकी जीवन के प्रति दृष्टि भी अभिव्यक्त होती है ।

७—लोक में तथा वाङ्मय में भी काम की गणना पुषषार्थों या काम्य (एषणीय) पदार्थों में है । यहाँ उसका परिगणन न देख उसका समाधान करता चक्रपाणि चू० सू० ११।३ पर कहता है—

परलोकोपकारकस्य धर्मस्यैषणा परलोकैषणा । कामैषणा तु प्राणैषणाधर्नैषणयोरन्तर्भावनीया, शरीरसंपत्ति धनसम्पत्तिसाध्यत्वात्कामस्य । यदि वा कामैषणायां स्वत एव पुरुषः प्रवृतो भवति नोपदेशमपेक्षत इति तदेषणोपदेशो न कृतः ॥

परलोक में उपकारक (उपयोगी) धर्म की एषणा का नाम है परलौकैषणा । कामैषणा का अन्तर्भाव प्राणैषणा और धनैषणा में ही कर लेना चाहिए । कारण, काम

अथ परलोकैषणोपदेशः

अथ तृतीयां परलोकैषणामापद्येत । संशयश्चात्र कथम् ? भविष्याम इतश्च्युता न वेति ? कुतः पुनः संशय इति ? उच्यते—सन्ति ह्येके प्रत्यक्ष परोक्षत्वात्पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रितः । सन्ति चागमप्रत्ययादेव पुनर्भवमिच्छन्ति । श्रुतिभेदाच्च—

'मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम् ।

स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः' ॥ इति ॥

अतः संशयः—किन्नु खल्वस्ति पुनर्भवो न वेति ॥ —च० सू० ११।६

XXX इतश्च्युता इह जन्मनि मृताः । भविष्यामो जन्मान्तर इत्यर्थः[1] । XXX प्रत्यक्षपरा अनुमतप्रत्यक्षैकप्रमाणाः । XX नास्ति पुनर्भवो नास्ति कर्मफलं नास्त्यात्मेत्यादिनास्तिना प्रचरतीति नास्तिकः । तस्य भावो नास्तिक्यम् । यत् प्रत्यक्षप्रमाणेनोपलभ्यते घटपटादि तदेव परमस्ति । नोपलभ्यते च प्रत्यक्षेण परलोकः। तस्मान्नास्ति परलोक इति नास्तिकाभिप्रायः[2] । XXX मातरपितरावेवात्मान्तरनिरपेक्षावपरत्योत्पादने कारणम् । तेन, पूर्वशरीरं परित्यज्य शरीरान्तरपरिग्रहरूप आत्मनः परलोको नास्तीति प्रथमवादिनः पक्षः[3] । परिदृश्यमान – पृथिव्यादिभावानामेवायं स्वभावो यत्र—संयोगवशान्मिलिताः सन्तश्चेतनं पुरुषादिलक्षणं कार्यविशेमारभन्ते । यथा सुराबीजादीनि प्रत्येकममदकराण्यपि मदकरं

शरीर – संपत्ति और धन संपत्ति से ही साध्य (संपादनीय) होता है । अथवा, काम की एषणा का उपदेश यह सोच कर (आचार्य ने) नहीं किया है कि कामैषणा में तो पुरुष स्वतः (उपदेश के बिना ही) प्रवृत्त होता है, उसके लिए उपदेश की अपेक्षा नहीं रखता ।

१—यहाँ से च्युत हुए=इस जन्म में मृत; होंगे=जन्मान्तर में उत्पन्न होंगे ।

२—प्रत्यक्ष जिनके लिए पर (प्रधान, एकमात्र प्रमाण) है ऐसे; नाम, प्रत्यक्ष ही एक (मात्र) प्रमाण जिन्हें अनुमत (स्वीकृत) हैं ऐसे (चार्वाकादि) XX । (नास्तिक की व्युत्पत्ति यह है)—पुनर्जन्म (जैसी कोई वस्तु) नहीं है, कर्मफल नहीं है, आत्मा नहीं है, इस **प्रकार नास्ति** (नहीं है) द्वारा जो व्यवहार करता है उसका नामा **नास्तिक** है। (इसके विपरीत इन्हीं वस्तुओं के लिए जो कहता है कि इसमें प्रत्येक अस्ति = है उसे **आस्तिक** कहते हैं) । नास्तिक का भाव नास्तिक्य (कहाता है) । प्रत्यक्ष प्रमाण से (इन्द्रियों से) जो उपलब्ध होता है वह घट – पट आदि ही केवल है (शेष कुछ नहीं) । और प्रत्यक्ष से परलोक उपलब्ध (ज्ञात) होता नहीं । अतः परलोक नहीं है, यह नास्तिक का मन्तव्य है ।

३—माता पिता ही (अपने से) भिन्न आत्मा (नाम वस्तु की) से निरपेक्ष हो— उसकी सहायता की आवश्यकता रखे बिना ही – संतान की उत्पत्ति में कारण हैं । अतः पूर्व शरीर का त्याग कर अन्य शरीर का ग्रहण – रूप जो आत्मा का परलोक (माना जाता) है वह नहीं है, यह प्रथम वादी का (जो माता – पिता को ही जन्म का—शरीरोत्पत्ति और उसमें चैतन्य का—कारण मानता है उसका) पक्ष या मत है ।

मद्यमारभन्ते । नात्र कश्चिदात्मा विद्यते, यस्य परलोकःस्यादिति स्वभाववादिनो भावः[1] । पर ऐश्वर्यादिगुणयुक्तः आत्मविशेषः, तेन संसार्यात्मनिरपेक्षिणा निर्माणं परनिर्माणम् । तत्रापि परस्यैश्वर्यादिगुणयुक्तस्यात्मविशेषस्य प्रभावाद्भूतानि चेतयन्ते नात्मान्तरमस्तीति परलोकाभावः[2] । XXX ॥

→ चक्रपाणि

—इसके अनन्तर (प्राणैषणा और धनैषणा का संपादन हो चुके तब)[3] पर लौकैषणा का संपादन (साधन) करें । इस विषय में संशय उत्पन्न होता है कि इस जन्म में मरण के पश्चात जन्मान्तर में पुनः उत्पन्न होंगे या नहीं ?

यह संशय क्यों हुआ ? उत्तर देते हैं—कुछ एक (वादी) प्रत्यक्ष को ही प्रधान (एकमात्र प्रमाण) मानने वाले (चार्वाक आदि) हैं जो पुनर्जन्म के परोक्ष (अप्रत्यक्ष) होने से नास्तिकता (परलोकादि नहीं हैं इस मत का) अवलम्बन किए हुए हैं ।

(संशय का कारण यह है कि) कई जन (आगे कहे जाने वाले) आगम प्रमाण पर विश्वास करके ही पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं ।

(संशय का तृतीय कारण यह है कि) श्रुतियों में[4] भी इस विषय में मतभेद पाया जाता है । इस कारण भी संशय है । (श्रुतियों में प्रसिद्ध है)—

'कई लोक माता – पिता को ही (वर्तमान) जन्म का कारण मानते हैं । अन्य लोक स्वभाव को ही (वर्तमान जन्म का कारण कहते हैं) । कोई परमात्मा की ही कृति (आत्मा के बिना) इस जन्म को मानते हैं; तो कोई इसे यदृच्छा

१—दृष्टिगोचर होने वाले पृथ्वी आदि पदार्थों का (महाभूतों का) ही यह स्वभाव है कि वे (स्वयं अचेतन होते हुए भी) संयोगवश मिश्रित हो पुरुष आदि (प्राणी – रूप) चेतन कार्य-विशेष को उत्पन्न करते हैं; जैसे सुराबीज (किण्व, खमीर) आदि प्रत्येक द्रव्य (पृथक्) मादक न होते हुए भी मद्य को उत्पन्न करते हैं । सो यहां (चेतन शरीर की उत्पत्ति में) कोई आत्मा नहीं है जिसका परलोक (पुनर्जन्म) होता हो, यह स्वभाववादी का पक्ष (मत) है ।

२—पर का अर्थ है ऐश्वर्यादिगुणयुक्त आत्म – विशेष (जिसे परमात्मा नाम से लोक जानते हैं) । संसारी (लोक में आत्मा नाम से प्रसिद्ध) आत्मा से निरपेक्ष हुए उसी (परमात्मा से जो निर्माण हो उसे परिनिर्माण कहते हैं । अर्थात्—परमात्मा ही चेतन शरीरों को उत्पन्न करता है) । इस पक्ष में भी पर नाम ऐश्वर्यादि – गुणशाली आत्मविशेष के प्रभाव (सामर्थ्य) से ही प्राणी चैतन्ययुक्त होते हैं; अन्य आत्मा (कोई) नहीं है, अतः परलोक भी नहीं है । (यह पर—निर्माणवादी पक्ष का मन्तव्य है) ।

३—धर्मग्रन्थों तथा दर्शनशास्त्रों में भी गृहस्थाश्रम के कर्तव्य पूर्ण करने के अनन्तर ही संन्यास-ग्रहण का विधान है ।

४—श्रुति का अर्थ यहाँ वेदादि शास्त्रवचन नहीं है । परन्तु जो सुनने में आए ऐसा, प्रतिवादी का वचन है । **(श्रूयते इति श्रुतिः, प्रतिवादिवचनम्—चक्रपाणि)**

(आकस्मिक घटना) ही बताते हैं ।' इस कारण संशय होता है कि—पुनर्जन्म है या नहीं ?

नास्तिक्य-बुद्धिपरित्यागोपदेशः

तत्र बुद्धिमान्नास्तिक्यबुद्धिं जह्याद्विचिकित्सां च । कस्मात् ? प्रत्यक्षं ह्यल्पम्; अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते । यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि ॥ —च० सू० ११।७

XXX विचिकित्सा संदेहः, सा चेह प्रकृतत्वात् परलोकविषयैव । XX प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षविषयं घटपटादि XX ॥ **—चक्रपाणि**

(इन मतवादियों में प्रत्यक्ष को ही एक प्रमाण मानने वाले नास्तिक के मत को प्रथम लक्ष्य कर कहते हैं) —

—बुद्धिशाली पुरुष को नास्तिकता के मत तथा परलोक – विषयक संशय का त्याग कर देना चाहिए । कारण ? प्रत्यक्ष नाम इन्द्रियों से विदित होने वाले घट-पटादि पदार्थ तो अल्प हैं, अप्रत्यक्ष ही अत्यधिक हैं, जिनका ज्ञान आगम (आप्त) तथा अनुमान प्रमाण और युक्ति से होता है । कौतुक की बात तो यह है कि जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष (पदार्थों) का ज्ञान होता है, स्वयं वे ही अप्रत्यक्ष हैं ।

प्रत्यक्षानुपलब्धौ हेतवः

सतां च रूपाणामतिसंनिकर्षादतिप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः । तस्मादपरीक्षितमेतदुच्यते—प्रत्यक्षमेवास्ति, नान्यदस्तीति ॥ —च० सू० ११।८

xxx अतिसंनिकर्षादनुपलब्धिर्यथा—नयनगतकज्जलादेः, अतिविप्रकर्षाद्यथा—दूराकाशगतस्य पक्षिणः, आवरणाद्यथा—कुड्यादिपिहितस्य घटादेः, करणदौर्बल्याद्यथा—कामलाद्युपहतस्य चक्षुषः पटशौक्ल्याद्यप्रतिभानं, मनोऽनवस्थानाद्यथा—क्रान्तामुखनिरीक्षणप्रहितमनसः पार्श्वागतवचनानवबोधः, समानाभिहाराद्यथा-विल्वराशिविष्टस्य विल्वस्येन्द्रियसंबद्धस्यापि भेदेनाग्रहणम्, अभिभवाद्यथा—मध्यंदिने उल्कापातस्य, सौक्ष्म्याद्यथा—त्रिचतुर्हस्तप्रमाणदेशवर्तिनः क्रिमिविशेषलिख्यादेरग्रहणम् ॥ **—चक्रपाणि**

—पदार्थ प्रत्यक्षोपलक्ष्य हों तो भी उनकी उपलब्धि (ज्ञान – प्रत्यक्ष) अधोलिखित कारणों से होती नहीं । अतिसंनिकर्ष (सामीप्य) के कारण; यथा, नेत्रगत कज्जलादि की; अति विप्रकर्ष (दूरी) के कारण; यथा, दूर आकाश में उड़ते पक्षी की; आवरण (व्यवधान) से; यथा; भित्ति आदि से आवृत्त घटादि की; इन्द्रियों के दौर्बल्य से यथा, कामला आदि से पीड़ित नेत्र को वस्त्र की शुक्लता आदि का भान (ज्ञान) नहीं होता; मन का संयोग (अवस्थान) न होने

से यथा, प्रिया के मुख के अवलोकन में जिसका मन लगा है ऐसे पुरुष को पार्श्व में आये पुरुष के वचन का बोध नहीं होता; समान (पदार्थों) के साथ संमिश्रण हो जाने से; यथा, एक बिल्व विल्वों की राशि में रख दिया जाए तो इन्द्रिय के साथ उसका संसर्ग होने पर भी (वही यह बिल्व है इस प्रकार) भिन्नता से प्रतीति नहीं होती; अभिभव के कारण, नाम पदार्थ की उपलब्धि दब जाने से, यथा; मध्याह्न में हुए उल्कापात की; सूक्ष्मता के कारण; यथा, तीन – चार हाथ की दूरी पर स्थित लिक्षा (लीख) आदि कृमि – विशेष का ग्रहण नहीं होता ।

अन्य इन्द्रियों के प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि के उदाहरणों की भी इसी प्रकार कल्पना कर लेनी चाहिए ।

श्रुतयश्चैता न कारणं, युक्तिविरोधात् ॥ —च० सू० ११।६

XX न कारणमिति न पुनर्भवप्रतिषेधे कारणमित्यर्थः ॥

युक्तिविरोधादुपपत्तिविरोधात् ॥

—चक्रपाणि

अब श्रुतिभेदवादी (परलोक के विरोधक सुने जाने वाले विभिन्न मतों के कारण संशयालु पुरुष) के मत का दूषण (खण्डन) करते कहते हैं —

—ये श्रुतियाँ भी परलोक – पुनर्जन्म – के प्रतिबन्ध में कारण नहीं हैं (उसके अभाव को सिद्ध नहीं कर पातीं); क्योंकि युक्तियों का विरोध है (युक्तियाँ इन श्रुतियों की विरोधिनी हैं) ।

आत्मा मातुः पितुर्वा यः सोऽपत्यं यदि संचरेत् ।
द्विविधं संचरेदात्मा सर्वो वाऽवयवेन वा ॥
सर्वश्चेत्संचरेन्मातुः पितुर्वा मरणं भवेत् ।
निरन्तरं, नावयवः कश्चित्सूक्ष्मस्य चात्मनः ॥ च० सू० ११।६ – १०

XXX निरन्तरं तत्कालमेव । XX सूक्ष्मस्येत्यस्थूलस्य । स्थूलानां पृथिव्यादीनामवयवा भवन्ति, न तु सूक्ष्माणामाकाशकालमनोवृद्धिप्रभृतीनाम् । ततश्चावयवाभावादात्मनोऽवयवेन संचरणं दुरमपास्तमित्यर्थः ॥

—चक्रपाणि

—माता अथवा पिता का ही आत्मा अपत्य – शरीर में संचार करता है (और उसके कारण अपत्य – शरीर में चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है; न कि कोई आत्मा पूर्व शरीर का परित्याग कर अपत्य – शरीर में प्रविष्ट होता है, जिसके कारण उसमें चैतन्य की सृष्टि होती है, यह मान लिया जाए) तो आत्मा का यह प्रवेश दो प्रकार से हो सकता है—या तो संपूर्ण आत्मा अपत्य – शरीर में प्रविष्ट हो, या उसका अवयव । (दो में आप किस प्रकार प्रवेश मानते हो ?)

—यदि (कहो कि) संपूर्ण आत्मा का अपत्य – शरीर में प्रवेश होता है तो माता या पिता (जिसके भी आत्मा का समग्र भाव से अपत्य – शरीर में

प्रवेश संभाव्य नहीं है । अब जो कहो कि आत्मा का प्रवेश अवयवशः होता है, इस प्रकार माता–पिता और अपत्य दोनों में उसका अंश रहने से दोनों चैतन्ययुक्त रहते हैं, तो यह भी उपपन्न–युक्तियुक्त नहीं; कारण ? आत्मा सूक्ष्म है) सूक्ष्म आत्मा का अवयव हो ही नहीं सकता । अवयव तो पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों के होते हैं । आकाश, काल, मन, बुद्धि, (आत्मा) प्रभृति सूक्ष्म पदार्थों के अवयव नहीं होते । इस प्रकार अवयव का अभाव होने से अवयवशः भी माता–पिता के आत्मा का अपत्य–शरीर में संक्रान्त (संचरित) होना शक्य नहीं है ।

बुद्धिर्मनश्च निर्णीते, यथैवात्मा तथैव ते ।
येषां चैषा मतिस्तेषां योनिर्नास्ति चतुर्विधा ॥ —च० सू० ११।११

अथ शङ्क्यते—माऽऽत्मा मातापित्रोः संचरतु, बुद्धिस्तु तयोर्मनो वाऽपत्यं संचरतु, अत एवापत्यस्य चैतन्यं भविष्यतीत्याह—बुद्धिर्मनश्चेत्यादि । निर्णीते व्यवस्थापिते प्रमाणेन । किंभूतेनेत्याह—यथैवात्मा निरवयवत्वेनावयमसंचरणाक्षमस्तथा तत्कालमेव मातापितृपरित्यागप्रसंगेन कात्स्नर्येनापि संचरितुमक्षमः, तथा ते अपि बुद्धिमनसी निरवयवत्वान्नैकदेशेन संचरेयाताम्, मातापित्रोस्तत्कालसेवाबुद्धिमत्त्वामनस्कत्वप्रसंगाच्च न कात्स्नर्येन संचरेयातामिति भावः। दूषणान्तरमाह—येषामित्यादि । येषां मतिरिति मातापितरावेवापत्ये चैतन्यकारणमित्येवंरुपा । चतुर्विधा योनिरिति जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणा । एवं मन्यते-संस्वेदजानां मशकादीनां तथोद्भिज्जानां गण्डूपदादीनां चेतनानां मातापितरौ न विद्येते । ततस्तेषामचैतन्यं स्यात्, मातापित्रोश्चेतनकारणयोरभावादिति ।

—चक्रपाणि

—यदि शंका करो कि भले माता–पिता के आत्मा का (अपत्यशरीर में चैतन्योत्पादननिमित्त) संक्रमण न हो, उनकी (माता–पिता) बुद्धि और मन का अपत्य–शरीर में संचरण होता है, उससे अपत्य में चैतन्य होगा । इस आशङ्का का उत्तर 'बुद्धिर्मनश्च' इत्यादि पद्य द्वारा देते हैं ।

—बुद्धि और मन भी पूर्व कहे प्रमाण (युक्ति) द्वारा उत्तरित हो चुके हैं । कारण, जैसा आत्मा है, वैसे ही वे दोनों भी हैं । तात्पर्य, जैसे आत्मा निरवयव (अवयव–शून्य) होने से अवयवशः संचरण करने में अक्षम (असमर्थ) है, एवं तत्काल माता–पिता के परित्याग का प्रसंग (आपत्ति) उपस्थित हो जाने से संपूर्णतया[१] भी संचरण नहीं कर सकता, तद्वत् बुद्धि और मन भी निरवयव होने से एकदेश से (अपने किसी अवयव से संक्रान्त नहीं हो सकते; अपरंच, माता–पिता के तत्काल ही अबुद्धिमान् और मन-रहित हो जाने की आपत्ति खड़ी हो जाने से संपूर्णतया भी संचरित नहीं हो सकते ।

१—कृत्स्न=संपूर्ण; कात्स्नर्य=संपूर्णतया ।

इस वाद में अन्य दूषण भी 'येषां चैषा' आदि द्वारा प्रस्तुत करते हैं जो प्रतिवादी यह मानते हैं कि माता-पिता ही संतति में चैतन्य की उत्पत्ति में कारण हैं, उनके मत से जङ्गमों (प्राणियों) की चार प्रकार की योनि (भेद) सिद्ध न हो सकेगी । जरायुज, अण्डज, संस्वेदज और उद्भज्ज ये चार प्रकार की जङ्गम द्रव्यों की योनियाँ (प्रभेद) हैं । तात्पर्य, संस्वेदज मशक (मच्छर) आदि प्राणियों तथा उद्भिज गण्डूपद (गिंडोया) आदि चेतनों के माता-पिता ही नहीं होते । सो, माता-पिता को चैतन्य की उत्पत्ति में कारण मानो तो इनमें चैतन्य न होना चाहिए[1]। क्योंकि (आपके मत से चैतन्य के कारणभूत जो) माता-पिता, वे तो इनके हैं नहीं । (सो, आपका मत युक्ति–संगत नहीं है) ।

स्वभाववादिभतदूषणम्

विद्यात् स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत्स्वलक्षणम् ।
संयोगे च वियोगे च तेषां कर्मैव कारणम् ॥ —च० सू० ११।१२

स्वाभाविकवादिनो भूतचैतन्यपक्षं दूषयति-विद्यादित्यादि । स्वभावकृतं स्वाभाविकम् । षष्णां धातूनामिति पृथिव्यप्तेजीवाय्वाकाशात्सनाम् । एषां च धातुत्वं-

---

जङ्गमद्रव्याणां चतुर्विधत्त्वम्

१—सुश्रुत ने द्रव्यों (औषधियों) के प्रथम दो भेद बताए हैं—स्थावर और जङ्गम ।

फिर प्रत्येक के चार–चार भेद कहे हैं । इनमें प्रसक्त (प्रसंग–प्राप्त) होने से जङ्गमों के प्रभेदों का उल्लेख किया जाता है ।

द्रव्याणि पुनरोषधय । तास्तु द्विविधाः स्थावरा जङ्गमाश्च ॥ —च० सू० १।२८

—द्रव्य का अर्थ है औषधि । ये औषधियाँ दो प्रकार की हैं— स्थावर (वृक्ष–वनस्पति (और जङगम् (प्राणी) ।

स्थावरों का भेद बताकर आगे जङ्गमों के भेद निम्न शब्दों में तन्त्रकार ने बताए हैं—

जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः—जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्ञाः । तत्र पशुमनुष्यव्यालादयो जरायुजाः, खगसर्पसरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः, कृमिकीटपिपीलिकाप्रभृतयः स्वेदजाः, इन्द्रगोपमण्डूकप्रभृतप उद्भिज्ञाः ।

—सु० सू० १।३०

—जङ्गम द्रव्य भी चतुर्विध हैं—**जरायुज, अण्डज,** स्वेदज तथा उद्भिज्ज । जरायु (गर्भाशय) से उत्पन्न हुए, पशु, मनुष्य व्याल, (हिंस्रपशु या सर्पविशेष) आदि जरायुज हैं । पक्षी, सर्प (मन्दगामी अजगर प्रभृति), सरीसृप (शीघ्रगामी कृष्ण सर्पादि या मीन–मकरादि तथा आदि शब्द से गृहीत कर्म–नक्रादि) प्रभृति अण्डज (अण्डे से उत्पन्न) हैं । पृथ्वी का वाष्प (भाफ), शरीर के प्रस्वेद तथा कोष्ठगत पुरीष की उष्णता का नाम स्वेद है । उससे उत्पत्त वृश्चिक, षड्विन्दु आदि कृमि, कीट तथा पिंपीलका प्रभृति संस्वेदज कहाते हैं । इन्द्रगोप (बीरबहूटी) आदि पृथ्वी का उद्भेदन कर उत्पन्न होने वाले जङ्गम उद्भिज्ज कहाते हैं ।

शरीरधारणाज्जगद्धारणाच्च । स्वलक्षणमात्मीयमव्यभिचारिलक्षणम् । तच्च-पृथिव्याः काठिन्यादि, अपां द्रवत्वादि, तेजस उष्णत्वादि, वायोस्तिर्यग्गमनादि, आकाशस्याप्रतिघातादि, आत्मनो ज्ञानादि । एतेन एतदेव परमेषां लक्षणं स्वाभाविकं, न तावदात्मरहितानामेषां चैतन्यमपि स्वाभाविकमस्तीति दर्शयति । ततश्च यत्प्रत्येकं भूतानां न संभवति चैतन्यं, यतो भूतानामपि संयोगाच्चैतन्यसंभवे बहूनि चेतनानि स्युर्बाल्याद्यवस्थाभेदात् । ततश्च ज्ञातृभदात् प्रतिसंधानानुपपत्तिरिति भावः । आत्मसंबन्धेन तु चैतन्यं संमतमेवः परं तत्रापि गर्भोत्पतौ भूतानामात्मसंबंधे तथा मरणे भूतानामात्मनो वियोगे कर्मैव जन्मान्तरकृतं कारणं नान्यत् । तत् भूतसंयोगवियोगकारणजन्मान्तरकृतकर्मस्वीकारात् प्रेत्यभावः स्वीकृती भवतीति भावः।

—चक्रपाणि

—'विद्यात्' इत्यादि पद्य से तन्त्रकर्ता स्वभाव – वादी भूतचैतन्य पक्ष में (संयोग होने पर भूतों में ही स्वभावतः चैतन्य का प्रादुभाव होता है यह माननेवाले पक्ष में) दूषण प्रदर्शित करते हैं । छ धातुओं अर्थात् शरीर के धारण करने (निर्माण करने) तथा जगत् का धारण करने के कारण जिन्हें धातु संज्ञा प्राप्त हुई है ऐसे पृथ्वी, अप्, तेज (अग्नि), आकाश, वायु और आत्मा इन छ के स्वाभाविक लक्षण (स्वलक्षण, आत्मीय लक्षण, अव्यभिचारी[1] लक्षण) तो क्रमशः नीचे लिखे अनुसार होते हैं—पृथिवी के काठिन्य आदि, अप् के द्रवत्व आदि, तेज के उष्णत्व आदि वायु के तिर्यक् गमन आदि, आकाश के अप्रतिघात (किसी की गति में बाधा न उपस्थित करना – अवकाश – दान आदि) तथा आत्मा के ज्ञान आदि । तात्पर्य, इन भूतों के यही (उक्त) स्वाभाविक लक्षण हैं; आत्मा के बिना चैतन्य इनमें किसी भी भूत का स्वाभाविक लक्षण नहीं है । सो आत्मा के बिना चैतन्य आदि प्रत्येक पृथक् भूत का स्वाभाविक लक्षण संभाव्य नहीं है तो संयुक्त हुए उनमें भी चैतन्य की संभावना नहीं हो सकती । कारण, भूतों में भी चैतन्य का संभव होता तो बाल्य आदि अवस्थाओं के भेद के कारण चेतन बहुत से (संख्यातीत) होते (शरीर की जैसे वृद्धि होती जाती है वैसे – वैसे भूतों के प्रमाण – मात्रा – में वृद्धि होती जाने से नये – नये चेतनों की उत्पत्ति होकर अनेक चेतन होते; परन्तु यह स्थिति देखी नहीं जाती; अतः भूतों के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति संभाव्य नहीं है) । अपरंच (हमारे मत में तो एक ही समय में अथवा विभिन्न समयों में अनेक इन्द्रियों को होने वाले ज्ञान का प्रतिसंधान– परस्पर मेल – करने वाला एक आत्मा होने से कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होती; परन्तु तुम्हारे मत में) ज्ञाताओं का भेद (अनेकता) होने से प्रतिसंधान की शक्यता बन नहीं पायेगी । आत्मा के सम्बन्ध से चैतन्य की उत्पत्ति संमत (अदुष्ट) ही है ।

—गर्भ की उत्पत्ति होने पर भूतों के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है, तथा मरण होने पर भूतों से आत्मा का वियोग होता है । इस संयोग – वियोग

१—व्यभिचार का मुख्य और प्रसिद्ध अर्थ दम्पती में किसी का संबंध – त्याग है । इसका गौण अर्थ किसी भी गुण, परिभाषा आदि का गुणी आदि से संबंध न होना है । अव्यभिचार का अर्थ इसके विपरीत नित्य संबंध है ।

में (पूर्व) जन्मान्तर—कृत कर्म ही कारण है, अन्य कुछ नहीं । सो, भूतों के संयोग और वियोग हेतु—भूत जन्मान्तर—कृत कर्म के स्वीकार के कारण प्रेत्य—भाव (पुनर्जन्म; प्रेत्य=मरकर, भाव=होना, जन्म ग्रहण करना) भी स्वीकृत हो जाता है ।

परनिर्माणपक्षदूषणम्

अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः ।

पर आत्मा स चेद्धेतुरिष्टोऽस्तु परनिर्मितिः ॥ —च० सू० ११।१३

x x x नित्यत्वं चात्मनः शारीरे प्रतिपादयिष्यति । अथ शरीरमात्रस्य परनिर्माणमभि प्रेतं तदनुमतमेव । परेणात्मना धर्माधर्मसहायेन तस्य क्रियमाणत्वादित्याह—पर इत्यादि । हेतुरिष्ट इति शरीरोत्पादे हेतुरिष्ट इत्यर्थः । अस्तु, परनिर्मितिरीदृशी प्रेत्यभावाविरोधिनीति भावः ॥ x x x —**चक्रपाणि**

—(अब पर—निर्माण पक्ष में दोष दिखाते हैं)—आत्मा अनादि (नित्य, उत्पत्ति—विनाशरहित) है, उसका पर—निर्माण हो ही नहीं सकता । आत्मा नित्य कैसे है इसका प्रतिपादन आगे शारीरस्थान में करेंगे । हां, पर—निर्माण का अभिप्राय यदि केवल शरीर का निर्माण हो तो वह हमें अनुमत (स्वीकृत) है कारण--परमात्मा ही (प्रत्येक आत्मा के) धर्माधर्म की सहायता से इस शरीर को उत्पन्न करता है । इस अर्थ में परनिर्मिति (पर—निर्माण) प्रेत्यभाव—पुनर्जन्म--की विरोधिनी नहीं है (अतः हमें स्वीकृत है) ।

यदृच्छावादिमतदूषणम्

न परीक्षा न परीक्ष्यं न कर्ता कारणं न च ।

न देव नर्षयः सिद्धाः कर्म कर्मफलं न च ॥

नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः ।
पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः ॥ —च० सू० ११।१४—१५

यदृच्छावादी खल्वेकमपि प्रमाणं नानुमन्यते । ततश्च तस्याप्रामाणिकत्वात् प्रमाणं विनैव यत्किंचिद्ब्रुवतो न श्रद्धेयं वचनं भवति । तस्मादुपेक्षणीय एवायमिति प्रकरणाभिप्रायः । —पातकेभ्यो ब्रह्मवधादिभ्यः, पर श्रेष्ठ, नास्ति परलोक इत्यादिको ग्रहो नास्तिकग्रहः । नास्तिकबुद्धया ह्युच्छृङ्खलः पुरुष सर्वमपि पातकं करोतीति भावः ॥ —**चक्रपाणि**

—(शेष रहा) यदृच्छावादी तो एक भी प्रमाण को नहीं मानता । अतः वह स्वयं ही अप्रामाणिक है । प्रमाण के बिना ही वह यत्किंचित् प्रलपन करता है, जिससे उसका वचन श्रद्धेय नहीं है । अतः यह सर्वथा उपेक्षणीय ही है ।

—यदृच्छा (अकस्मात् ही कार्योत्पत्ति होना इस मत) से जिसकी बुद्धि विनष्ट हो गयी है ऐसे यदृच्छावादी नास्तिक के मत में प्रमाणाभाव के कारण

न परीक्षा होती है, न परीक्ष्य, न कर्त्ता, न कारण, न देव, न ऋषि, न सिद्ध, न कर्म और न कर्मफल ।

—(इस नास्तिकता का सबसे बड़ा विपरिणाम यह होता है कि) परलोकादि को न माननेवाला नास्तिक पुरुष सर्वथा उच्छृङ्खल हो पातकमात्र करने को प्रेरित होता है । इसी से जितने भी ब्रह्मवधादि पातक हैं उन सब से श्रेष्ठ (उनसे बढ़कर) यह नास्तिकवाद-रूप पातक है ।

तस्मान्मतिं विमुच्यैताममार्गप्रसृतां बुधः ।
सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत्सर्वं यथातथम् ॥ इति —च० सू० ११।१६

XX अमार्गे अधर्मे प्रसृता अमार्गप्रसृता । बुद्धिरेव प्रदीपो बुद्धिप्रदीपः ॥ तेन प्रत्यक्षादिप्रमाणेन पश्येदित्यर्थः । यथातर्थं यथास्वरूपमित्यर्थः ॥

—**चक्रपाणि**

—(प्रकरण का सारसंग्रह करते तन्त्रकार कहते हैं)—इसलिए नाम नास्तिकता सर्व पापों में श्रेष्ठ है इस बात को दृष्टि में रखते हुए, बुद्धिशाली को अधर्म मार्ग में प्रवृत्त हुई नास्तिक्य– बुद्धि का परित्याग कर सत्पुरुषों के बुद्धिरूप प्रदीप से अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्व पदार्थों का यथावत् ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।

उपसंहार में तथा ऊपर भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों की परीक्षा का उपदेश किया है । इन्हीं का विवरण आगे तन्त्रकार देते हैं—

प्रत्यक्षादिप्रमाणविवरणम्

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च । तस्य चतुर्विधा परीक्षा – आप्तोपदेशः प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, युक्तिश्चेति ॥ —च० सू० ११।१७

X X X सदिति X भावरूपम् । असदिति X अभावरूपम् । परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा प्रमाणानि[1] ॥ —**चक्रपाणि**

—विश्व में जो सब कुछ है वह दो प्रकार का है (उसे दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है) —सत् तथा असत् । भावरूप जो पदार्थ हैं उन्हें सत् तथा अभावरूप को असत् कहते हैं । इनके (ज्ञान के उपाय रूप) प्रमाण चार हैं—आप्तोपदेश (आगम, शब्द), प्रत्यक्ष, अनुमान तथा युक्ति ।

प्रत्येक का विवरण स्वयं ग्रन्थकार करते हैं । इनमें प्रथम आप्तोपदेश का निरूपण करने के लिए आप्तों का लक्षण देते हैं—

१—परीक्षा शब्द का यहाँ अर्थ है प्रत्यक्षादि प्रमाण । प्रमाण के द्वारा वस्तुओं के स्वरूप की परीक्षा की जाती है, उसे व्यवस्थापित (स्पष्ट स्वरूप में स्थापित) किया जाता है, अतः प्रमाण को परीक्षा कहा है ।

आप्तास्तावत्

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥

—च० सू० ११।१८—१६

x x निःशेषेण मुक्ता निर्मुक्ताः x x । त्रिकालमिति अती तानागतवर्तमानविषयम्। अमलमिति यथार्थग्राहित्वेन । अव्याहतमिति क्वचिदपि विषयेऽकुण्ठितशक्तित्वेन ।

आप्ती रजस्तमोरूपदोषक्षयः । तद्युक्ता आप्ताः । शासति जगत्कृत्स्नं कार्याकार्यप्रवृत्तिनिवृत्युपदेशेनेति शिष्टाः । बोद्धव्यं विशेषण बुद्धमेतैरिति विबुद्धाः ।

xx वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं, न कस्मादपीत्यर्थः । असत्यं मिथ्याविज्ञानाद्वाऽभिधीयते सम्यग्ज्ञाने सत्यपि रागद्वेषाभ्यां वाऽभिधीयते । तच्च त्रितयमपि मिथ्याज्ञानरागद्वेषरूपं रजस्तमोनिर्मुक्ते सत्त्वगुणोद्रेकादमलविज्ञाने न संभवतीत्यर्थः xx । एतेन आप्तोपदेश इति शब्दरूपप्रमाणलक्षणमुक्तं भवति xxx ॥

—चक्रपाणि

—**आप्त** किन्हें कहते हैं ?—

—तप और ज्ञान के बल से जो रजोगुण और तमोगुण से पूर्णतया मुक्त (रहित) हैं जिनका ज्ञान सदा त्रैकालिक (अतीत – भूत, अनागत – भविष्य – और वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान विषयों से सम्बन्ध रखनेवाला), निर्मल (विषय का यथार्थ ग्रहण करने वाला) तथा अव्याहत (जो किसी भी विषय में कुण्ठित होने वाला – रुकनेवाला – न हो ऐसा) हो वे **आप्त** हैं, वे शिष्ट हैं, वे विबृद्ध हैं । उनका वाक्य निःसंशय सत्य होता है । रज और तम से रहित वे आप्त असत्य कह ही कैसे सकते हैं भला ?

आगे कहा है कि ऐसे आप्तों का कथन है कि पुनर्भव (पुनर्जन्म तथा परलोक) हैं । अतः उस पर विश्वास करना ही चाहिए ।

उक्त प्रकरण की उद्धृत टीका में **चक्रपाणि** कहता है—

—रज और तम रूप दोषों के क्षय का नाम है **आप्ति** । उससे जो युक्त हो उन्हें आप्त[1] कहते हैं । जो संपूर्ण जनों को कर्तव्य में प्रवृत्ति और

१—न्यायसूत्र अ० १ । आ०१ । सू०७ के भाष्य में आप्त के विषय में भाष्यकार **वात्स्यायन** के वचन द्रष्टव्य होने से उद्धृत किए जाते हैं—

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा । साक्षात्करणमर्थैस्याप्तिः । तया वर्तत इत्याप्तः । ऋष्यार्यम्लेच्छाना समानं लक्षणम् । तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्तन्त इति ॥

अकर्तव्य से निवृत्ति का उपदेश देकर उनका शासन (विनयन) करते हैं उन्हें शिष्ट कहते हैं । बोद्धव्य नाम ज्ञातव्य वस्तुओं को जिसने विशेष रूप से जान लिया है उन्हें विबुद्ध कहते हैं ।

—ये आप्त जन असत्य क्यों कहेंगे ? कदापि नहीं । कारण, असत्य मिथ्याज्ञान होने से बोला जाता है किंवा सत्यज्ञान होने पर भी रागद्वेष – वश । परन्तु यहाँ तो रज और तम से शून्य, सत्त्वगुण के उद्रेक (उदय) के कारण विमल ज्ञान में ये तीनों (अज्ञान, राग और द्वेष) संभाव्य ही नहीं ।

अब प्रत्यक्ष का लक्षण देखिए

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां संनिकर्षात् प्रवर्तते ।

व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥

—च० सू० ११।२०

xx व्यक्ता इत्यनेनव्यभिचारिणीमयथार्थबुद्धिं संशयं च निराकरोति ।

xx तदत्वे तत्क्षणम् । अनेन च प्रत्यक्षज्ञानान्तरोत्पन्नानुमानज्ञानं स्मरणं च परम्परयाऽऽत्मेन्द्रियमनोर्थसंनिकर्षजं व्यवच्छिनत्ति । आत्मादिचतुष्टयसंनिकर्षाभिधानं च प्रत्यक्षकारणाभिधानपरम्; तेन 'इन्द्रियार्थसंनिकर्षात् प्रवर्तते या' इत्येतावदेव लक्षणं बौद्धव्यम् । एतेन सुखादिविषयमपि प्रत्यक्षं गृहीतं भवति; तत्र हि चतुष्टयसंन्निकर्षो नास्ति । आत्मसंनिकर्षस्तु प्रणाणज्ञानसाधारणत्वेनैव लक्षणानुपयुक्तः । इह च प्रत्यक्षफलरूपाऽपि बुद्धिः प्रत्यक्षशब्देनाभिधीयते, तथैव लोकव्यवहारात् । परमार्थतस्तु यतो भवतीन्द्रियादेरीदृशी बुद्धिस्तत्प्रत्यक्षम् । —**चक्रपाणि**

आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ इनके संनिकर्ष (संबंध)[१] से तत्क्षण जो व्यक्त (स्पष्ट) बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं ।

चक्रपाणि व्याख्या करता हुआ कहता है—

—'व्यक्त' ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है । इस व्यक्त शब्द के उपादान (ग्रहण, उपयोग) से अयथार्थ ज्ञान (व्यभिचारी ज्ञान, सत्य ज्ञान उत्पन्न होने

—आप्त उसे कहते हैं, जिसने किसी पदार्थ के धर्म (स्वरूप) का साक्षात्कार (उपलब्धि) किया हो, और पश्चात् उसका तत्त्व जैसा जाना हो वैसा जतलाने की इच्छा से प्रेरित हो उसका उपदेश (कथन) करे । किसी पदार्थ के साक्षात्कार (प्राप्ति, उपलब्धि, ज्ञान) का नाम है आप्ति; उससे जो प्रवृत हो उसे आप्त कहते हैं । ऋषि, आर्य और म्लेच्छ तीनों का यह समान लक्षण है । (तीनों आप्त हो सकते हैं) । उस (आप्तोपदेश) के द्वारा संपूर्ण (लोक—) व्यवहार चलते हैं ।

१—दर्शनिकों के पथ का अनुसरण करते चक्रपाणि ने इस संबंध के छ भेद बताए हैं—

संयोग, समवाय, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवेतसमवाय तथा विशेष्यविशेषणभाव । इनके अर्थोदाहरण गुरुमुख से जानने चाहिए ।

से पूर्व हुआ मिथ्याज्ञान)[1] तथा संशयित ज्ञान (यथा दूर से इन्द्रियगोचर हुई वस्तु में यह धूम या धूलि ऐसा संशयापन्न ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहाता, यह ग्रन्थकार का आशय है[2] ।

—'तदात्वे' (तत्क्षण, तत्काल) जो बुद्धि या ज्ञान उत्पन्न हो उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं । इससे प्रत्यक्ष – ज्ञान हो चुकने के अनन्तर उत्पन्न अनुमान – ज्ञान तथा परम्परया आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ के संनिकर्ष से हुआ स्मरण – ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहाता, यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है ।

—आत्मादि चार के संनिकर्ष (संबंध) का यहाँ जो उल्लेख हुआ है वह प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणों का (सामग्री का) निर्देश करने के लिए ही हुआ है । प्रत्यक्ष का लक्षण त्सत्यं इतना ही समझना चाहिए कि—'इन्द्रियों और अर्थों के संनिकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं ।' यह लक्षण स्वीकार करने से सुखादि – विषयक ज्ञान का भी प्रत्यक्षज्ञानतया ग्रहण

१—न्यायसूत्र अ०१ । आ० १ । सू० ४ (प्रत्यक्ष के लक्षण) में आए अव्यभिचारी विशेषण की व्याख्या करते भाष्यकार **वात्स्यायन** सुन्दर पदों में कहते हैं—

ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा संनिकृष्यन्ते तत्रेन्द्रियार्थसंनिकर्षादुदकमिति ज्ञानमुत्पद्यते । तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यत इत्यत आह-अव्यभिचारीति । यदतस्मिंस्तदिति तद् व्यभिचारि; यत्तु तस्मिंस्तदिति तदव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति ॥

—(मृगमरीचिका को उद्दिष्ट कर कहते हैं)—ग्रीष्म ऋतु में सूर्यकिरणें पार्थिव उष्णता से संयुक्त हो स्पन्दन करती हुई—हिलती हुई—दूरस्थ पुरुष के चक्षुरिन्द्रिय के संनिकर्ष में आती हैं । इस प्रकार इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से यह जल है, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी प्रत्यक्ष ज्ञान है ऐसी प्रसक्ति (आपत्ति) होती है । उसके निवारण के लिये यहाँ 'अव्यभिचारि' यह विशेषण प्रयुक्त किया है । जो वस्तु वह नहीं है, उसके विषय में वह है ऐसा जो ज्ञान होता है, उसे **व्यभिचारि** कहते हैं । उस वस्तु के विषय में वह है ऐसा ज्ञान **अव्यभिचारि** कहाता है और वही प्रत्यक्ष होता है ।

२—**आगे व्यवसायात्मक** (निश्चयात्मक, अवधारणात्मक) ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं इसकी व्याख्या करते वात्स्यायन कहते हैं—

दूराच्चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयति धूम इति वा रेणुरिति वा । तदेतदिन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यत इत्यत आहव्यवसायात्मकमिति ।

दूर से चक्षु से पदार्थ – विशेष को देखता हुआ कोई पुरुष आवधारण या निश्चय नहीं कर पा रहा कि—यह धूम है या धूलि ? सो इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्न यह अनवधारण – ज्ञान भी प्रत्यक्ष होने का प्रसंग आता है—अतः लक्षण में शब्द प्रयोग किया है—व्यवसायात्मक ।

हो जाता है । कारण, उसमें चारों का संनिकर्ष होता नहीं (अतः चारों के संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानें तो उसको प्रत्यक्ष कहना संभव न होगा) । आत्मा का संनिकर्ष तो प्रमाण से होने वाले सभी ज्ञानों में साधारण (सामान) कारण है, अतः (विशेषतया प्रत्यक्ष का) लक्षण बताने के लिए उसका निर्देश उपयुक्त नहीं ।

—(प्रत्यक्ष शब्द के पारमार्थिक—वास्तविक तथा लोक–प्रसिद्ध अर्थों में भेद बताते हुए **चक्रपाणि** कहते हैं)—यहाँ अगले वाक्य में कहे जाने वाले प्रत्यक्ष की परिणामस्वरूप जो बुद्धि या ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहा है; कारण, लोक व्यवहार ऐसा ही है । (लोक में, प्रत्यक्षजन्य ज्ञानविशेष को ही प्रत्यक्ष कहा जाता है) । यत्सत्यं, इन्द्रियादि जिन प्रमाणों या ज्ञान–साधनों से ऐसी बुद्धि या ज्ञान हमें होता है, उनका नाम प्रत्यक्ष है ।

अब अनुमान का लक्षण देखिए

प्रत्यक्षपूर्व त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते ।
वह्निर्निगूढ़ो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ।।
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम् ।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः ।।

—च० सू० ११।२१ – २२

अनुमानस्वरूपमाह—प्रत्यक्षेत्यादि । प्रत्यक्षग्रहणं व्याप्तिग्राहकप्रमाणोपलक्षणार्थम्; तेन प्रत्यक्षपूर्वमिति व्याप्तिग्राहकप्रमाणपूर्वकम् । त्रिविधमित्यनुमानत्रैविध्यं दर्शयति । तेन कार्यात्कारणानुमानं, यथागर्भदर्शनान्मैथुनानुमानम्; तथा कारणात्कार्यानुमानं यथा —बीजात्सहंकारिकारणान्तरयुक्तात्फलानुमानम्; तथा, अकार्यकारणभूतानां च सामान्यतोदर्शनानुमानं, यथा—धूमाद्वर्तमानक्षणसंबन्धादग्न्यनुमानम्, एतत्त्रि-विधमनुमानं गृहीतं भवति । त्रिकालमित्यनेन त्रिकालविषयत्वमनुमानस्य दर्शयति । अनुमीयते इत्यत्र 'येन तदनुमानम्' इति वाक्यशेषः । तेन व्याप्तिग्रहादनु अनन्तरं मीयते सम्यङ्निश्चीयते परोक्षार्थो येन तदनुमानम्; व्याप्तिस्मरणसहायलिङ्ग दर्शनमित्यत्यर्थः ।। XXX ।।

—चक्रपाणि

—अनुमान का स्वरूप बनाते हैं—**अनुमान** उसे कहते हैं जिसके द्वारा प्रत्यक्ष – पूर्वक नाम व्याप्ति[1] का ज्ञान कराने वाले (पुनःपुनः) प्रत्यक्ष – प्रमाणपूर्वक त्रिकाल – विषयक तीन प्रकार का ज्ञान होता है ।

१—व्याप्ति का विवरण पदार्थ – विज्ञान में विद्यार्थी गुरुमुख से प्राप्त करेंगे, अतः यहाँ विवेचन नहीं किया है ।

—त्रिविध अनुमानों के उदाहरण क्रमशः ये हैं—निगूढ नाम परोक्ष (अप्रत्यक्ष) अग्नि का धूम के दर्शन से अनुमान होता है (यह वर्तमान–कालिक परीक्ष वस्तु के ज्ञान का उदाहरण हुआ)। एवं, गर्भ के दर्शन से मैथुन (व्यवाय, ग्रामधर्म) का अनुमान होता है। इस प्रकार बुद्धिशाली जन अतीतकालिक वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं। एवं बीज को देखकर अनागत **(भविष्यत्कालिक)** फल का अनुमान करते हैं। उधर, उत्पन्न हुए (वर्तमान में प्रत्यक्ष) सदृश फल को देख उसकी बीज से उत्पत्ति का अनुमान करते हैं (यह अतीतिकालिक अनुमान का ही द्वितीय उदाहरण है)।

—टीका में चक्रपाणि कहता है—अनुमान तीन प्रकार का होता है। १—कारण से नाम कारण को प्रत्यक्ष कर कार्य का अनुमान; यथा बीज से फल का अनुमान। यहाँ 'सहकारिकारणान्तर–युक्त नाम अन्य सहकारी कारणों से युक्त' यह बीज का विशेषण समझना चाहिए। (यतः जलदान आदि सहकारी अन्य कारण विद्यमान हों तो बीज अकेला अंकुरित एवं फलवान् नहीं हो सकता।) २— कार्य से नाम कार्य कार्य का दर्शन कर कारण का अनुमान; यथा गर्भ को देख उसके कारणभूत व्यवाय का परिज्ञान। ३— जो न कार्य हो न कारण ऐसे प्रत्यक्ष पदार्थ से अपरोक्ष का ज्ञान, जिसे सामान्यतोदृष्ट कहते हैं; यथा, धूम से अग्नि का ज्ञान।

—'अनुमीयते' के साथ 'येन तद् अनुमानम्' यह वाक्यशेष[1] है। अर्थात्—अपूर्ण वाक्य की पूर्ति के लिए इतना अंश यहाँ जोड़ना चाहिए। सो, अनु नाम व्याप्ति के ज्ञान के अनन्तर परोक्ष [अप्रत्यक्ष] पदार्थ का मान नाम सम्यक् ज्ञान जिससे हो उसको अनुमान कहते हैं। अन्य शब्दों में व्याप्ति के स्मरण–सहितलिंग[2] का जो दर्शन होता है, उसे अनुमान कहा जाता है।

अब प्रथम युक्ति का उदाहरण और पश्चात् लक्षण देते हैं—

जलकर्षणबीजसंर्तुयोगात् सस्यसंभवः।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां संभवस्तथा॥
मथ्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसंभवः।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसंपद्व्याधिनिवर्हिणी॥ —च० सू० ११।२३–२४

१— संस्कृत वाङ्मय में प्रायः इस प्रकार वाक्यशेष से ग्रन्थकार के आशय का सम्यक् अवबोध कराने की पद्धति है।

२— अनुमान में प्रत्यक्ष पदार्थ के द्वारा अप्रत्यक्ष का ज्ञान होता है अतः प्रत्यक्ष को लिंग या हेतु कहते हैं। **लीनं गयमति इति लिंगम्**—जो लीन या अप्रत्यक्ष पदार्थ का गमक नाम बोधक हो उसे **लिंग** कहते हैं, यह इस पद की व्युत्पत्ति (निरुक्ति, विग्रह) है।

xx कर्षणशब्देन कर्षणसंस्कृता भूमिर्गृह्यते । जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् सस्यस्य संभवो भवतीति यज्ज्ञानं तद्युक्तिरिति योजनीयम् । षड्धातुसंयोगात् पञ्चमहाभूतात्मसंयोगात् । xx मथ्यं मन्थनकाष्ठयन्त्रक्रम्, काष्ठ मन्थनम् मन्थानं काष्ठभ्रामणम् xx ॥

—**चक्रपाणि**

—जल, कृषि (जुताई, जोती हुई भूमि,) बीज तथा ऋतु इनके संयोग से सस्य (धान्य) की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार पाँच महाभूत और आत्मा इन छ धातुओं के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है । एवं—दही का मन्थन करने वाले यन्त्र (जिसमें कष्ठ टिका रहता है यह साधन), मन्थन - काष्ठ (मन्थन – दण्ड, मथानी) और मन्थान (मन्थन – रज्जु) इनके संयोग से अग्नि का प्रादुर्भाव होता है इसी प्रकार चतुष्पाद (चिकित्सा के चार चरणों—चिकित्सक, परिचारक, रोगी और औषध) की संपत्ति नाम गुणवत्ता[1] रोग का उच्छेद करती है, यह बात युक्तिसिद्ध है ।

—**चक्रपाणि** कहता है कि जल, कृषि, बीज और ऋतु के संयोग से सस्य की उत्पत्ति होती है इस प्रकार का ज्ञान युक्ति कहाता है । (एवं, मन्थनयन्त्रादि की संपत्ति होने से मन्थन सम्यक् होता है, यह ज्ञान युक्ति है । इस युक्ति से युक्त अर्थात् सिद्ध है कि रोगोन्मूलन में भी चतुष्पाद को संपत्ति कारणभूत होती है । आगे लक्षण बताते हुए युक्ति का स्वरूप अधिक विशद होगा) ।

अब युक्ति का लक्षण देखिए

बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान् ।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥ —च० सू० ११।२५

xx बहूकारणयोगो बहुपपत्तियोगः । जनिश्चायं ज्ञानार्थे; तेन बहूपपत्तियोगज्ञायमानानर्थान् या बुद्धिः पश्यति ऊहलक्षणा सा युक्तिरिति प्रमाणसहायीभूता । एवमनेन भवितव्यमित्येवंरूप ऊहोऽत्र युक्तिशब्देनाभिधीयते । सा च परमार्थतोऽप्रमाणरूपाऽपि वस्तुपरिच्छेदे प्रमाणसहायत्वेन व्याप्रियमाणत्वात् तथा तयैव ऊहरूपया प्रायोलोकानां व्यवहारादिह प्रमाणत्वेनोक्ता । अतएव प्रदेशान्तरे युक्तिं बिना यथोक्तं प्रमाणत्रयं दर्शयिष्यति—"त्रिविधा वा (परीक्षा) सहोपदेशेन" (च० वि० ४।५) इति वचनात् । तथा उपमानं गृहीत्वा रोगभिषग्जितीये शब्दादीनि चत्वारि प्रमाणान्यभिधास्यति ।xxx। त्रिवर्गसाधकत्वं च त्रिवर्गसाधनादेव । ऊहेनैव हि प्रायस्त्रिवर्गानुष्ठाने प्रवृत्तिर्भवति । प्रमाणपरिच्छेदेन तु प्रचारो विरल एव । xxx ॥

—**चक्रपाणि**

१—चिकित्सा के इन चार चरणों में प्रत्येक के चार – चार गुण या कला होती है । इनकी संपत्ति नाम प्रत्येक के स्वगुणसंपन्न होने से चिकित्सा की सिद्धि होती है । इन गुणों का निर्देश इसी ग्रन्थ में आगे किया जायेगा ।

—बुद्धि अनेक कारणों से योग से ज्ञायमान जिन पदार्थों को जानती है, उसे (उस कारणों के संयोग को (**युक्ति** कहते हैं । यह त्रिकाल (त्रिकाल–विषयक) होती है । इससे त्रिवर्ग (धर्मार्थ-काम) की सिद्धि होती है ।

—लक्षण को विशद करता टीकाकार कहता है कि, (इस कार्य के होने में कारणभूत यह सामग्री—अनेक कारणों का समुदाय—विद्यमान है अतः) यह कार्य इस प्रकार होगा, इस प्रकार का जो ऊह या तर्क है उसे युक्ति कहते हैं । यह युक्ति प्रमाणों की सहायक होती है । यत्सत्यं (परमार्थतः) युक्ति प्रमाण नहीं है, तथापि वस्तुओं के निर्णय में—उनके यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि में—प्रमाणों के सहायकरूप में उसका उपयोग होने से तथा च (प्रमाणों की अपेक्षया) तर्क–रूप इस युक्ति का ही लौकिकों द्वारा—अपने नैत्यिक व्यवहार में प्रायः (अधिकांश में) उपयोग होने से यहाँ प्रमाण के रूप में उसका परिगणन किया गया है । अतएव (युक्ति वस्तुतः प्रमाण न होने के कारण) स्थलान्तर में युक्ति को छोड़ कर शेष तीन ही प्रमाणों का निर्देश किया है, जैसे ऊपर घृत च० वि० ४।५ वचन में । एवं रोगभिषग्विजतीय अध्याय में उपमान को भी प्रमाण रूप में ग्रहण कर शब्दादि चार प्रमाणों का उल्लेख ग्रन्थकार करेंगे ।

युक्ति को त्रिवर्ग का साधक (सिद्धि–हेतु) इस कारण कहा कि, इसी से त्रिवर्ग की सिद्धि की जाती है । प्रायः ऊह या युक्ति–से ही (लौकिक जनों की) त्रिवर्ग के अनुष्ठान में प्रवृत्ति देखी जाती है । प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा पर्यालोचन का प्रचार बहुत विरल (क्वचित्) होता है ।

अब विषय का उपसंहार करते तन्त्रकार कहते हैं ।

एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्व परीक्ष्यते ।
परीक्ष्यं सदसच्चैवं तया चास्ति पुनर्भवः ॥

—च० सू० ११।२६

—वह परीक्षा (प्रमाण) है (नाम इतने प्रमाण है), जिसके द्वारा सर्व परीक्ष्य (ज्ञेय) पदार्थों की परीक्षा (उपलब्धि; ज्ञान) की जाती है । इससे ही सत् और असत् पदार्थों की परीक्षा करनी चाहिए और इस परीक्षा से सिद्ध है कि पुनर्जन्म (परलोक) का अस्तित्व है ।

अब प्रत्येक परीक्षा या प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म की स्थापना करते हैं । प्रथम **आप्त प्रमाण से पुनर्जन्म की सिद्धि** देखिए—

तत्राप्तागमस्तावद्वेदः । यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः स चाप्तागमः ।

आप्तागमादुपलभ्यते—दानतपोयज्ञसत्याहिंसाब्रह्मचर्याण्यभ्युदयनिः श्रेयसकराणीति ॥

—च० सू० ११।२७

xx यश्चान्योऽपीत्यनेन ग्रन्थेन वेदार्थाविपरीतत्वादिभिर्हेतुभिः परिच्छेदनीयप्रामाण्यायुर्वेदस्मृतिशास्त्रा दीनि दर्शयति । xx अभ्युदयः स्वर्गः, निःश्रेयसं मोक्षः अत्र यथायोग्यतया स्वर्गस्य मोक्षस्य च कारणमिति बोद्धव्यम् । एतेन जन्मान्तरभोग्यस्वर्गानिकजन्मलभ्यमोक्षोपदेशेनात्मनः परलोकः कथितो भवतीति भावः ॥

—**चक्रपाणि**

—इनमें आप्त प्रमाण (आगम प्रमाण, शब्द प्रमाण) वे हैं । (परमेश्वरकृत वेद के अतिरिक्त) अन्य भी जो वेद के अर्थ (अभिधेय, वक्तव्य) से अविरुद्ध, परीक्षकों (विद्वानों) द्वारा प्रणीत (निर्मित), शिष्टों की संमत, एवं लोकों के अनुग्रह से प्रेरित हुआ शास्त्र-वचन हो उसे भी आप्त प्रमाण कहा जाता है ।

—(उभयविध) आप्त प्रमाण से विदित होता है कि, दान, तप, यज्ञ, सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य अभ्युदय (स्वर्ग) और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति कराते हैं ।

—चक्रपाणि कहता है—'अन्य भी जो' इत्यादि ग्रन्थ (वाक्य) से आयुर्वेद, स्मृति, शास्त्र आदि वचन, जिनके प्रामाण्य का निर्णय (परिच्छेद) वेदार्थ से अविपरीत होना आदि हेतुओं से किया जा सकता है, उनका ग्रहण करता है[1] ।

—दान, तप, आदि स्वर्ग और मोक्ष के हेतु हैं, यह कहने का तात्पर्य यह है कि, इस जन्म में दानादि करने से जन्मान्तर में स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा अनेक जन्मों में मोक्ष की उपलब्धि होती है, यह कहकर अर्थापत्ति से कह दिया कि आत्मा का पुनर्जन्म तथा परलोक होता है ।

इसी बात को अधिक स्पष्ट पदों में कहते हैं—

न चानतिवृत्तसत्त्वोषाणामदोषैरपुनर्भवो धर्मद्वारेषूपदिश्यते ॥

—च० सू० ११।२८

XXX अनतिवृत्तावनुपशान्तौ सत्त्वदोषौ मनोदोषौ रजस्तमोरूपौ येषां ते तथा धर्मद्वारेषु धर्मशास्त्रेषु । अदोषैर्निर्मनोदोषैर्महर्षिभिः । उपदिश्यते न इति सम्बन्धः तेन पुनर्भव उपदिश्यत इत्यर्थः ॥

—**चक्रपाणि**

—धर्मशास्त्रों में रजस्तमोरूप मनोदोषों से रहित महर्षियों ने ऐसे जनों को मोक्ष (प्राप्त होता) नहीं बताया है, जिसके मनोदोष रज और तम अभी शान्त नहीं हुए हैं । उनका तो पुनर्जन्म ही होता है, यही उपदेश महर्षियों ने किया है ।

अधिक स्पष्ट शब्दों में पुनः तन्त्रकार यही बात कहते हैं—

१—स्मरण रहे, रोग–परीक्षा प्रकरण में आप्तोपदेश का व्यापक अर्थ करते हुए रोगी तथा उसके स्वजन–परिजन जो रोग–विषयक सत्य वृत्तान्त कहते हैं, उसे भी संहिताओं में आप्तोपदेश कहा है । देखिए मत्कृत **आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान ।**

धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगतभयरागद्वेषलोभ मोहमानैर्ब्रह्मपरैपराप्तैः कर्मविद्भिरनुपहतसत्त्वबुद्धिप्रचारैः पुर्वैः पूर्वतरैर्महर्षिभिर्दिव्यचक्षु दृष्ट्वोपदिष्टः पुनर्भव इति व्यवस्येदेवम् ॥

—च० सू० ११।२६

XX दिव्यामतीन्द्रियार्थदर्शि चक्षुः समाधिरूपं ज्ञानं येषां ते दिव्यचक्षुषस्तैः XX ॥

—चक्रपाणि

—अपरंच, धर्मशास्त्रों में आरोपित – चित्त; जिनके, भय, राग, द्वेष, लोभ, मोह और मान निवृत्त हो गए हैं ऐसे; ब्रह्म नाम अध्यात्म ज्ञान में लीन; योगादि कर्मों के ज्ञाता; एवं जिनका सत्त्वगुण तथा बुद्धि का कार्य अव्याहत है (बाधारहित है) ऐसे पूर्व और पूर्वत्तर महर्षियों ने समाधिरूप दिव्य (अतीन्द्रिय वस्तुओं का दर्शन करने वाले) चक्षुओं से स्वयं देखकर उपदेश किया है कि पुनर्जन्म है । अतः हमें भी निश्चय से ऐसा ही मानना चाहिए ।

अब प्रत्यक्ष प्रमाण से पुनर्जन्म की स्थापना करते हैं—

प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते-मातापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि, तुल्यसंभवानां वर्णस्वराकृतिसत्त्वबुद्धिभाग्यविशेषाः, प्रवरावरकुलजन्म, दास्यैश्वार्य, सुखासुखमायुः आयुषो वैषम्यम्, इहाकृतस्यावाप्तिः, अशिक्षितानां च रुदितस्तनपानहासत्रासादीनां प्रवृत्ति, लक्षणोत्पत्तिः, कर्मसादृश्ये फलविशेषः, मेधा क्वचित् क्वचित्कर्मण्यमेधा, जातिस्मरणम्, इहागमनमित्तश्च्युतानां च भूतानां, समदर्शनं प्रियाप्रियत्वम् ॥

—च० सू० ११।३०

प्रत्यक्षं च यद्यपि पुनर्भवं न गृह्नाति, तथापि तत्पुनर्भवग्राहकानु मानस्य लिङ्गग्रहणे यथा व्याप्रियते तथा दर्शयति—प्रत्यक्षमपीत्यादि । विसदृशानीति कश्चित् कुरुपः कश्चित् सुरुपः । तुल्यसंभवानां तुल्योत्पादकारणानां कश्चिद्गौरः कश्चित् कृष्णः; एवं स्वरावापि विशेषो बोद्धव्यः । दास्यैश्वर्यमिति कस्यचिद्दास्यं कस्यचिदैश्वर्यम् । XX एते च रुदितादयो यथायोगमिष्टानिष्टस्मरणमन्तरा न भवन्ति, स्मरणं च पूर्वज्ञानं विना न भवतीति पूर्वजन्मज्ञानानुमानात् परलोकानुमापका भवन्ति । XX : लक्षणोत्पत्तिरिति सामुद्रकप्रतिपादितलक्षणोत्पत्तिः । XX जातेरतीतायाः स्मरणं जातिस्मरणम् । तदेव स्मरणं दर्शयति—इहागमनमितश्च्युतानामिति । इह कुले जातोऽस्मि इतश्च कुलादागतोऽस्मीत्येवमाकारं जातिस्मरणमित्यर्थः । यदि वा इह जन्मनि च्युतानामिह जन्मनि पुनरागमनम् अनेन च नामभ्रान्त्या यमपुरुषैर्नीतस्य पुनरागमनं दृश्यते । समदर्शने तुल्याकारे क्वचित् पुरुषे प्रियत्वं क्वचित्पुनरप्रियत्वमिति समदर्शने प्रियाप्रियत्वम् XX ॥

—चक्रपाणि

—प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि, एक ही माता – पिता के विसदृश (असमान) पुत्र होते हैं, यथा कोई कुरूप और कोई सुरूप इत्यादि । एवं जिनकी उत्पत्ति के कारण (माता, पिता, कुल आदि) समान हों ऐसे भी पुरुषों के वर्ण (गौर, कृष्ण आदि), स्वर आकृति, सत्त्व (मानसी प्रकृति), बुद्धि और भाग्य में भिन्नता होती है । एवं किसी का श्रेष्ठ कुल में और अन्य का हीन

कुल में जन्म; किसी का दास्य और किसी को ऐश्वर्य, किसी की सुखयुक्त आयु, किसी की दुःखयुक्त; आयुओं में वैषम्य; इस जन्म में जिसके लिए प्रयत्न न किया हो ऐसे पदार्थ की प्राप्ति; शिक्षा दिए बिना भी (शिशुओं में) रोदन, स्तनपान, हास, त्रास (भय) आदि की प्रवृत्ति, सामुद्रिक शास्त्र में कहे (विभिन्न फल देने वाले) लक्षणों की (जन्म से ही) उत्पत्ति, (अनेक पुरुषों का) प्रयत्न समान होने पर भी फल में भेद (किसी को सफलता, किसी को निष्फलता इत्यादि) किसी कर्म (चित्रण कला आदि) में बुद्धि का प्रागल्भ्य और किसी में न होना; पूर्वजन्म का स्मरण यथा, इस कुल या घर में इस जन्म में उत्पन्न हूँ, हाँ से गये (मृत) अमुक लोकों का पूर्वजन्म में स्वजन था इत्यादि; किंवा—वर्तमान जन्म में ही मर कर पुनः आगमन—पुनः जीवित हो उठना; (इस स्थिति में यम के चर नाम के सादृश्य से अन्य ही किसी पुरुष को ले जाते हैं, भूल विदित होने पर कुछ काल पीछे उसे छोड़ वास्तविक पुरुष को ले जाते हैं, ऐसा चक्रपाणि अपनी टीका में कहता है[१]); समान आकार वाले पुरुष को देखने पर (अथवा एक साथ प्रथम दर्शन होने पर) किसी के प्रति[२] प्रीति और किसी के प्रति अप्रीति।

१—मुझे ऐसी एक घटना का अनुभव है। मेरे एक एम०एस–सी० प्रोफेसर मित्र एक सैलून में बैठे क्षौरकर्म करा रहे थे कि सहसा अचेतन होकर गिर पड़े। खबर मिलने पर स्वजन उन्हें उठाकर घर ले गये। दो घण्टे पीछे वे संपूर्ण भान में आए। पर इसकी दुर्बलता चार–पाँच मास तक बनी रही। उक्त घटना के अगले दिन, उसी सैलून में उतने ही बजे एक और पुरुष क्षौर करता हुआ ही अचेतन होकर गिर पड़ा, और उसकी वहीं मृत्यु हो गयी। तब तक मैंने चक्रपाणि की व्याख्या पढ़ी न थी; परन्तु यमदूतों को ऐसी ही भूल होने की दृढ़ कल्पना की थी। कुछ काल घृत दशा में रह कर पुनर्जीवित होने के उदाहरण प्रायः मिलते हैं। उनमें ऐसा ही कारण होना चाहिए। पूर्व जन्म के स्मरण का भी मुझे स्वयं अनुभव है। मेरा एक भगिनीपुत्र जातिस्मर था। चक्रपाणि को दोनों प्रकार के उदाहरण देखने को मिले होंगे।

२—शाकुन्तल का एक पद्य इस प्रसंग में उद्धरणीय प्रतीत होता है। सर्वदमन को देख उसके प्रति सहज प्रीति का और कोई कारण न पा दुष्यन्त कहता है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमभूतपूर्वं,
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

—पुरुष सुखी हो तो भी (सुख होने के कारण अन्य प्रीतिकर विषयों की उसे अपेक्षा और उत्कण्ठा न तो भी) सुन्दर वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर उनके समागम के लिए सोत्कण्ठ हो जाता है, उसमें निश्चित ही वह इस

इन प्रत्यक्षों से पूर्वजन्म की सिद्धि उदाहरणतया दर्शाते **चक्रपाणि** ने कहा है कि, कारण-विशेष के संपर्क में आने पर रोदन आदि कर्म उन कारणों के यथायोग्य इष्ट या अनिष्ट होने की स्मृति के बिना हो नहीं सकते और यह स्मरण पूर्वज्ञान के बिना नहीं हो सकता, तथा यह पूर्वज्ञान (स्मरण का हेतुभूत ज्ञान) बिना पूर्वजन्म के हो नहीं सकता । इस प्रकार शिक्षा के बिना भी रोदनादि कर्म पूर्वजन्म के अनुमापक होते हुए परलोक के भी अनुमापक होते हैं ।

सामुद्रिक लक्षणों की उत्पत्ति का भी इस जन्म में कारणान्तर दीख नहीं पड़ता । अतः पूर्वजन्मकृत कारण का अनुमान होता है जो परम्परया परलोक का अनुमान कराता है ।

जिन कर्म में बुद्धि – प्रागल्भ्य दीख पड़ता है, उसमें पूर्वाभ्यास का अनुमान होता है । इस पूर्वाभ्यास से पूर्वजन्म का और उससे परलोक का अनुमान होता है ।

जन्म में अननुभूतपूर्व परन्तु अपने अन्तःकरण में स्थिर (कृतनिवास) अन्य जन्म की—पूर्व जन्म की—मैत्रियों को स्मरण कर रहा होता है । (उन पदार्थों का उसके साथ पूर्व जन्म का संबंध होने से ही उनके प्रति आकर्षण और आसक्ति होती है) ।

सु० शा० २।५७ में सत्त्वगुण के उद्रेक के कारण जो पूर्वजातिस्मर (पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले) जनों की बात कही है, वह उल्लिखित बालकों को लक्ष्य में रख कर नहीं किन्तु वयस्थ होने पर भी पूर्वजन्म का स्मरण करने वालों की दृष्टि में रख कर कही है, ऐसा मैं समझता हूँ ।

उपयोगी होने से वह तथा अगला पद्य अर्थ समेत देता हूँ —

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शस्त्रबुद्धयः ।
भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वं जातिस्मरा नराः ॥
कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे ।
अभ्यस्ताः पुर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥

सु० शा० २।५७ – ५८

xx भाविताः शास्त्रभावनया भावितान्तःकरणाः । ये सत्त्वबहूलास्ते रजस्तमसोरावरकयोरभागात् xx ॥

—डल्हन

—पूर्व जन्म में शास्त्रों के पर्यालोचन से जिनके अन्तःकरण भावित है तथा जो पूर्व भवों में सतत शास्त्रबुद्धि रहे हों वे सत्त्वबहुल पुरुष, आवरक दोष रज और तम के अभाव के कारण पूर्व जन्म का स्मरण करते हैं ।

—जिस कर्म से (दैव से) पुरुष प्रेरित हो, पुनर्जन्म में वही (फल रूप में) प्राप्त करता है । तथा पूर्व शरीर में उसने जिन गुणों का अभ्यास (सतत सेवन) किया हो उन्हीं को इस जन्म में भी प्राप्त करता है ।

अब प्रत्यक्षाश्रित अनुमान से परलोक की सिद्धि देखिए—

अतएवानुमीयते यत्, स्वकृतमपरिहार्यमविनाशि पौर्वदैहिकं दैवसंज्ञकमानुबन्धिकं कर्म; तस्यैतत् फलम्; इतश्चान्यद्भविष्यतीति । फलाद्बीजमनुमीयते फलं च बीजात् ॥

—च० सू० ११।३१

xx अविनाशीत्युपभोगं विनाऽविनाशि । x x जन्मान्तराण्यनुगच्छतीत्यानुबन्धिकम् एतत्फलमिति विसदृशापयोत्पादादिफलम् । xx फलात्फलसदृशापत्यदर्शनात्, बीजं पूर्वजन्मकृतं कर्मादि कारणमनुमीयते । तथा फलं च भाविजन्मान्तरे सुखदुःखादि; बीजादिह जन्मकृतात् कर्मणोऽनुमीयत इति योजना[1] ॥

—इसी से अनुमान किया जाता है कि, अपना किया हुआ, जिससे मुक्ति (छुटकारा) नहीं हो सकती एवं उपभोग के बिना जो नष्ट होने वाला नहीं ऐसा, पूर्व देह से (पूर्वजन्म में) किया हुआ, दैव इस अपर नाम (पर्याय) वाला, जन्मान्तर में भी कर्ता के साथ संबंध रखने वाला कर्म है; उसी का यह फल–विसदृश अपत्य होना आदि पूर्वोक्त परिणाम–है एवं यहाँ—इस जन्म में किये कर्म का फल अन्य (अन्य जन्म में भोग्य) होगा । फल से—फलतुल्य अपत्यादि के दर्शन से—बीज का—पूर्वजन्मकृत बीजसदृश कर्म का—अनुमान होता है; तथा च, बीज से —इस जन्म में किए बीजसदृश कर्म से–फल का–फल सदृश भावि जन्मान्तर में होने वाले सुख–दुखादि का—अनुमान होता है ।

अनुमान के अनन्तर अब युक्ति से पुनर्भव की सिद्धि करते हैं—

युक्तिश्चैषा—षड्धातुसमुदयाद्गर्भजन्म, कर्तृकरणसंयोगात् क्रिया; कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य, नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्; कर्मसदृशं फलं, नास्त्यस्माद्बीजादन्यस्योत्पत्तिः, इति युक्तिः ॥

—च० सू० ११।३२

—परलोक की साधक युक्ति (ऊह, तर्क) यह है—षडधातुओं (पञ्चभूत तथा आत्मा) के संयोग से गर्भ का जन्म होता है[2]; कर्ता और करणों (साधनों) के संयोग से क्रिया होती है[3]; किए हुए कर्म का फल होता है, न किए का नहीं; बिना बीज अंकुरोत्पत्ति नहीं हो सकती; कर्म के सदृश (अनुरूप) ही

१—योजना=संबन्ध=अन्वय ।

२—छ धातुओं के समवाय से गर्भ की उत्पत्ति होती है, यह माना जाता है । इससे यह युक्ति या तर्क किया जाता है कि—आत्मा के बिना गर्भ में चैतन्य होता नहीं, यह तुम्हें स्वीकृत हैं और आत्मा के स्वीकार से उससे संबद्ध परलोक का स्वीकार स्वयं हो जाता है ।

३—क्रियामात्र में कर्ता आवश्यक है । सो, इस जन्म में दृश्यमान क्रियाओं में कर्ता (आत्मा) का स्वीकार अपरिहार्य है और आत्मा का स्वीकार करने से पूर्व जन्म और उसके कारण परलोक का स्वीकार स्वयं हो जाता है ।

फल होता है; अन्य बीज से अन्य की उत्पत्ति (जैसे शालि के बीज से यव की उत्पत्ति) नहीं हो सकती[१] । यह युक्ति है ।

प्रकरण की परिसमाप्ति करते हुए तन्त्रकार अब कहते हैं कि, परलोक का अस्तित्व होने से पुरुष की चर्या कैसी होनी चाहिए ।

एवं प्रमाणैश्चतुर्भिरुपदिष्टे पुनर्भवे धर्मद्वारेष्वधीयते । तद्यथा—गुरुशुश्रूषायामध्ययने व्रतचर्यायां दारक्रियायामपत्योत्पादने भृत्यभरणेऽतिथिपूजायां दानेऽनभिध्यायां तपस्यनसूयायां देहवाङ मानसे कर्मण्यविलष्टे देहेन्द्रियमनोर्थबुद्ध्यात्मपरीक्षायां मनः समाधाविति । यानि चान्यान्यप्येवंविधानि कर्माणि सतामविगर्हितानि स्वर्ग्याणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तानारभेत कुर्तुम् । तथा कुर्वन्निह चैव यशो लभते प्रेत्य च स्वर्गम् ।

इति तृतीया परलोकैषणा व्याख्याता भवति ॥ —च० सू० ११।३३

XX वृत्तेर्धनस्य पुष्टिर्वृत्तिपुष्टिः । XX यशो लभते धार्मिकोऽयमित्यादिख्यातिरूपम् XX ॥ —**चक्रपाणि**

—इस प्रकार प्रमाण—चतुष्टय से पुनर्भव का उपदेश (और सिद्धि) होने से धर्म के साधनों के प्रति सावधान हो लक्ष दे । तद्यथा—गुरुशुश्रूषा, शास्त्रों का अध्ययन, ब्रत–पालन, विवाह, संतानोत्पादन, भृत्यों का भरण (पोषण), अतिथि–सत्कार, दान, किसी का अहित न विचारना, तप, अनसूया (अन्यों के गुणों के प्रति—बुद्धि न धारण करना); अनिन्दित शारीर, मानस और वाचिक कर्म; देह, इन्द्रिय मन, अर्थ (विषय) बुद्धि और आत्मा की परीक्षा (इनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान) मन की समाधि (वशीकार इनके प्रति लक्ष दे । एवं, अन्य भी जो इसी प्रकार के सत्पुरुषों द्वारा अनिन्दित स्वर्ग–प्रद तथा धन की वृद्धि करने वाले कर्म हों उनका अनुष्ठान करें । ऐसा करता हुआ इस लोक में ख्याति (यह पुरुष धार्मिक—विश्वासयोग्य—है इत्यादिरुपा प्रसिद्धि) को प्राप्त करता है तथा मरणोत्तर स्वर्गलाभ करता है ।

इस प्रकार यह तृतीय एषणा परलोकैषणा की व्याख्या हुई ।



१—इस जन्म में जो दास्य, ऐश्वर्यादि फल देखते हैं वह न किए कर्म का नहीं हो सकता । अतः इस फल के कर्म का स्वीकार होने से उसके लिए पूर्व जन्म का और उसके कारण परलोक का स्वीकार करना पड़ता है फलं और कर्म के इस संबन्ध के दृष्टान्त रूप में आगे बीज से फलोत्पत्ति की बात कही है । उसीं के वैशद्य के लिए आगे कहा है—जिसका बीज होता है वही फल उत्पन्न होता है । इसी प्रकार कर्म के वैशेष्य या भेदवश इस जन्म में फल—वैशेष्य दृष्टिगोचर होता है ।

ये व्याख्याएँ चक्रपाणि ने अपनी टीका में दी हैं । विशष बुभुत्सु (जिज्ञासु) को वहीं देखना चाहिए ।

क्रियाकालं न हापयेत्

प्रकृत्यारम्भकाणां दोषाणां सततमवेक्षणम्[1]

पूर्वोद्धृत वातकलाकलीय अध्याय के अन्त में वायु को प्रकुपित होने के पूर्व ही शान्त करने का उपदेश करते हुए वार्योविद ने क्या ही सुन्दर, सत्य और शिव वचन कहा था—वायु भयावह अतएव असाध्यप्राय स्वरूप धारण कर ले और वात अपने हाथ में न रहे, उसके पूर्व ही उसको शान्त करने का—उसकी समावस्था को बनाए रखने का प्रयास दत्तचित हो करना चाहिए । वह एकीय मत था । समग्र सत्य यह है, कि दोषमात्र पर चिकित्सक और चिकित्स्य दोनों की सूक्ष्मदृष्टि रहनी चाहिए ।

दोषों के साम्य पर लक्ष्य देते हुए सबसे प्रमुख ध्यान में रखने योग्य यह है, कि प्रत्येक पुरुष की विशिष्ट प्रकृति (शारीरिक स्वरूप तथा मानसिक स्वभाव) हुआ करती है । प्रकृति का कारण तत्तत् दोष है । स्त्री – बीज और पुँज – बीज का संमच्छंन (संयोग) होने से बने गर्भबीज में जिस दोष का प्राधान्य हो उसी के अनुसार पुरुष की प्रकृति बनती है । इस विषय में अधिक ज्ञातव्य क्रियाशारीर तथा निदान के ग्रन्थों में देखना चाहिए । रोग – परीक्षा में इन प्रकृतियों के ज्ञान की आवश्यकता इसलिए है कि किसी पुरुष में प्रकृति का आरम्भक जो दोष होता है उसके प्रकोपक कारण की अल्पमात्र सेवा से भी उस दोष का प्रकोप शीघ्र होता है, और तज्जन्य रोग पुरुष को सविशेष पीड़ित करते हैं । कारण, प्रकृति जिस दोष से बनी हो वह दोष शेष दोषों के प्रकोपक कारणों का प्रभाव शरीर और मन पर स्वभावतः नहीं होने देता । । परिणामतया इतर दोषोत्थ रोग पुरुष में उतने प्रमाण में और उतनी शीघ्रता से नहीं होते ।

अब यही विषय तन्त्रकार के शब्दों में देखिए ।

त्रयस्तु पुरुषा भवन्त्यातुराः । ते त्वनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिषजाभ् । तद्यथा—वातलः पित्तलः श्लेष्मलश्चेति ।

तेषामिदं विशेषविज्ञानं—बातलस्य वातनिमित्ताः, पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः, श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति ॥

—च० वि० ६।१५

आतुर (रोगी) तीन प्रकार के होते हैं । अलबत्ता तन्त्रान्तरीयों (अन्य तन्त्रों के अन्य शास्त्रों के— अनुयायिओं (के मत से वे अनातुर (स्वस्थ) ही

१— प्रकृति के उत्पादक दोषों का निरन्तर निरीक्षण ।

हैं । ये त्रिविध आतुर अधोलिखित हैं—वातल (वातप्रकृति), पित्तल (पित्तप्रकृति) तथा श्लेष्मल (श्लेष्मप्रकृति) ।

—इस विषय में विशेष ज्ञातव्य यह है कि, वातल को वातप्रकोपज रोग प्रायः होते हैं तथा बलवान् होते हैं । इस प्रकार पित्तल को पित्तज और श्लेष्मल को श्लेष्मज रोग प्रायः और बलवान् होते हैं ।

चिकित्साधिकार में अन्य तन्त्रकार भी कहते हैं कि, प्रकृत्यारम्भक दोष के रोग पुरुष में अधिक और बली होते हैं । अतश्च, इन प्रकृत्यारम्भक दोषों को विशेष सावधान रहकर समावस्था में रखने का प्रयत्न करना चाहिए । सो, दोषों के विषय में यह प्रयास भी चिकित्सा ही तो है; और चिकित्सा रोगी की होती है । एवं, ये प्रकृतियाँ चिकित्स्य होने से इनके आश्रयभूत पुरुषों को रोगी (आतुर) ही कहना चाहिए, यह चरक के ऊपर धृत वचन का आशय है ।

चरक में तो एकीयमत से यह भी कहा गया है कि वातल आदि की प्रकृति न कहकर विकृति ही कहना यथार्थ है । कारण, प्रकृति का अर्थ होता है स्वस्थता, नीरोगता । परन्तु वातलादि तो ऊपर कहे अनुसार स्वस्थता के लक्षण नहीं हैं । चरक का यह भी कहना है कि, विषमाहार – विहार पुरुषों के स्वभाव का अङ्ग सा होने से उसके परिणाम रूप में दोषों का वैषम्य प्रायः पाया जाता है । इसी कारण संसार में समवातपित्तकफ पुरुष प्राप्त ही नहीं होते । यह विषय तन्त्रकार के पदों में आगे देखेंगे । पहले पूर्वोद्धृत वचनों की व्याख्या स्वयं तन्त्रकार के शब्दों में देखते हैं—

तत्र वातलस्य वातप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोपमाद्यते, न तथेतरौ दोषौ । स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति वलवर्णसुखायुषामुपघाताय ॥ —च० वि० ६।१८

न तथेतरौ दोषाविति सत्यापि हेतुसेवयेत्यर्थः ॥ —**चक्रपाणि**

—वातलादि त्रिविध आतुरों में वातल में वातप्रकोपक (आहार, विहार, औषध, देश तथा काल) का सेवन करने पर वात शीघ्र ही प्रकोप को प्राप्त होता है । निदान (कारण) या सेवन करने पर भी उसमें इतर दो दोषों का वैसा प्रकोप नहीं होता । वह प्रकोप को प्राप्त हुआ वायु यथोक्त रोगों से उसके बल, वर्ण सुख (आरोग्य और मानस सुख) तथा आयु के विघात के लिए शरीर को पीड़ित करता है ।

पित्तलस्यापि पित्तप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं पित्तं प्रकोपमापद्यते, न तथेतरो दोषौ । तदस्य प्रकोपमापन्नं यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय। —च० वि० ६।१७

—पित्तल पुरुष में भी पित्तप्रकोपक आहारादि का सेवन करने पर पित्त शीघ्र ही प्रकुपित होता है । निदान होने पर भी शेष दो दोषों का उसमें

वैसा प्रकोप नहीं होता । यह प्रकोप को प्राप्त हुआ पित्त उसके बल, सुख और आयु का विनाश करने के लिए उसके शरीर को उपतप्त करता है ।

श्लेष्मलस्यापि श्लेष्मप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ । स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपत्तपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय ॥ —च० वि० ६।१८

—श्लेष्मल पुरुष भी श्लेष्मप्रकोपक आहारादि का सेवन करे तो उसमें श्लेष्मा (कफ) शीघ्र ही प्रकोप को प्राप्त होता है । शेष दोषों का प्रकोप उसमें उतना नहीं होता । वह उसमें प्रकोप को प्राप्त हो बल, वर्ण सुख और आयु का विघात (ह्रास) करने के लिए यथोक्त रोगों से पीड़ित करता है ।

अन्य तन्त्रकार वातालादि जिन पुरुषों की विशिष्टता को प्रकृति कहते हैं उन्हीं को अत्रिपुत्र अधोलिखित शब्दों में विकृति या आतुरता (रुग्णता) कहते हैं—

समपित्तानिलकफाः केचिद् गर्भादि मानवाः ।
दृश्यन्ते वातलाः केचित्पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा ॥
तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुरा ।
दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥ —च० सू० ७,३९ – ४०

—गर्भ के आरम्भ से नाम शुक्र (पुंबीज), शोणित (रक्त, स्त्रीबीज) और जीव का संमूर्च्छन होने पर कई पुरुष सम पित्त, वात और कफ वाले देखे जाते हैं, कई वातल (वात – प्रधान), कई पित्तल (पित्तप्रधान) और कई श्लेष्मल (कफप्रधान) । इनमें प्रथम सम – त्रिदोष अनातुर (स्वस्थ) होते हैं, शेष वातलादि सदा रोगी होते हैं । कारण; इनकी शरीर – प्रकृति (स्वास्थ्य) सदा दोषों से संपृक्त (संयुक्त) हुआ करती है ।

आचार्य अन्यत्र कहते हैं—

अत्र केचिदाहुः—न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तवः सन्ति विषमाहारोपयोगित्वान्मनुष्याणाम् । तस्माच्च वातप्रकृतयः केचित्, केचित् पित्तप्रकृतयः केचित् पुनः श्लेष्मप्रकृतयो भवन्तीति ॥ —च० वि० ६।१३

—इस प्रकरण में कई कहते हैं—(विश्व में) सम वात पित्त और श्लेष्मावाले प्राणी हैं ही नहीं । कारण, मनुष्य (सभी) विषम आहार का उपयोग करते हैं । इसीलिए कोई वातप्रकृति होते हैं, कोई पित्तप्रकृति और कोई कफप्रकृति (समप्रकृति) जैसा कोई पुरुष होता ही नहीं) ।

प्रतिपक्ष (सिद्धान्त) की स्थापना करते आचार्य कहते हैं—

तच्चानुपपन्नं, कस्मात् कारणात् ? समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः। यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः सा चेष्टरूपा, तस्मात्

सन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः । न खलु सन्ति वातप्रकृततयः पित्तप्रकृतयः श्लेष्मप्रकृतयो वा । न तस्य तस्य किल दोषस्याधिक्यात् सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणाम्; न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते । तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति; सन्ति तु खलु वातलाः पित्तताः श्लैष्मलाश्च । अप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः ॥

च० वि० ६।१३

—यह युक्तियुक्त नहीं । कारण ? वैद्यजन उसी को नीरोग कहना ठीक समझते हैं जो समवातपित्तकफ हो । क्योंकि आरोग्य का ही पर्याय प्रकृति (समवातपित्त कफत्व) है उस आरोग्य के लिए ही उपचारों का उपयोग होता है और वह इष्ट माना जाता है । अतः (औषध – सेवन द्वारा आरोग्य किंवा तीनों दोषों के साम्य को लक्ष्य में रखकर चिकित्सा – व्यवहार होता है । इसलिए हमारे आदर्श भूत) समवातपित्तकफ पुरुष होने ही चाहिए और हैं ही । वातप्रकृति, पित्तप्रकृति या श्लेष्मप्रकृति या जैसे कोई व्यक्ति नहीं होते । (वातादि के प्राधान्य वाले व्यक्तियों के स्वरूप – द्योतनार्थ अन्य आचार्यों ने जो प्रकृति शब्द का उपयोग किया है, उसे समक्ष रखकर तन्त्रकार नें यह बात कही है । कारण का निर्देश करते हुए वे कहते हैं (—तद्यत् दोष के आधिक्य के कारण वह तो मनुष्यों की दोष – प्रकृति (दोषाधिक्य) कही जाती है और दोष विकृत हो तो पुरुष को प्रकृतिस्थ कहना संगत नहीं है । अतः वातप्रधान आदि प्रकृतियाँ नहीं हैं[1] । वे वातल, पित्तल, श्लेष्मल, अवश्य हैं । उन्हें अप्रकृतिस्थ (विषमावस्थापन्न) समझना चाहिए ।

चारों प्रकार के पुरुषों के संबंध में वैद्य का कर्तव्य यह है—

विपरीतगुणस्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिहितः ।

ससस्सर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते ॥

XX विपरीतगुणो वातदिगतरौक्ष्यादिविपरीतस्नेहादिगुण इत्यर्थः ॥

—**चक्रपाणि**

—वातलादि तीन सदा – रोगियों के लिए उपयोगी (हित) स्वस्थवृत्त का जो भी विधान है वह विपरीत – गुण होता है । जैसे, वातधिक पुरुष के लिए वातकृत रूक्षता के विपरीत (विरोधी) स्नेह गुण का सेवन करना चाहिए । इसी प्रकार इन दोषों के जो भी गुण अधिक दृग्गत हों तद्विपरीत गुणों का सेवन, विकृतिगत गुण समावस्था में आए वहाँ तक, करना चाहिए । शेष समधातु (समवातपित्तकफ) पुरुष के लिए ऐसा अन्नपान प्रशस्त है जिसमें सर्व रस सम (ऋतु, देश आदि की दृष्टि से जिस रस का जितना प्रमाण योग्य है उतने प्रमाण में स्थित) हों ।

१—**चरक** का यह मत होते हुए भी वातादि को प्रकृति कहने का ही प्रचार वैद्यों में है ।

—ऊपर (पृ० १३७ पर तथा आगे) प्रज्ञापराध का जो लक्षण एवं विवरण दिया गया है उससे विदित होता है कि, अपनी प्रकृति आदि को दृष्टिगत रख अपने हिताहित का ज्ञान, समय आ पड़ने पर हिताहित की स्मृति एवं हित के सेवन और अहित के परिवर्जन के योग्य संयम प्रत्येक पुरुष का अनिवार्य कर्तव्य है । माता–पिता आदि वृद्ध तथा चिकित्सक इसमें सहायता मात्र कर सकते हैं । प्रकृतिज्ञान बाल्यकाल से ही होना चाहिए, इसी हेतु प्रकृति के उस काल के लक्षण भी शास्त्रकारों ने बताए हैं । तथाहि, कफ–प्रकृति पुरुष के लक्षणों में कहा है कि वह बाल्य वय में भी उतना चपल तथा रोदन–शील नहीं होता ।

न च बाल्येऽप्यतिरोदनो न लोलः ॥ —अ० हृ० शा० ३।६६

प्रकृति आदि के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रचार शनैः–शनैः न्यून हो गया । इसका एक प्रमाण यह कि, शार्ङ्गधर ने प्रकृति के लक्षण एक एक पद्य में ही दिए हैं । इस संक्षेप का एक हेतु यह भी है कि, लोकों में शनैःशनैः चञ्चलता आ गयी । पहले चिकित्सक तथा उसके चिकित्स्य कुलों में वंशपरंपरागत संबंध होता था, इससे रोगी की प्रकृति के एक–एक अङ्ग का ज्ञान बाल्यकाल से ही वैद्यों को होता था । यह सम्बन्ध विच्छिन्न होने से शार्ङ्गधर को प्रकृति के लक्षण संक्षेप में देने की आवश्यकता प्रतिभात हुई जिन्हें देखकर प्रथम दर्शन में भी वैद्य रोगी की प्रकृति को जान सके[1]।

वृक्षेष्वपि प्रकृतिविचारः

१—वृक्षायुर्वेद के आचार्यों ने वृक्षों में भी इसी प्रकार वातिकादि प्रकृति जानकर तदनुरूप दोषसाम्य की चिन्ता का उपदेश किया है । तथाहि—

नराणामिव वृक्षाणां वातपित्तकफा गदाः ।
संभवन्ति यतस्तस्मात् कुर्यात्तदोषनाशनम् ॥
कृशो दीर्घो लघु रूक्षो निद्राहीनोऽल्पचेतनः ।
न धत्ते फलपुष्पाणि वातप्रकृतिकस्तरुः ।
आतपासहनः पाण्डुश्शाखाहीनो मुहुर्यदि ।
अकालपाकःस्याच्छाखी स तु पित्तात्मकः कृशः ।
सिद्धशाखादलः शाखी सम्यक्पुष्पफलोज्ज्वलः ।
लतापरीतगात्रस्तु कफवान् परिमण्डलः ॥

शिवतत्त्वरत्नाकर, वृक्षायुर्वेदाधिकार

—मनुष्यों के सदृश वृक्षों में भी वात–पित्त–कफात्मक रोग होते हैं । अतः उनमें (आगे कही प्रकृति को लक्ष्य में रख, तदनुसार वृद्धिगत) दोष नष्ट करना चाहिए ।

इस विवरण से स्पष्ट है कि, बाल्यकाल से ही प्रकृति को जानकर तदनुरूप उपचार कर्त्तव्य होने से रोग की व्यक्त उत्पत्ति के पूर्व भी चिकित्सक का क्रियाकाल होता है । इसके अनन्तर भी रोग का मूल आरोपित हो तभी से उसे समुचित क्रिया (चिकित्सा) द्वारा उच्छिन्न करना चाहिए । प्रकृति को देखकर तदारम्भक दोष को सम बनाए रखें तो आजकल इतने प्रचलित पक्षाघात, हृद्ग्रह (एन्जाइना), पैत्तिक शूल (पेप्टिक अल्सर) तथा अन्य रोगों को उत्पत्ति के पूर्व ही रोका जा सकता है[1]। वार्योविद ने कहा है कि, वात (तथा अन्य भी दोष) बढ़कर भयावह रूप ग्रहण करें उसके पूर्व विपरीत गुणवान् द्रव्यों के सेवन द्वारा उनकी अनुत्पत्ति का साधक उपचार अल्पायास–साध्य होता है । आचार्यों ने रोग के मूल को प्रथम ही उच्छिन्न करने का उपदेश अति रमणीय शब्दों में किया है । उपयोगी होने से उन्हें क्रमशः देता हूँ —

XX क्रियाकालं न हापयेत् ॥ —च० सू० ३५।२१

काल एवावश्यं क्रिया कारणीयेत्याह—क्रियाकालं न हापयेत् । न हापयेत् नोल्लङ्घयेत् । अतिक्लेशवैफल्यव्याध्यसाध्यत्वभयात् कालशक्तेरतिप्रभविष्णुत्वात् । तद्यथा अप्राप्ते काले आमज्वरे 'भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्' (सु० उ० ३६।१२१) इत्यादि ॥ **—डल्हन**

—क्रिया (चिकित्सा) का काल (परिस्थिति) उपस्थित हो उस समय क्रिया अवश्य करनी चाहिए । क्रियाकाल का उल्लङ्घन (अतिक्रमण, परित्याग) कदापि न करना चाहिए । उपस्थित काल पर क्रिया न करने से अति क्लेश (रोगी तथा स्वजन–परिजनों को अति कष्ट), चिकित्सा में वैफल्य तथा व्याधि की असाध्यता का भय होने के कारण काल की शक्ति अति सामर्थ्यवाली है । (इसके विपरीत काल प्राप्त–उपस्थि–न हो तब भी क्रिया करनी चाहिए ।) तद्यथा–ज्वरारम्भक दोष और उसके कारण ज्वर साम हो तो (शोधन) औषध दिया जायेगा तो वह (अग्नि की मन्दता के कारण तथा ज्वरारम्भक दोष आमाशय में ही स्थित होने से स्वयं आम रहता हुआ, आमदोष की वृद्धि कर) ज्वर के संताप को और अधिक बढ़ाएगा ही । एवं—

वातप्रकृति वृक्ष कृश, लम्बा, छोटा (कम घेराववाला), रूक्ष निद्राहीन, अल्पचेतनावाला तथा फल–पुष्परहित होता है ।

जो वृक्ष आतप (धूप) को न सहन करे ऐसा, पाण्डुवर्ण; शाखा–विस्ताररहित, अकाल में पकने वाला तथा कृश हो उसे **पित्तात्मक** कहते हैं ।

जो वृक्ष शाखाओं में और पत्रों से परिपूर्ण, सुन्दर–पुष्पों और फलों से सुभूषित, लताओं से चतुर्दिक् परिवेष्टित एवं घेरावदार हो उसे **कफवान्** समझें ।

१—यह विषय स्वस्थवृत्त, काय–चिकित्सा आदि के ग्रन्थों में देखना चाहिए ।

अप्राप्ते वा क्रियाकाले प्राप्ते वा न कृताऽक्रिया ।

क्रिया हीनाऽतिरिक्ता वा साध्येष्वपि न सिध्यति ॥ —च० सू० ३५।२२

xxx चकारान्मिथ्या क्रिया चानुक्ता समुच्चीयते; तद्यथा शीतसाध्ये उष्णा, उष्णसाध्ये शीता चेति ॥ —**डल्हन**

—रोग साध्य हो तो भी क्रिया (चिकित्सा) यदि क्रियाकाल प्राप्त होने के पूर्व या पश्चात् की जाय, किंवा क्रियाकाल प्राप्त होने पर क्रिया न की जाय, यद्वा क्रिया हीन (आवश्यक से न्यून) या अतिरिक्त (अधिक) की जाए, अथवा क्रिया मिथ्या हो यथा शीतसाध्य व्याधि में उष्ण चिकित्सा की जाए या उष्णसाध्य व्याधि में शीत चिकित्सा की जाए तो भी सिद्धि नहीं प्राप्त होती—चिकित्सा फलवती नहीं होती ।

मिथ्या चिकित्सा की असाध्यता की बात यहाँ अनुक्तसमुच्चयार्थक (जिसका कण्ठरव से निर्देश न किया गया हो उसका भी ग्रहण कराना जिसका अर्थ है ऐसे ('चकार' से गृहीत हैं ।

इसी प्रसङ्ग में यथार्थ क्रिया का स्वरूप बताते तन्त्रकार आगे कहते हैं—

या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च ।

सा क्रिया, न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत् ॥ —सु० सू० ३५–२३

क्रियाक्रिययोर्लक्षणमाह—येत्यादि । उदीर्णम् उत्कटम् । न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेदिति; न पुनः सा क्रिया कथ्यते या एकं व्याधिं हरत्यन्यं प्रकोपयतीत्यर्थः । यथा— कृशबृंहणेऽग्निसादमेहातिसारादः, यथा वा स्थौल्यापकर्षणे मेहचिकित्सापतर्पणे च यक्ष्मवातरोगादयः ॥ —**डल्हन**

—क्रिया (यथार्थ चिकित्सा) और अक्रिया का लक्षण बताते हैं । जो उत्कट रोग को शान्त करे और अन्य रोग को न करे उसका नाम क्रिया है । उसका नाम क्रिया नहीं (वह मिथ्या क्रिया है) जो एक रोग को नष्ट करे तो अन्य को प्रकुपित करे । यथा—कृश पुरुष का बृंहण (स्थूलीकरण) करते हुए अग्निसाद (मन्दाग्नि), प्रमेह, अतिसार आदि की उत्पत्ति होना; किंवा स्थूलता का अषकर्षण (लेखन, पतला करना), करते हुए यद्वा प्रमेह की चिकित्सा में अपतर्पण (लङ्घन) करते हुए (मूल रोग कदाचित्, जाए, परन्तु चिकित्सा के परिणाम रूप) यक्ष्मा (अथवा जीर्ण मन्दज्वर) या वातरोगादि उत्पन्न हो जाएँ तो इसे न कहेंगे ।

उक्त वचन अन्य चिकित्सा–पद्धतियों से आयुर्वेद की एक विशिष्टता का द्योतक है, जिसका महत्त्व जनता को समझाना प्रत्येक आयुर्वेद के विद्यार्थी का कर्त्तव्य है । इतना निवेदन कर अब पुनः प्रकृतमनुसरामः—प्रसक्त विषय का अनुसरण करता हूँ ।

अपने चिकित्स्य पुरुषों की प्रकृति जानकर तदनुकूल चर्या निर्धारित करा उनके स्वास्थ्य का संरक्षण करता हुआ चिकित्सक आयुर्वेद के प्रथम प्रयोजन

का पालन करता है; और इस प्रकार औषध न देता हुआ भी उनकी चिकित्सा कर रहा होता है । रोग उत्पन्न होने पर उनका उपचार करता हुआ वह सविशेष भिषक्कर्म करता है । क्रियाकाल नाम चिकित्सा के उपयुक्त काल को दृष्टि में रख तत्क्षण चिकित्सा करना उस काल वैद्य का विशेष कर्त्तव्य हो जाता है । अन्यथा क्या परिणाम होता है, इसका ललित पदों में निर्देश आचार्यों ने किया है । देखिए—

अचिकित्सितस्य रोगस्य क्रमशोऽसाध्यत्वम्

क्रमेणोपचयं प्राप्य धातूननुगतः शनैः ।

न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः ॥

स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च ।

निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा ॥ –सु० सू० २३।१५–१६

xx स इति उपेक्षितो व्याधिरित्यर्थः । xxx ॥ xx —**डल्हण**

xx उपचयं प्राप्त इति धात्ववगाहने हेतुगर्भ विशेषणम् । xx स्थिरत्वे एव हेतुद्वयं महत्त्वाद्धात्वनुक्रमणेन चेति । महत्त्वेन महादोषत्वं धात्वनुक्रमणेन गम्भीरत्वमुच्यते । —**चक्रपाणि**

—उपेक्षित रोग प्रतिकाराभावश क्रमशः उपचय (वृद्धि) को प्राप्त हो, शनैः – शनैः उत्तरोत्तर धातुओं में प्रविष्ट (गम्भीर) होता जाता है । उस काल, वृद्धि को प्राप्त हुए वृक्ष के समान उसका उन्मूलन शक्य नहीं होता ।

—ऐसा रोग उपचय के कारण स्थिर हो गया होने से अर्थात् आगे कहे महत्त्व और धात्वनुप्रवेश –वश गम्भीर हो गया होने से – शरीर में घर कर गया होने से; महान नाम विपुल दोष –प्रमाणवाला हो जाने से एवं धातु में अनुप्रवेश के कारण[1] गम्भीर हो गया होने से औषधों की शक्ति को परास्त कर देता है; जैसे कोई दुष्ट ग्रह मन्त्र – शक्ति को निष्फल बना देता है ।

अतो यो विपरीतः स्यात्सुखसाध्यः स उच्यते ।

अबद्धमूलः क्षुपको यद्वदुत्पाटने सुखः ॥

—सु० सू० २३।१७

१—आयुर्वेद में रस – रक्तादि धातुओं का एक विशिष्ट क्रम स्वीकार किया गया है । उसका एक कारण तो यह है, कि रस धातु द्वारा इनकी पुष्टि इसी क्रम से होती हैं । यहाँ क्रम – स्वीकार का अपर कारण बताया गया है, कि उपेक्षित रोग के आरम्भक दोष भी वृद्ध हो इसी क्रम से धातुओं में प्रविष्ट होते हैं । अगदतन्त्र में विष के प्रसार का भी यही क्रम कहा है । चिकित्सा में दोष विपरीत क्रम से ही धातुओं को छोड़ते हैं ।

—जो रोग इससे विपरीत होता है, वह सुख – साध्य होता है । जो बद्ध – मूल न हो ऐसे छोटे क्षुप (पौधे) के समान उसका उद्धरण सुकर होता है ।

दोष उपेक्षित हो धातुओं में प्रविष्ट होते हुए अन्त में शुक्र – शोणित (पुंबीज – स्त्रीबीज) में आते हैं और वहाँ से अपत्य – शरीर में प्रविष्ट होते हैं तथा उन रोगों को उत्पन्न करते हैं, जिन्हें कुलज, आदिबल प्रवृत आदि नाम दिए गये हैं । तन्त्रकारों ने इन रोगों को असाध्य कहा है । देखिए—

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा,
न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् ।
ये चापि केचित्कुलजा विकारा,
भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान ॥ —च० चि० ६।५७

—प्रमेहरोगाक्रान्त माता – पिता से उत्पन्न हुआ प्रमेही (प्रमेहरोगी) असाध्य होता है । कारण, वह प्रमेहारम्भकदोष से दुष्ट हुए बीज (स्त्री बीज – पुंबीज) के दोष से होता है । केवल प्रमेह की बात नहीं, अन्य भी जो विकार कुलज (पिता – पितामह, माता – मातामह आदि से प्राप्त) होते हैं, उन्हें भी असाध्य कहा जाता है ।

स्थिति यह होने से रोगों की साध्यासाध्यता तथा रिष्ट लक्षणों का ज्ञान प्रथमावश्यक है । प्रत्येक विद्यार्थी को इन लक्षणों का सदा अध्ययन करते रहना चाहिए । इस विषय को विशद करते अत्रिपुत्र कहते हैं—

साध्योऽयमिति यः पूर्व नरो रोगमुपेक्षते ।
स किंचित्कालमासाद्य मृत एवावबुध्यते ॥
यस्तु प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा ।
भेषजं कुरुते सम्यक् स चिरं सुखमश्नुते ॥
यथा ह्यल्पेन यत्नेन च्छिद्यते तरुणस्तरुः ।
स एवाऽतिप्रवृद्धस्तु च्छिद्यतेऽतिप्रयत्नतः ॥
एवमेव विकारोऽपि तरुणः साध्यते सुखम् ।
विवृद्धः साध्यते कृच्छ्रादसाध्यो वाऽपि जायते ॥
—च० नि० ५।१३ – १६

अवबुध्यत इत्यत्र 'साध्यव्याध्युपेक्षाफलम्' इति शेषः ॥
—चक्रपाणि

—जो पुरुष अपने रोग की यह समझ कर उपेक्षा करता है कि यह साध्य है, वह कुछ काल व्यतीत होने पर (उपेक्षित रोग के असाध्य, असाध्यतर,

असाध्यतम और अन्त में मृत्यु—ये परिणाम होने से) मृत्यु को प्राप्त होकर ही जान पाता है कि साध्य व्याधि की उपेक्षा का फल क्या होता है ।

—परन्तु जो पुरुष रोगों के पूर्व ही (रोग अभी आगे कही जाने वाली व्यक्ति अवस्था को प्राप्त न हुआ हो, अतएव रोग—संज्ञा का पात्र न हो तभी किंवा प्रथम क्रियाकाल संचय के भी पूर्व) अथवा—रोग अभी तरुण हों ऐसी स्थिति में ही यथावत् भेषज (स्वास्थ्यसंरक्षण तथा रोगनिवर्तनोचित उपचार) करता है वह चिरकाल सुख प्राप्त करता है—दीर्घ और अरोग आयु का लाभ करता है ।

—जैसे तरुण (कोमल) वृक्ष अल्प आयास से काटा जा सकता है, वहीं अति प्रबुद्ध हो जाए तो उसका छेदन अति दुष्कर हो जाता है, वैसे विकार (रोग) भी तरुण (नया) हो तभी सुख – साध्य होता है । उपेक्षा (या मिथ्योपचार) वश वृद्धि को प्राप्त हो वही कृच्छ्रसाध्य यद्वा असाध्य हो जाता है ।

इस प्रकार अपने ही प्रामादादि – रूप प्रज्ञापराध से दयनीय दशा को प्राप्त हुए पुरुषों का सुन्दर वर्णन आचार्य ने अन्यत्र इन पदों में किया है—

प्राज्ञो रोगे संमुत्पन्ने बाह्येनाभ्यन्तरेण वा ।
कर्मणा लभते शर्म शस्त्रोपक्रमणेन वा ।।
बालस्तु खलु मोहाद्वा प्रमादाद्वा न बुध्यते ।
उत्पद्यमानं प्रथमं रोगं शत्रुमिवाबुधः ।।
अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चाद्विवर्धते ।
स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः ।।
न मूढो लभते संज्ञां तावद्यावन्न पीड्यते ।
पीडितस्तु मतिं पश्चात् कुरुते व्याधिनिग्रहे ।।
अथ पुत्रांश्च दारांश्च ज्ञातींश्चाहूय भाषते ।
सर्वस्वेनापि में कश्चिद्भिषगानीयतामिति ।।
तथाविधं च कः शक्तो दुर्बलं व्याधिपीडितम् ।
कृशं क्षीणेन्द्रियं दीनं परित्रातुं गतायुषम् ।।
स त्रातारमनासाद्य वालस्त्यजति जीवितम् ।
गोधा लाङ्गूलवद्धेवाकृष्यमाणा बलीयसा ।।
तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा ।
भेषजैः प्रतिकुर्वीत य इच्छेत् सुखमात्मनः ।। —च० सू० ११।५६–६३

शर्म सुखमारोग्यमिति यावत् । प्रामादो बुद्ध्वापि रोगाप्रतीकारः । त्रातारं वैद्यामनासाद्य; तथाविधं हि रोगिणं वैद्यो नोपसर्पतीति भावः । गोधादृष्टान्तेन जीवनार्थं यत्नं कुर्बन्नपि विपद्यत इति दर्शयति ॥ **—चक्रपाणि**

—बुद्धिशाली पुरुष रोग के उत्पन्न होने पर बाह्य या आभ्यन्तर उपचार द्वारा या शास्त्रोपचार से सुख (आरोग्य) प्राप्त करता है । इसके विपरीत—

—बालिश पुरुष मोह (अज्ञान) या प्रमाद के कारण प्रथम उत्पद्यमान रोग को जान नहीं पाता, जैसे कोई मूढ़ सिर उठाते हुए शत्रु को बूझ नहीं पाता ।

—रोग प्रथम अणु (लघु) होता हुआ भी पश्चात् वृद्धि को प्राप्त होता है । इस प्रकार दृढ़मूल हुआ वह (रोग) मूढ़ रोगी के बल और आरोग्य का हरण (नाश) कर डालता है ।

—ऐसे मूढ़ पुरुष को तब तक बुद्धि नहीं आती जब तक वह रोग से पीड़ित नहीं हो जाता । रोग–पीड़ित होने पर ही वह रोग के दमन का विचार करता है ।

—अपने पुत्रों, स्त्री तथा ज्ञातियों (सजातियों) को बुलाकर वह कहता है—सर्वस्व देकर भी मेरे लिए कोई चिकित्सक बुलाओ ।

—परन्तु उस अवस्था को प्राप्त, दुर्बल, व्याधि–परिग्रस्त, कृश, क्षीणेन्द्रिय (जिसकी इन्द्रियों का विषय–ग्रहण का सामर्थ्य क्षीण हो गया है ऐसे), दीन और गतायु की रक्षा कर ही कौन सकता है ?

—शास्त्रानुसार ऐसे असाध्य रोगी के पास कोई चिकित्सक चिकित्सा के लिए फटकता नहीं[1]; परिणामतया वह कुबुद्धि पुरुष रक्षक वैद्य को प्राप्त न करने के कारण प्राण त्याग करता है । उसी प्रकार जैसे बलबतर प्राणों द्वारा खैची जाती हुई गोधा अपनी मुक्ति का प्रयत्न करती हुई भी अन्त में मृत्यु को प्राप्त होती है ।

—अतः पुरुष को सुखलाभ (आरोग्य) की इच्छा हो तो रोगोत्पत्ति के पूर्व ही, किंवा रोग अभी नवीन (तरुण) हो तभी औषधों से प्रतीकार करना चाहिए ।

प्रकोपावस्थानां पृथक् क्रियाकालत्वम्

पहले कह आए हैं कि—आयुर्वेद–मत से दोषों की तीन अवस्थाएँ हैं—साम्य (स्थान) क्षय, और वृद्धि (प्रकोप) तीनों अवस्थाओं में चिकित्सक के कर्तव्य का निर्देश भी पहले किया जा चुका है । तात्पर्य, चिकित्सक के लिए जन्म से मृत्यु पर्यन्त पुरुष क्रिया (चिकित्सा) का पात्र रहता है । दोषों के

१—आज तो देखते हैं—अन्तिम घड़ी तक रोगी की चिकित्सा की जाती है । उसे सुख से मरने भी नहीं देते । कई लोभी चिकित्सक तो मृत्युत्तर भी इंजेक्शन देते हैं । आयुर्वेद में तो असाध्य का पर्याय ही प्रत्याख्येय या त्याज्य है ।

साम्य या समावस्था के पालन के लिए रसायन और बाजीकरण इन दो आयुर्वेद के अङ्गों–सहित स्वथवृत्त का विधान है[१]। दोषों के क्षय का निदान प्रायः विरोधी दोषों का प्रकोप होता है। अतः चिकित्सा भी प्रकुपित दोष के शमन को लक्ष्य में रखकर की जाती है। अतः क्षय का अधिक विचार प्राचीन आचार्यों ने नहीं किया है। किन्तु—

शेष प्रकोप का ही विस्तार से विचार आयुर्वेद में किया है। यह प्रकोप दो प्रकार का होता है—चय प्रकोप नाम दोषों के संचयपूर्वक हुआ प्रकोप तथा अचय–प्रकोप नाम संचय –विरहित दोषप्रकोप। अचय–प्रकोप में शमन चिकित्सा की जाती है। चयप्रकोप की उपेक्षा या मिथ्योपचार के कारण छ अवस्थाएँ होती हैं। शास्त्रकार ने प्रत्येक अवस्था को पृथक् क्रियाकाल कहकर विद्यार्थी का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया है कि वह अवस्था–मात्र के प्रति अपने कर्तव्य को समझें। ये अवस्थाएँ अधोलिखित हैं—

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्।
संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥ —सु० सू० ०१।३६।३७

xx तेषामपहरणं च बहुदोषे शोधनं मध्यदोषे लङ्घनपाचनम् अल्पदोषे संशमनमित्ति॥ —**डल्हण**

—जो दोषों के **संचय प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति** और **भेद** इन (छ वृद्धि की अवस्थाओं) को जानता है वही वैद्य हो सकता है।

—संचय में ही दोषों का अपहरण (साम्यावस्था का उत्पादन) कर दिया जाए वे उत्तर अवस्थाओं (गतियों) को प्राप्त नहीं करते। उत्तरावस्थाओं में वे बलवत्तर होते जाते हैं।

—अपहरण का अर्थ है—दोष बहुत हो तो **संशोधन**, दोष मध्य हो तो **लङ्घन** पाचन तथा अल्प हो तो **संशमन**।

इन अवस्थाओं का विशेष विवरण विद्यार्थी चिकित्सा के ग्रन्थों में पढ़ेंगे। यों प्रसर और स्थानसंश्रय (पूर्वरूपावस्था) का प्रसंगोपात्त निर्देश इस ग्रन्थ में भी किया जा चुका है।

अपने–अपने पूर्वनिर्दिष्ट स्थान में ऋतु–स्वभाव या अहिताहारविहारादिवश हुई वृद्धि को संचय कहते हैं। प्रत्येक दोष के संचय के लक्षणों का निर्देश कर आचार्य कहते हैं—

१—पृ० ३६–३७ पर दिए चरक–वचनों से विदित होगा कि रसायन और बाजीकरण स्वस्थवृत्त के ही अङ्ग हैं। अतः आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम में इन्हें निदान–चिकित्सा के गौण उपाङ्ग के रूप में स्थान देकर स्वस्थवृत्त के साथ रखना चाहिए।

तत्र प्रथमः क्रियाकालः— सु० सू० २१।१८

नाम—संचयावस्था प्रथम चिकित्साकाल है ।

आगे दोषों के कारणों तथा लक्षणों का निर्देश कर आचार्य कहते हैं—

तत्र द्वितीयः क्रियाकालः— —च० सू० २१।२७

नाम—प्रकोपावस्था चिकित्सा का द्वितीय अवसर है ।

इसके अनन्तर दोषों के प्रसर का विवरण कर आचार्य ने कहा है—

तत्र तृतीयः क्रियाकालः— —च० सू० २१।३२

नाम—दोषों की प्रसरावस्था चिकित्सा का तृतीय काल है ।

चतुर्थ दशा स्थानसंश्रय का निर्देश कर आचार्य ने पुनः चेतावनी दी है—

तत्र पूर्वरुपगतेषु चतुर्थः क्रियाकालः— च० सू० २१।३३

—स्थानसंश्रयावस्था में पूर्वरूप नामक रोग के अव्यक्त लक्षणों के रूप में दोष प्रादुर्भूत हुए हों तो चतुर्थ चिकित्साकाल होता है ।

अत ऊर्ध्वं व्याधेर्दर्शनं वक्ष्यामः xx तत्र पञ्चमः क्रियाकालः ॥

—सु० सू० २१।३४

इसके अनन्तर रोग का दर्शन होता है । (लक्षण व्यक्त हो जाने के कारण कही जाने वाली व्यक्ति नामक अवस्था के लक्षण उत्पन्न होते हैं) । यह चिकित्सा का पञ्चम काल है ।

इस अवस्था में लक्षणों की व्यक्ति का अर्थ यह है कि इसमें प्रत्येक रोग के प्रत्यात्मलक्षण, नाम वे लक्षण जिनसे उस रोग की प्रतीति होती है, प्रव्यक्त हो जाते हैं । संताप ज्वर का, सरण अतिसार का, पूरण उदर का त्वचा और मांस के मध्य दोषों का संघात शोथ, अर्बुद आदि का प्रत्यात्मलक्षण (प्रधान चिह्न) हैं ।

अन्तिम भेद नामक षष्ठावस्था का निरूपण करते आचार्य कहते हैं—

अत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां ब्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः; ज्वरातिसारप्रभृतीनां व दीर्घकालानुबन्धः । तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुपयान्ति ॥

—सु० सू० २१।३५

—इसके अनन्तर शोथ तो विदीर्ण होकर (फटकर) ब्रणभाव को (ब्रण रूप को) प्राप्त हो जाते हैं और ज्वर, अतिसार प्रभृति रोग जीर्ण (दीर्घकालानुबन्धी) हो जाते हैं । उस काल भी प्रत्युपाय न किया जाए तो वे असाध्यता को प्राप्त हो जाते हैं ।



विमलविपुलबुद्धेरपि

दोषों का यथावत् ज्ञान तथा तत्संबंधी इतर विषयों का विशद नाम आवश्यक होते हुए भी उतना सुकर नहीं । ग्रन्थ को अक्षरशः पढ़ने का महत्त्व बतलाते धन्वन्तरि ने नीचे लिखे पदों में यह बात कही है—

तस्मात् सविंशमध्यायशतमनुपदपादश्लोकार्धश्लोकमनुवर्णयितव्यमनुश्रोतव्यं च । कस्मात् ? सूक्ष्मा हि द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकदोषधातुमलाशयमर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिगर्भसंभवद्रव्यसमूहविभागास्तथा प्रनष्टशल्योद्धरणव्रण विनिश्चयभग्नविकल्पाः साध्ययाप्यप्रत्याख्येयता च विकाराणामेव मादयश्चान्ये विशेषाः, सहस्त्रशो ये विचिन्त्यमाना विमलबिपुलबुद्धेरपिबुद्धिमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः । तस्मादवश्यमनुपदपादश्लोकार्धश्लोकमनुवर्णयितव्यमनुश्रोतव्यं च ॥

—सु० सू० ४।५

xx अनुपदपादश्लोकम् अनुशब्दो वीप्यार्थः । तेनायमर्थः—पदं पदं पांद श्लोकं श्लोकमनुवर्णयितव्यमाचार्येण व्याख्यातव्यमित्यर्थः । xxx । विचिन्त्यमाना 'गुरुंविना' इति शेषः । विमला बुद्धिर्मिथ्यासंशयज्ञानवर्जिता xxx ॥ —**डल्हन**

अतः एक सौ बीस अध्यायों की शब्दशः, पादशः, श्लोकार्धशः तथा श्लोकशः आचार्य को व्याख्या करनी चाहिए और शिष्य को उनका श्रवण करना चाहिए । कारण ?

—द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक, दोष, धातु, मल, आशय, मर्म, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि, गर्भ के उत्पादक द्रव्यों का समूह—इनके विभेद, एवं शरीर में प्रनष्ट (अविदित स्थान पर प्रविष्ट) शल्य के उद्धरण, व्रण सम्बन्धी निदान तथा भग्नों के प्रकार; तथा रोगों की साध्यता याप्यता और प्रत्याख्येयता (त्याज्यता), किंबहुना, इसी प्रकार के अन्य ज्ञातव्य विषय हैं जिनका गुरु के बिना विचार किया जाए तो निर्मल (मिथ्याज्ञान और संशय रहित) तथा विपुल बुद्धिवाले पुरुष की भी बुद्धि विकल हो जाए, अल्पबुद्धि की तो कथा ही क्या ? अतः—

—(ग्रन्थ के) प्रत्येक पद, पाद), (चरण) श्लोकार्ध और श्लोक की व्याख्या और श्रवण अवश्य करना चाहिए ।

प्रसंग विशेष में महामुनि ने भी इन्हीं पदों में आयुर्वेद के ज्ञातत्य विषयों की गहनता बताई है । प्रसंग यह है कि, वमनादि संशोधन देने के पूर्व उनकी व्यापत्ति (मिथ्यायोग, अयोग, अतियोग) के प्रत्युपाय के साधन भी संगृहीत कर निकट ही रखने चाहिए, यह आचार्य ने अपने उपदेश में कहा था । इस पर शिष्य अग्निवेश ने कहा—ज्ञानवान पुरुष को प्रथम ही उपचार इस प्रकार करने चाहिए कि, व्यापत्ति हो ही नहीं । इस प्रकार इन प्रत्युपायों की भी आवश्यकता न पड़े । उत्तर देते आत्रेय मुनि कहते हैं—

तमुवाच भगवानात्रेयः—शक्यं तथा प्रतिविधातुमस्माभिरस्मद्विधैर्वाऽप्यग्निवेश, यथा प्रतिविहिते सिध्येदेवौषधमेकान्तेन; तच्च प्रयोगसौष्ठवमुपदेष्टुं यथावत् ॥
—च० सू० १५।५

भगवान् आत्रेय उसे बोले—अग्निवेश, हम या हमारे सदृशों द्वारा इस प्रकार उपचार किया जा सकता है जिससे औषध से नियत (निश्चित, एकांत) सिद्धि ही हो (अपाय–व्यापत्ति न हो) और इस प्रकार प्रयोग की समीचीनता का यथावत् उपदेश भी (शिष्यों को) किया जा सकता है । परन्तु—

नहि कश्चिदस्ति य एतदेवमुपदिष्टमुपधारयितुमुत्सहेत; उपधार्य वा तथा प्रतिपत्तुं प्रयोक्तुं वा ॥
—च० सू० १५।५

उपधारयितुमिति ग्रन्थेन धारयितुम, प्रतिपत्तुमित्यर्थतो ग्रहीतुम् ॥
—चक्रपाणि

—ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो इस प्रकार इसके उपदेश को शब्दशः ग्रहण (स्मरण) कर सके तथा अर्थतः जान सके या प्रयोग में ला सके । कारण ?

सूक्ष्माणि हिदोषभेषजदेश-कालबल-शरीराहार सात्म्यसत्त्वप्रकृतिवय-सामवस्थान्तराणि, यान्यनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः । तस्मात्—
—च० सू० १५।५

—दोष, औषध, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व (मन), प्रकृति और वय इनके अवस्था–भेद ऐसे सूक्ष्म (दुर्बोध) हैं कि उनका विचार किया जाए तो विमल विपुल–बुद्धि पुरुष की बुद्धि भी परास्त हो जाए, अल्पबुद्धि की तो बात ही क्या ? इसलिए—

उभयमेतद्यथावदुपदेक्ष्यामः—सम्यक्प्रयोगं चौषधानां, व्यापन्नानां च व्यापत्साधनानि सिद्धिषूत्तरकालम् ॥
—च० सू० १५।५

दोनों का ही यथावत् उपदेश करेंगे—इस प्रकरण में औषधों के सम्यक् प्रयोग का तथा उत्तर काल में सिद्धिस्थान में व्यापन्न (व्यापत्ति को प्राप्त हुए) औषधों के प्रत्युपाय के साधनों का ।

चक्रपाणि ने इस वचन की टीका में दोषादि के विषय में ज्ञातव्य वस्तुओं का समासतः (संक्षेप में) उपदेश किया है । वह भी ज्ञातव्य होने से उद्धृत किया जाता है ।

तत्र दोषस्यावस्थान्तराणि—क्षयस्तथा वृद्धिस्तथा समत्वम् । एवमूर्ध्वदेहगमनं तथाऽधोदेहगमनं, तिर्यग्गमनं वा । तथा शाखाश्रयित्वं कोष्ठाश्रयित्वं मध्यमार्गाश्रयित्वम् तथा स्वदेशगमनं परदेशगमनम् । तथा स्वतन्त्रत्वं परतन्त्रत्वम् । तथांऽशांशविकल्पः तथा धातुविशेषाश्रयित्वम् । तथा कालप्रकृतिदूष्यानुगणत्वादि कृत्स्नतन्त्रप्रतिपादितानि ज्ञेयानि ॥
—चक्रपाणि

—इनमें दोषों के अवस्थाभेद ये हैं—क्षय, वृद्धि तथा समत्व; एवं शरीर के ऊर्ध्व भाग में गति, अधोभाग में गति तथा तिर्यक् (पार्श्व में) गति; तथा शाखा (रक्तादि धातु और त्वचा) का आश्रय करना, कोष्ठ (मध्य देह, धड़) का आश्रय करना तथा मध्यमार्ग (में, तथा अस्थि – संधि) का आश्रय कर रोगोत्पत्ति करना; एवं अपने स्थान (यथा वात का पक्वाशय में) गमन करना, किंवा इतर दोष के स्थान में गति करना; एवं स्वतन्त्र (रोगोत्पादन में प्रधान) होना किंवा परतन्त्र होना; एवं अंशांश – विकल्प नाम दोषों के किस गुण की समता, क्षय या वृद्धि है और कितने अंश में; एवं धातु–विशेष का आश्रय करके रहना (अमुक धातु में स्थित हो रोगोत्पत्ति करना), एवं काल, प्रकृति तथा दूष्य (दोष द्वारा विकृत होने वाले धातु, उपधातु और मल) इनका रोगारम्भक दोष के समान गुणवाला होना इत्यादि संपूर्ण तन्त्र में प्रतिपादित वस्तुएँ दोषों के विषय में ज्ञातव्य होती हैं ।

एवं भेषजस्यावस्थान्तराणि—तरुणत्वं, वृद्धत्वम्; आर्द्रत्वं, शुष्कत्वं, द्रव्यान्तरसंयुक्तत्वं, स्वरसादिकल्पनायोगित्व, रसवीर्यविपाकैः प्रभावैश्च तस्मिन् देहे दोषादौ तत्तत्कार्यकर्तृत्वमेवमादीनि ॥ **—चक्रपाणि**

—इसी प्रकार औषध के अवस्था – भेद (भी देखने चाहिए । जैसे उसकी) तरुणता, परिपक्वता, आर्द्रता, शुष्कता, इतर द्रव्य से संयोग, स्वरस – प्रभृति कल्पनाओं के रूप में उपयोगिता (किस कल्पना के रूप में) उसका उपयोग रोगी की रुचि आदि को देखते उपयुक्त है यह बात); रस, विपाक तथा प्रभावों द्वारा उस (रुग्ण) शरीर और दोष आदि पर तत्तत् क्रिया करने का सामर्थ्य इत्यादि ।

देशस्त्वानूपजाङ्गलसाधारणप्रशस्तादिभेदभिन्नः । कालावस्थान्तराणि तु ऋतुभेदाः; पूर्वाह्णादिश्च तथा व्याध्यवस्था ज्वराष्टाहादय इत्येवमादीनि । बलं तु सहजं युक्तिकृतं तथा कालकृतमुत्कृष्टपाकृष्टमध्यादिभेदभिन्नम् ॥ **—चक्रपाणि**

देश आनूप (जलप्राय), जाङ्गम (मरु) तथा साधारण (मध्य) एवं प्रशस्त आदि भेदों के कारण अनेक प्रकार का होता है ।

—**काल के अवस्था विशेष** ये हैं—ऋतुओं के भेद; पूर्वाह्ण आदि (अहोरात्र के विभाग; एवं व्याधि की अवस्थाएँ यथा ज्वर में आठ दिन इत्यादि ।

—बल सहज (जन्मजात), युक्तिकृत (प्रयत्नोपार्जित) तथा (हेमन्तादि) काल – कृत एवं उत्कृष्ट, अपकृष्ट, मध्य आदि भेदों के कारण भिन्न होने से अनेकविध होता है ।

शरीरं तु स्थूलत्वकृशत्वसारवतवनिःसारवत्त्वादिः तथा परिपालनीयदृष्टिमर्माद्यवयवविशेषादिभिश्च भिन्नम् । आहारस्तु प्रकृतिकरणसंयोगराशिभेदादिभिर्भिन्नः । सात्म्यं तु देशतः कालतो व्याधितः प्रकृतितः स्वभाव तोऽभ्यासतश्च भिन्नं भवति ॥ **—चक्रपाणि**

—शरीर स्थूलता (मेदस्विता), कृशता, सारवता (धातुविशेष, सर्वधातु तथा मन इनकी विशेष परिमाण में शुद्धि), निःसारता एवं (स्वेदन, शस्त्र आदि से) रक्षा करने योग्य नेत्र, मर्म आदि के भेद से भिन्न होता है ।

—आहार भी (पूर्वोद्दिष्ट) प्रकृति, करण, संयोग, राशि आदि के भेद से अनेक – विधि होता है ।

—सात्म्य देश, काल, व्याधि, प्रकृति, स्वभाव और अभ्यास से (इनके भेद से) भिन्न होता हुआ नानाविध होता है ।

सत्त्वं तु भयशौर्यविषादहर्षादियोगभिन्नं भवति । प्रकृतिभेदास्त्वनेकप्रकारभिन्नवाताद्यारब्धत्वेन बोद्धव्याः । वयोभेदास्तु वाल्ययौवनवार्धक्य तदवान्तरभेदाः ।

एतानि दोषाद्यवस्थान्तराणि चिकित्साप्रयोगे यथा यथाऽपेक्ष्यन्ते, तदुदाहरणं शास्त्रेऽनुसरणीयम् । इह लिख्यमानं तु विस्तरत्वं ग्रन्थस्यावहतीति नोक्तम् ॥

—सत्त्व (मन) भय, शौर्य विषाद, हर्ष आदि के योग (संयोग) से भिन्न (अनेकविध) होता है ।

—प्रकृति के भेद अनेक प्रकारों से (परस्पर तथा स्वयं भी) भिन्न वातादि दोषों से उत्पादित होने से (भिन्न) समझने चाहिए ।

—वय के भेद बाल्य, यौवन, वार्धक्य तथा उनके अवान्तर भेद हैं ।

दोषादि के इन अवस्था—भेदों की चिकित्सा – व्यवहार में कैसे – कैसे आवश्यकता होती है इस बात के उदाहरण शास्त्र में देखने चाहिए । यहाँ उनका उल्लेख किया जाए तो ग्रन्थ का विस्तार हो जायेगा, इसी से यहाँ उनका निर्देश नहीं किया है ।

ऐसे विमल – विपुल बुद्धि सूक्ष्मवेदी वैद्यों के सविस्तार लक्षण चरक ने प्राणाभिसर वैद्यों के लक्षणों के प्रसंग से दिए हैं । उनको यहाँ उद्धृत किया जाता है । साथ ही उनके विपरीत रोगाभिसर वैद्यों के लक्षण भी दिए जाते हैं ।



प्राणाभिसरा रोगाभिसराश्च वैद्या

दस प्राणायतनानि

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः ।
शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥
तानीन्द्रियाणि विज्ञानं चेतनाहेतुमामयान् ।
जानीते यः स वै विद्वान् प्राणाभिसर उच्यते ॥

—च० सू० २६।३–४

मर्मत्रयमिति हृदयबस्तिशिरांसि । तानीति शङ्खादीनि । विज्ञानं बुद्धिः । चेतनाहेतुरात्मा xx ॥ **—चक्रपाणि**

—(प्राणों के) दश आयतन (स्थान) हैं जिनमें प्राण प्रतिष्ठित हैं—विशेषतया स्थित हैं (जिनमें आघात से प्राणों को विशेष आघात पहुँचता है, तथा जिनके नाश से प्राणों का नाश होता है[१])—दो शङ्ख (कनपटियाँ; कर्ण और ललाट का मध्यवर्ती प्रदेश), तीन (प्रधान) मर्म नाम हृदय, बस्ति और शिर; कण्ठ, रक्त, शुक्र, ओज और गुद ।

—इन शङ्खादि प्राणायतनों, इन्द्रियों, बुद्धि चेतना के हेतुभूत आत्मा, रोग (रोग हे हेतु, लिङ्ग —लक्षण—और औषध) इन सबको जो जानता है उस विद्वान् को प्राणाभिसर – कहते हैं ।

द्विविधास्तु खलु भिषजो भवन्त्यग्निवेश, प्राणानामेकेऽभिसरा हन्तारो रोगाणां रोगाणामेकेऽभिसरा हन्तारः प्राणानामिति ॥ —च० सू० २६।५

xx रोगाणामभिसरा इति रोगाणामानेतारः ॥ **—चक्रपाणि**

—अग्निवेश, वैद्य दो प्रकार के होते हैं । कई एक प्राणों के लाने वाले—**प्राणाभिसर** तथा रोगों का नाश करने वाले और अन्य रोगों के लाने वाले—**रोगाभिसर** तथा प्राणों का नाश करने वाले होते हैं ।

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—भगवंस्ते कथमस्माभिर्बेदितव्या इति ॥

—च० सू० २६।६

—इस प्रकार कहते भगवान् आत्रेय को अग्निवेश बोला—भगवन्, ये (दो प्रकार के वैद्य) हमसे कैसे जाने जा सकते हैं ? (किन लक्षणों से इनकी परीक्षा हो सकती है),

---

१—देखिए इन पद्यों के पूर्व ह० सू० २६।१–२ की टीका में चक्रपाणि– **आयतनानीवायतनानि, तपुपघाते प्राणोपघातात्, तन्नाशे च प्राणनाशादि व्यर्थः ॥**

प्राणाभिसराणां वैद्यानां लक्षणम्

भगवानुवाच – य इमे कुलीनाः पर्यवदातश्रुताः परिदृष्टकर्माणो दक्षाः शुचयो जितहस्ता जितात्मानः सर्वोपकरणवन्तः सर्वेन्द्रियोपपन्नाः प्रकृतिज्ञाः प्रतिपत्तिज्ञाश्च ते ज्ञेयाः प्राणानामभिसरा हन्तारो रोगाणाम् ॥ —च० सू० २६।७

प्रतिपत्तिज्ञा इति तदात्वे कर्तव्यज्ञाः ॥ —**चक्रपाणि**

—भगवान् ने उत्तर दिया—जो कुलीन (तद्विद्य - कुलज—आयुर्विद्या के जानने वाले नाम वैद्य के ही कुल में उत्पन्न हुए, वैद्य की संतान) हों, जिनका श्रुत नाम शास्त्रज्ञान[1] सर्वथा अवदात (निर्मल; भ्रम मिथ्याज्ञान अज्ञान तथा संशय से रहित है; साथ ही जिन्होंने कर्म[2] (औषध – निर्माण, रोग परीक्षादि क्रिया) सम्यक् प्रकार से देखा है, जो कुशल, शुद्ध, जितहस्त (हस्तलाघव – फुर्ती वाले), जितेन्द्रिय हैं, सर्व उपकरणों (साधनों) से संपन्न हैं, जिनकी सभी इन्द्रियाँ अविकल हैं; जो प्रकृति (रोगी की प्रकृति किंवा रोग के कारण) को जानने वाले हों, एवं जो प्रतिपत्ति (तात्कालिक कर्त्तव्य) को समझने वाले होते हैं ।

संक्षिप्त प्रतिज्ञा (स्थापना) की व्याख्या करते आगे तन्त्रकार कहते हैं—

तथाविधा हि केवले शरीरज्ञाने शरीराभिनिर्वृत्तिज्ञाने प्रकृतिविकारज्ञाने च निःसंशयाः, सुखासाध्यकृच्छ्रसाध्ययाप्यप्रत्याख्येयानां च रोगाणां समुत्थानपूर्वरूपलिङ्गवेदनोपशयविशेषज्ञाने व्यपगतसंदेहाः, त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्य ससंग्रहब्याकरणस्य सत्रिविधौषधग्रामस्य प्रवक्तारः, xxxx तन्त्रस्य च ग्रहणधारणविज्ञानप्रयोगकर्मकार्यकालकर्तु करणकुशलाः, कुशलाः स्मृतिमतिशास्त्रयुक्तिज्ञानस्यात्मनः शीलगुणैरविसंवादनेन च संपादनेन च सर्वप्राणिषु चेतसो मैत्रस्य मातापितृभ्रातृबन्धुवत् । एवं युक्ता भवन्त्यग्निवेश प्राणानाभिसरा हन्तारो रोगाणामिति ॥ —च० सू० २६।७

—इस प्रकार के सुचिकित्सक ही शरीर के ज्ञान, (शुक्र – शोणित और जीव के संमूर्च्छनपूर्वक) शरीर की उत्पत्ति – संबंधी ज्ञान, एवं (त्रिगुणात्मक मूल) प्रकृति और उसके विकारों (कार्यद्रव्यभूत महदादि द्रव्यों) के ज्ञान के विषय में संशयरहित होते हैं । सुखसाध्य और कष्टसाध्य (साध्य के ये दो भेद) एवं याप्य तथा प्रत्याख्येय (त्याज्य; असाध्य रोगों के ये दो भेद) रोगों से कारण, पूर्वरूप, रूप, लिङ्ग (लक्षण), वेदना तथा उपशय (हितकर आहार, औषधादि) के भेदों के ज्ञान के संबंध में भी ये संपूर्णतया गतसंदेह होते हैं । (स्वयंसंशयरहित ज्ञान वाले होते हैं, इतना ही नहीं ये जिज्ञासुओं को) तीन प्रकार के आयुर्वेद के सूत्रों (हेतु, लक्षण और औषध रूप तीन स्कन्धों) के ज्ञान; संक्षेप और विस्तार सहित (दोषों के शामक, दोषों के कोपक तथा स्वस्थ – अवस्था में हित–उपयोगी इस प्रकार) त्रिविध औषध – समूह के प्रवक्ता भी होते हैं ।

१—थियरी । २—प्रेक्टीकल ।

(किंबहुना) समग्र तन्त्र के—संहिता के—ग्रहण, धारण (स्मरण), अर्थावबोध, चिकित्सा में प्रयोग (क्रिया का प्रत्यक्ष), कर्म (स्वयं अनेक बार क्रिया करना), कार्य (धातु – साम्य), क्रिया का काल, कर्ता (चिकित्सक) और करण (साधन, औषध)—इनके संबंध में भी ये कुशल होते हैं । अपनी स्मृति, मति, शास्त्रानुसारिणी योजना (औषध, आहार – विहार, देश, काल का रोगी को निर्देश) इनमें एवं अपने शील (स्वभाव) के गुणों तथा सर्व प्राणियों के प्रति माता, पिता, भाई और बन्धु (स्वजन) के सदृश चित्त के मैत्रीभाव के संपादन में तथा सबके अविरोध में कुशल होते हैं । वत्स अग्निवेश, ऐसे चिकित्सक प्राणाभिसर और रोगहन्ता होते हैं ।

प्राणाभिसरों के लक्षणों के अनन्तर अब रोगाभिसरों के लक्षण शास्त्रकार के शब्दों में देखिए—

रोगाभिसराणां वैद्यानां लक्षणम्

अतो विपरीता रोगाणामभिसरा हन्तारः प्राणानां, भिषक्छद्मप्रतिच्छन्नाः कण्टकभूता लोकस्य प्रतिरूपकसधर्माणो राज्ञां प्रमादाच्चरन्ति राष्ट्राणि ॥

—च० सू० २९।८

—इनके विपरीत वैद्य रोगों के अभिसर (आनेता) तथा प्राणों के हन्ता होते हैं । वे वैद्य के वेश में छुपे हुए (प्रच्छन्न) लोकों के शत्रु (कण्टक), स्वाङ्गधरनेवालों (नटों) के ही समान (केवल वैद्य के वेशधारी) होते हैं तथा राजाओं – सरकारों के प्रमाद के कारण राष्ट्रों में विचरण करते हैं ।

आशय यह है कि शासन का यह कर्त्तव्य है कि केवल सुवैद्यों को चिकित्सा कर्म की आज्ञा (रजिस्ट्रेशन) दे, शेष रोगाभिसरों को दण्ड द्वारा रोक दे ।

तन्त्रकार आगे इन असद्वैद्यों के विशेष लक्षण बताते हैं । तथाहि—

तेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति—अत्यर्थ वैद्यवेशेन श्लाघमाना विशिखान्तरमनुचरन्ति कर्मलोभात्, श्रुत्वा च कस्यचिदातुर्यमभितः परिपतन्ति, संश्रवणे चास्यात्मनो वद्यगुणानुच्चैर्वदन्ति, यश्चास्य वैद्यः प्रतिकर्म करोति तस्य च दोषान्मुहुर्मुहुरुदाहरन्ति, आतुरत्रियाणि च प्रहर्षणोपजल्पोपसेवादिभिरिच्छन्त्यात्मीकर्तुं, स्वल्पेच्छुतां चात्मनः ख्यापयन्ति; कर्म चासाद्य मुहुर्मुहुरवलोकयन्ति दाक्ष्येणाज्ञानमात्मनः प्रच्छादयितुकामाः, व्याधिं चापावर्तयितुमशक्नुवन्तो व्याधितमेवानुपकरणमपचारिकमनात्मवन्तमुपदिशन्ति, अन्तर्गत चैनमभिसमीक्ष्यान्यमाश्रयन्ति देशमपदेशमात्मनः कृत्वा, प्राकृत–जनसंनिपाते चात्मनः कौशलमकुशलवद्वर्णयन्ति, अधीरवच्च धैर्यमपवदन्ति धीरणाम्, विद्वज्जनसंनिपातं प्रतिभयमिव कान्तारमध्वगाः परिहरन्ति दूरात्, यश्चैषा कश्चित् सूत्रावयवो भवत्युपयुक्तस्तमप्रकृते[1] प्रकृतान्तरे वा सततमुदाहरन्ति, न चानुयोगमिच्छन्त्यनुयोक्तुं

१—उपयुक्तः ज्ञातः—**चक्रपाणि ।**

वा, मृत्योरिव चानुयोगादुद्विजन्ते, न चैषामाचार्यः शिष्यः सब्रह्मचारी वैवादिको या कश्चित् प्रज्ञायत इति ॥

—च० सू० २६।६

—उनका यह विशेष लक्षण होता है। ये लोक वैद्य का वेग अत्यधिक (पूरे आडम्बर के साथ, धारण किए, अपनी प्रशंसा आप करते हुए कर्म के लोभ से—किसी की चिकित्सा का अवसर मिले इस इच्छा से—एक गली से दूसरी गली में परिभ्रमण करते हैं। किसी के रोग का समाचार सुन चारों ओर से उस पर टूट पड़ते हैं। वह सुने ऐसी रीति से अपने वैद्योचित गुणों का उच्च–स्वर से कथन करते हैं। जो वैद्य उस रोगी की चिकित्सा कर रहा होता है उससे दोषों का पुनः–पुनः निर्देश करते हैं। रोगी के मित्रों को आनन्दित कर, कर्णजाप (चुगली) द्वारा या किसी प्रकार का उनका काम करके उन्हें अपना बनाने की इच्छा रखते हैं (उपाय करते हैं)। अपनी अल्पेच्छुता (फीस कम लेने की इच्छा) प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार कर्म (चिकित्सा का अवसर) प्राप्त हुआ तो अपने अज्ञान को छुपा रखने की इच्छा से बड़ी चतुरता से बार–बार (रोगी की) परीक्षा करते हैं। रोग को शान्त करने में असमर्थ होने पर रोगी को ही साधन– हीन (पैसा खर्च न कर सके ऐसा), परिचारक–रहित तथा अजितेन्द्रिय (अपथ्यसेवी) कह कर उसकी निन्दा करते हैं उसको अन्तिम दशा को प्राप्त हुआ जान कुछ ब्याज (बहाना) करके किसी स्थानान्तर को चले जाते हैं। प्राकृत (साधारण) जनों के समुदाय में अपने कौशल का अकुशलों के समान वर्णन करते हैं (अपने विषय में ऐसी गप्प हाँकते हैं कि वे कुशल नहीं हैं, ऐसा अनायास प्रकट हो जाता है)। धीरों (धीर चिकित्सकों) के धैर्य की बड़े अधीर होकर (आवेश–युक्त हो) निन्दा करते हैं। विद्वज्जनों के समुदाय से ऐसे ही दूर भागते हैं जैसे भयंकर वन से पथिक। उन्हें कोई शास्त्र वचन का अंश ज्ञात होता है तो उसे प्रकरण प्रस्तुत न हो तो भी अथवा प्रकरणान्तर में बार–बार दुहराते रहते हैं। न अपने को कोई प्रश्न करे ऐसा कहते हैं, न स्वयं किसी को प्रश्न करते हैं। प्रश्न से जैसे मृत्यु में घबराते हों ऐसे घबराते हैं। इनका कोई आचार्य, शिष्य सतीर्थ्य (सहपाठी) या इनसे विवाद करने वाला कोई किसी को पता नहीं लगता (होता ही नहीं पता कैसे लगे ?)

तत्र श्लोकाः—

भिषक्छद्म प्रतिश्यैवं व्याधितांस्तर्कयन्ति ये।
वीतंसमिव संश्रित्य वने शाकुन्तिका द्विजान् ॥
श्रुतदृष्टक्रियाकालमात्राज्ञानबहिष्कृताः।
वर्जनीया हि ते मृत्योश्चरन्त्यनुचरा भुवि ॥
वृत्तिहेतोर्भिषङ् मानपूर्णान् मूर्खविशारदान् ॥
वर्जयेदातुरो विद्वान् सर्पास्ते पीतमारुताः ॥ —च० सू० २६।१०–१२

—इस विषय में श्लोक (सर्वसंग्राहक पद्य) हैं—

—व्याध जिस प्रकार वन में जाल फैलाकर पक्षियों की प्रतीक्षा किया करते हैं, इसी प्रकार वैद्यों का कपटवेश धारण कर जो रोगियों की राह देखते हैं,

—शास्त्र, प्रत्यक्ष, चिकित्सा, काल और मात्रा—इनके ज्ञान से जो सर्वथा शून्य हैं, ऐसे वे सर्वथा परिहरणीय (वर्जनीय, त्याज्य) हैं । वे यमराज के अनुचर होकर ही पृथ्वी पर पर्यटन कर रहे होते हैं ।

—केवल वृत्ति (उदर – पूरण) के निमित्त जिन्होंने चिकित्सकों का स्वांग रचा है ऐसे मूर्ख – शिरोमणियों को बुद्धिशाली रोगी को छोड़—देना चाहिए । वे वायु का पान कर तृप्त हुए (अतएव अति सविष) सर्प ही हैं ।

इसके विपरीत—

ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः ।

जितहस्ता जितात्मानस्तेभ्यो नित्यं कृतं नमः ॥ —च० सू० २६।१३

—जो शास्त्रपारंगत, दक्ष (शीघ्रकारी), शुद्ध, कर्म में कुशल, जितहस्त (हस्तलाघवयुक्त) तथा जितात्मा (जितेन्द्रिय) हों ऐसे (प्राणाभिसर वैद्यों) को हमारा प्रणाम हो ।

भिषजां त्रिविधत्वम्

चिकित्सकों की तीन श्रेणियाँ तथा उनके लक्षण बताते हुए आचार्य ने इस विषय का संक्षिप्त निरूपण किया है । देखिए—

त्रिविधा भिषज इति—

भिषक्छद्मचराः सन्ति सन्त्येके सिद्धसाधिताः ।

सन्ति वैद्यगुणैर्मुक्तास्त्रिविधा भिषजो भुवि ॥ —च० सू० ११।५०

—विश्व में वैद्य तीन प्रकार के (त्रिविध) होते हैं—**भिषक्छद्मचर** (वैद्य के जिनमें गुण न हों पर जो वैद्य होने का कपट करें ऐसे); **सिद्धसाधित** तथा **जीविताभिसर** (वैद्यों के शास्त्रोक्त गुणों से युक्त) ।

प्रत्येक के क्रमशः लक्षण अधोलिखित हैं—

वैद्यभाण्डौषधैः पुस्तैः पल्लवैरवलोकनैः ।

लभन्ते ये भिषक्शब्दमज्ञास्ते प्रतिरूपकाः ॥ —च० सू० ११।५१

जो अज्ञ वैद्यों के उपकरणों (वस्तियन्त्रादि), औषधों, पुस्तकों या नमूनों (मॉडल, चित्र आदि) हरी वनस्पतियों तथा आडम्बरों के कारण भिषक् संज्ञा को प्राप्त करते हैं वे (कपटी) **प्रतिरूपक** (वैद्य का आडम्बर करने वाले) हैं ।

श्रीयशोज्ञानसिद्धानां व्यपदेशादतद्विधाः ॥

वैद्यशब्दं लभन्ते ये ज्ञेयास्ते सिद्धसाधिताः ॥ —च० सू० ११।५२

—जो स्वयं वैसे (आगे कहे लक्ष्मी आदि गुणों से युक्त) न हों परन्तु लक्ष्मी, यश और ज्ञान से (संपन्न) पुरुषों के कहने से (अर्थात् वे कह दें कि यह सुवैद्य हैं, अथवा ऐसों के शिष्य या पुत्र आदि हैं इस ख्याति से) वैद्य शब्द के पात्र होते हैं उन्हें सिद्धसाधित समझें ।

प्रयोगज्ञानविज्ञानसिद्धिसिद्धाः सुखप्रदाः ।

जीविताभिसरास्ते स्युर्वैद्यत्वं तेष्ववस्थितम् ॥ —च० सू० ११।५३

—जो प्रयोग (कल्प – निर्माण तथा चिकित्सा का प्रत्यक्ष), ज्ञान और विज्ञान इनकी सिद्धि (संपूर्णता) से सिद्ध हों, अपने स्वभाव और चिकित्सा – कौशल से लोकों के लिए सुखदायी हों वे **जीविताभिसर** होते हैं । वैद्यत्व उनके ही आधार पर टिका होता है ।



भिषजः परीक्षा तद्गुणाश्च

विमानस्थान में वैद्य की परीक्षा करने के लिए चरक ने वैद्य के कुछ गुण बताए हैं । वे भी इस प्रकरण में द्रष्टव्य हैं—

भिषङ्नाम यो भिषज्यति, यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलः, यस्य चायुः सर्वथाविदितं यथावत्, स च सर्वधातुसाम्यं चिकीर्षन्नात्मानमेवादितः परीक्षेत, गुणिषु गुणतः कार्याभिनिर्वृत्तिं पश्यन्— कच्चिदहमस्य कार्यस्याभिनिर्वर्तने समर्थो न वेति ॥

तत्रेमे भिषग्गुणा यैरुपपन्नो भिषग्धातुसाम्याभिनिर्वर्तने समर्थो भवति । तद्यथा—पर्यवदातश्रुतता, परिदृष्टकर्मता, दाक्ष्यं, शौचं, जितहस्तता, उपकरणवत्ता, सर्वेन्द्रियोपपन्नता प्रकृतिज्ञता प्रतिपत्तिज्ञता[1] चेति ॥

—च० वि० ८।८६

—भिषक् वह है जो चिकित्सा करे, जो सूत्रों (शास्त्र -बचनों) के अर्थ–शास्त्रों में कही बात–के प्रयोग में अर्थात् उसे क्रिया में लाने में कुशल हों; साथ ही जिसे आयु–सर्व प्रकार से यथावत् विदित हो[2] । सर्वधातुओं (सर्व दोषों, धातुओं, उपधातुओं

१—प्रतिपत्तिरुत्पन्नायामापदि झटिति कर्तव्यकरणम्—चक्रपाणि । प्रतिपत्ति=प्रत्युत्पन्नमति ।

असाध्यसाधने दोषाः

२—सामान्यतया सभी रोगों की तथा पृथक् भी प्रत्येक रोग की साध्यासाध्यता के लक्षण, अरिष्ट–लक्षण, ग्रहों, स्वप्नों तथा दूतों (वैद्य को बुलाने के लिए आए पुरुष), नाड़ी, नासिका में चलते स्वर आदि का विस्तृत निरूपण प्राचीन आचार्यों ने रोगों क़ीं साध्यासाध्यता के ज्ञान के लिए किया है । इन प्रकरणों को सदा दृष्टिगत रख असाध्य रोगी को हाथ में लेने से बचना चाहिए । अन्यथा असाध्य (प्रत्यांख्येय, त्याज्य) रोगो की चिकित्सा करने का क्या अनिष्ट परिणाम होता है, यह आचार्य ने नीचे दिये हुए पद्यों में बताया है—

साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः ।

काले चारभते कर्म यत्तत्साधयति ध्रुवम् ॥

अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम् ।

प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत् ॥ —चि० सू० १०।७–८

—जो चिकित्सक साध्य और असाध्य रोगों के भेदों को जानता हुआ, (औषधादि के) ज्ञानपूर्वक तथा यथा यथाकाल चिकित्सा–कर्म करता है वह निश्चित ही (अपने रोगी को) रोग— मुक्त करता है ।

(परन्तु) जो वैद्य असाध्य रोगी की चिकित्सा करता है यह निश्चित ही अर्थ, विद्या और यश का नाश, निन्दा और असंग्रह (भविष्य में रोगियों की प्राप्ति न होना–इन अनिष्ट परिणामों) को प्राप्त होता है ।

(सर्व दोषों, धातुओं, उपधातुओं और मलों) का साम्य करने की[1] इच्छा करता हुआ वैद्य प्रथम यह विचार कर आप ही अपनी परीक्षा[2] करे कि, किसी भी कार्य की सिद्धि गुणवान् कर्ता में रहे गुण के ही कारण होती है। (वह अपनी परीक्षा इस रूप में करे कि) – मैं इस कार्य (रोगी के धातु – साम्य – रूप प्रयोजन) के संपादन में समर्थ हूँ या नहीं ?

—सो भिषक् के ये (अधोलिखित) गुण होते हैं जिनसे युक्त हुआ वैद्य धातुसाम्य क्रिया के संपादन में समर्थ होता है—तथाहि—शास्त्रज्ञान का अवदात (निर्मल, निर्दोष) होना, कर्म (क्रिया) का देखा होना, दाक्ष्य (आशुकरिता), शौच (पावित्र्य), हस्तलाघव, साधन–संपन्नता, सर्व इन्द्रियों से युक्त होना, प्रकृतिज्ञान तथा प्रतिपत्ति–युक्त होना (प्रत्युत्पन्नमतित्व)।



चिकित्सायाः प्रयोजनं धातुसाम्यम्

१—प्रसंगवश आयुर्वेद–मत से चिकित्सा का प्रयोजन दर्शाया जाता है—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।

सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम् ॥ —च० सू० १३।३४

—जिन क्रियाओं के अनुष्ठान से शरीर में धातु (दोष, धातु; उपधातु; मल तथा इनकी क्रिया) सम होती है, उसी का नाम रोगों की चिकित्सा है। वही भिषक्कर्म कहा गया है। अपरं च—

xxx **कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते।**

धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम् ॥ —च० सू० १।३५

—आयुर्वेद में धातुसाम्य को कार्य (कर्तव्य, भिषक्कर्म) कहते हैं। धातुसाम्य के लिए जो क्रिया की जाती है वह इस (आयुर्वेद) का प्रयोजन है।

प्राचीन परीक्षा पद्धति

२—यहाँ प्राचीन परीक्षा–पद्धति के प्रति संकेत है। विद्यार्थी को अपने आप ही अपनी परीक्षा करनी चाहिए। इतिहास में भगवान् तथागत (बुद्ध) तथा समकालिक अनेक राजाओं के वैद्य जीवन की ऐसी परीक्षा का उल्लेख है। गुरु ने उसे कहा–गुरुकुल के चारों ओर योजन–योजन फिर आओ। कोई अभैषज्य (जिसका चिकित्सार्थ उपयोग न होता हो ऐसा) द्रव्य मिले तो लाओ। जीवक फिर आया और गुरु को बोला—कोई अभैषज्य देखने में नहीं आया और गुरु ने उसे शास्त्र में उत्तीर्ण कह कर चिकित्सा–कर्म करने की आज्ञा दे विदा कर दिया।

चिकित्सायाः पादचतुष्टयम्

प्राचीनों ने चिकित्सा के चार चरण (पाद) बताए हैं तथा इनमें एक वैद्य को श्रेष्ठ बताकर वैद्य को अपनी जवाबदारी समझने का उपदेश किया है । प्रत्येक चरण के चार – चार गुण (कलाएँ) कहे हैं । चरक तथा सुश्रुत से प्रत्येक चरण तथा उसके गुणों का उल्लेख यहाँ किया जाता है :—

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम ।

गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ।। —च० सू० ६।३

—वैद्य, औषध द्रव्य, उपस्थाता (परिचारक) और रोगी ये चार चिकित्सा के चरण हैं । ये गुणवान् (आगे कहे अपने – अपने गुणचतुष्टय से युक्त) हों तो रोग की शान्ति में कारण होते हैं ।

विकारो धातुबैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते ।

सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ।।

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते ।

प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ।। —च० सू० ८।५ – ४

—धातुओं में वैषम्य (क्षय—वृद्धि) का ही नाम विकार या रोग है, (इसके विपरीत धातुओं का) साम्य प्रकृति या आरोग्य कहा जाता है । आरोग्य की सुख और विकार की दुःख संज्ञा है ।

—धातुओं दोषादि के विकार (वैषम्य; रोग) में प्रशस्त (साम्य – जनक होने से उपयुक्त) भिषक् आदि चार (चरणों) की धातुओं के साम्य के लिए जो प्रवृत्ति (क्रिया) होती है वह चिकित्सा कही जाती है ।

प्रत्येकं पादस्य पृथक गुणाः

श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता ।

दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम् ।।

बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना ।

संपच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते ।।

उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि ।

शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने ।।

स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि वा ।

ज्ञापकत्त्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः ।। —च० सू० ६।६–६

—श्रुत (शास्त्रज्ञान) की निर्मलता, पुनः पुनः कर्म (औषध—निर्माण तथा निदान—चिकित्सा—रूप क्रिया) का दर्शन किया होना, दाक्ष्य तथा शौच वैद्य में ये चार गुण[1] समझने (होने) चाहिए ।

—बहुता (संख्या तथा प्रमाण प्रभूत होना), जिस व्याधि का प्रतीकार करना है उसमें (उसके निवारण में) उनकी योग्यता (सामर्थ्य) होना, (रोगी की रुचि, रोग आदि को दृष्टि में रख द्रव्यों की) अनेक प्रकार की कल्पना, तथा संपत्ति (कृमि, जल आदि से शक्ति उपहत न होना) —ये चार द्रव्यों के गुण हैं ।

—उपचार (आहार—द्रव्यों का निर्माण, संवाहन—चंपी, बिस्तर बनाना आदि कर्म) की अभिज्ञता, दक्षता, भर्ता (सेव्य रोगी) के प्रति अनुरक्ति और शौच- ये चार परिचारक (नर्स आदि) के गुण हैं ।

—स्मृति (वैद्य के कहे निर्देशों तथा अपने भूत अनुभवों का स्मरण), निर्देशानुसार कार्य करने का स्वभाव, अभीरुता (निर्भयता, स्थिति गम्भीर हो जाय इत्यादि स्थितियों में भी घबरा न जाना) तथा रोगों के विषय में सर्व ज्ञातव्य बातें जतलाना—ये चार रोगी के गुण हैं ।

पादचतुष्टये वैद्यस्य प्रामुख्यम्

कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम् ।
विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु ॥
पक्तौ हि कारणं पक्तुर्यथा पात्रेन्धनानलाः ।
विजेतुर्विजये भूमिश्चमूः प्रहरणानि च ॥
आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादाः कारणसंज्ञिताः ।
वैद्यस्यातश्चिकित्सायां प्रधानं कारणं भिषक् ॥
मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकारादृते यथा ।
नावहन्ति गुणं वैद्यादृते पादत्रयं तथा ॥
गन्धर्वपुरवन्नाशं यद्विकाराः सुदारुणाः ।
यान्ति यच्चेतरे वृद्धिमाशूपायप्रतीक्षिणः ।
सन्ति पादत्रये ज्ञानी भिषजावत्र कारणम् ॥

—च० सू० ६।१०—१५

१—जितहस्तत्वादयोऽपरेऽपि वैद्यगुणा अत्रैव गुणाचतुष्टयेऽन्तर्भावनीय—चक्रपाणि ।

—जितहस्तता आदि अन्य भी (अन्यत्र उक्त) वैद्यगुण इन्हीं चार गुणों में अन्तर्भावित कर लेने चाहिए ।

इस प्रकार सोलह गुणोंवाले चार पाद चिकित्सा में कारण हैं । इनमें (औषध का) विज्ञाता; (परिचारक का) आदेष्टा तथा (रोगी को) योजना बतानेवाला (होने से) वैद्य ही प्रधान है ।

—जैसे पक्ता (पाचक) की पाक – क्रिया में पात्र, इन्धन तथा अग्नि उपकरणभूत होते हैं किंवा जैसे रणाङ्गन, सैन्य तथा शस्त्रास्त्र विजेता के विषय में कारणभूत होते हैं वैसे ही चिकित्सा – कर्म की सिद्धि में रोगी आदि पाद चिकित्सक के लिए कारण (उपकरण) होते हैं । अतः चिकित्सा में प्रधान कारण वैद्य ही है ।

—जैसे कुम्भकार के बिना मृत्तिका (मिट्टी), दण्ड, चक्र, सूत्र आदि (साधन) गुण (साध्य) को निष्पन्न नहीं करते वैसे वैद्य के बिना शेष तीन पाद भी चिकित्सा के साधक नहीं होते ।

—तीनों पाद समान होते हुए भी (विज्ञ वैद्य द्वारा चिकित्सत) उपाय की प्रतीक्षा करने वाले उपायाश्रित—अति दारुण भी रोग जो गन्धर्वनगर (इन्द्रजाल – जादू – के बनाए नगर) के समान शीघ्र ही नष्ट होते हैं और अन्य रोग (अदारुण भी रोग) – अज्ञ चिकित्सक द्वारा (चिकित्सित होते हुए) शीघ्र वृद्धि को प्राप्त होते हैं उसमें (इस परिणाम – भेद में) विज्ञ और अज्ञ वैद्य ही कारण हैं (क्योंकि शेष तीनों पाद तो दोनों पक्षों में समान ही हैं) ।

स्वगुणसंपत्तौ यत्न आधेयो वैद्येन

वरमात्मा हुतोऽज्ञेन न चिकित्सा प्रवर्तिता ।।
पाणिचाराद्यथाऽचक्षुरज्ञानाद् भीतभीतवत् ।
नौर्मारुतवशेवाज्ञो भिषक् चरति कर्मसु ।।
यदृच्छया समापन्नमुत्तार्य[1] नियतायुषम् ।
भिषङ्मानी निहन्त्याशु शतान्यनियतायुषाम् ।। —च० सू० ६।१५।१७

—अपने को अग्नि में डालना अच्छा पर अज्ञ चिकित्सक से चिकित्सा करवाना अच्छा नहीं ।

—जैसे कोई अन्ध पुरुष हाथ के स्पर्श के सहारे चलता है अथवा कोई नौका वायु के वश (वायु जहाँ ले जाए वहीं-नियत मार्ग से नहीं) चलती है वैसे ही अज्ञ चिकित्सक अज्ञान के कारण डरता – डरता – सा चिकित्सा कर्म करता है ।

—जिसकी आयु नियत (शेष) है ऐसे एक रोगी को यदृच्छा से (अकस्मात्—आयु के बल से ही) अच्छी प्रकार चिकित्सित और रोगमुक्त कर

१—समापन्नं सम्यगुपक्रान्तम् । —**चक्रपाणि**

भिषङ्मानी (अपने को वैद्य मानने वाला) अनियत आयु वाले सैकड़ों को शीघ्र ही मार डालता है। (आयु अनियत होते हुए भी सदैव के पुरुषार्थ से ऐसे रोगी बचाए जा सकते हैं।)

तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने।
भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते॥
हेतौ लिङ्गे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे।
ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः॥
शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये।
पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत्॥
विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते॥
विद्या मतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः।
वैद्यशब्दाभिनिष्पत्तावलमेकैकमत्यतः॥
यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः।
स वैद्यशब्दं सद्भूतमर्हन् प्राणिसुखप्रदः॥ —च० सू० ९।१८–२३

—अतः शास्त्र का (शास्त्र के शब्दों का) ग्रहण, उसके अर्थ का बोध, प्रवृत्ति (स्वयं कर्मकरण) तथा कर्म का दर्शन इन चार में (इन चारों की सिद्धि में) उद्यत वैद्य प्राणाभिसर कहा जाता है।

—रोग का निदान, रोग के लक्षण, रोग की चिकित्सा और रोग की अपुनरावृत्ति–इन चार के सम्बन्ध का जिसको ज्ञान हो वह भिषक् श्रेष्ठ राजाओं की भी चिकित्सा के योग्य होता है।

—शस्त्र, शास्त्र और जल ये तीनों अपने गुण और दोष के प्रकटीकरण के लिए पात्र[1] की ही अपेक्षा (आवश्यकता) रखते हैं, अतः चिकित्सा के लिए (चिकित्सासिद्धि के लिये वैद्य को) अपनी प्रज्ञा को विमल बनाना चाहिए।

—विद्या (वैद्यकशास्त्र का ज्ञान), वितर्क, (शास्त्रमूलक ऊहापोह), विज्ञान (विविध अन्य विषयों का ज्ञान), स्मृति, तत्परता (अपने ज्ञान और अनुभव की वृद्धि के लिए प्रयत्नातिशय), क्रिया (पुनः पुनः चिकित्सा करना) —जिसमें ये छ गुण हों कोई भी साध्य रोग उसके लिये असाध्य नहीं होता।

—विद्या, मति (सहज विशुद्ध बुद्धि) कर्म का (गुरु द्वारा किए कल्प – निर्माण तथा चिकित्सारूप क्रिया का) दर्शन, स्वयं कर्माभ्यास, सिद्धि (चिकित्सा में प्रायः

१— जल के पक्ष में पात्र = बर्तन।

साफल्य), (सदगुरु का) आश्रय—इनमें प्रत्येक गुण सच्चे वैद्य के सम्पादन में समर्थ हैं (वैद्य को सच्चा वैद्य बनानेवाला है) । फिर—

—जिसमें विद्या आदि सब के सब शुभ गुण विद्यमान हों वह यथार्थ वैद्य शब्द का वैद्य इस पदवी का पात्र है—वही प्राणियों को सुख (आरोग्य) देने वाला है ।

शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थ दर्शनं[1] बुद्धिरात्मनः ।
ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति ॥
चिकित्सिते त्रयः पादा यस्माद् वैद्यव्यपाश्रयाः ।
तस्मात्प्रयत्नमातिष्ठेद्भिषक् स्वगुणसंपदि ॥ —च० सू० ६।२४ – २५

—(जैसे वस्तुओं के दर्शन के लिए बाह्य आलोक – प्रकाश और चक्षु दो उपकरण अपेक्षित हैं वैसे आयुर्वेद – प्रतिपाद्य विषयों के) प्रकाश नाम सम्यक् उपलब्धि के लिए शास्त्र अर्थात् शास्त्र के अभ्यास से प्राप्त की हुई बुद्धि ज्योति या बाह्य प्रकाश – रूप है; तथा अपनी बुद्धि (सहज बुद्धि) चक्षुरिन्द्रिय – रूप है । वैद्य इन दो उपकरणों से भली भांति युक्त हो तो चिकित्सा – कर्म करता हुआ कभी लक्ष्य – भ्रष्ट (अपराधी) नहीं होता ।

चिकित्सा कर्म में यतः शेष पाद – त्रय वैद्य के ही आश्रित हैं (वैद्य की गुणवत्ता से ही उनके गुण प्रकट होते हैं) अतः वैद्य को अपने गुण के उत्कर्ष के लिए (उनकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि के लिए) प्रयत्न करना चाहिए ।

मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम् ।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा ॥ —च० सू० ६।२६

xx प्रकृतिरिह मरणम् । प्रकृतिरुच्यते स्वभावः; तथा अयमस्मात् क्षणात् xx स्वभावमापत्स्यत इत्यर्थः । तत्र स्वभावः प्रवृत्तेरुपरमो मरणमनित्यता निरोध इत्येकोऽर्थः । मरणसमीपगतत्वादुच्यते 'प्रकृतिस्थेषु' इति । xx (च० सू० ३०।२५) xx ॥[2]

—**चक्रपाणि**

—(वैद्यों की जनता के प्रति वृत्ति का संक्षेप में उल्लेख कर प्रकरण की पूर्णाहुति करते आचार्य कहते हैं)—आर्त नाम रोगी पुरुषों के प्रति मैत्री और कारुण्य (दुःख दूर करने की इच्छा); रोग शक्य (साध्य) हो तो रोगी

१—दर्शनं=चक्षु ।

२—प्रिया के विरह से संतप्त अज को सान्त्वना देते कुलगुरु ने भी कहा था—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः । (रघुवंश ८।८७) ॥

बुद्धिशाली पुरुष मृत्यु को प्राणियों की प्रकृति तथा जीवन को विकृति कहते हैं

के प्रति और मरणासन्न हो तो उसकी उपेक्षा (औषधादि न देना)— इस प्रकार प्राकृत जनों के प्रति वैद्यों की वृत्ति चार (चतुर्विध) होती है ।

धन्वन्तरि ने भी चिकित्सा के चार चरण तथा प्रत्येक के पृथक् गुण बताए हैं, जो अधोनिर्दिष्ट हैं ।

वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारकः ।
एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधनहेतवः ॥
गुणवद्भिस्त्रिभिः पादैश्चतुर्थो गुणवान् भिषक् ।
व्याधिमल्पेन कालेन महान्तमपि साधयेत् ॥ —सु० सू० ३४।१५ – १६

—वैद्य, व्याधि – पीड़ित (रोगी), औषध और परिचारक ये चार कर्म को सिद्धि के हेतुभूत चिकित्सा के चरण हैं ।

—शेष तीन चरण गुणवान् हों तो चतुर्थ वैद्य भी गुणवान् होता हुआ महान् रोग को भी अल्प ही काल में शान्त कर सकता है ।

वैद्यहीनास्त्रयः पादा गुणवन्तोऽप्यपार्थकाः ।
उद्गातृहोतृब्रह्माणो यथाऽध्वर्यु विनाऽध्वरे ॥
वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरं सदा ।
प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाऽम्भसि ॥ —सु० सू० ३४।१७–१८

—वैद्य – रहित तीनों पाद गुणवान् हों तो भी निरर्थक होते हैं जैसे यज्ञ में उद्गाता, होता और ब्रह्मा अध्वर्यु के बिना (अकिंचित्कर होते हैं) ।

—गुणवान् वैद्य आतुर को तार देता है (रोग – मुक्त कर देता है), जैसे प्रतितरों से (चप्पू चलाने वालों से) रहित नौका को एक कर्णधार ही जल में तरा देता है ।

तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती ।
लघुहस्तः शुचिः शूर सज्ज्ञोपस्करभेषजः ॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः ।
सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक् पाद उच्यते ॥
—सु० सू० ३४।१६ – २०

—जिसने यथावत् शास्त्र (शास्त्र के शब्द) तथा उसके अर्थ को ग्रहण किया है (केवल शास्त्र के शब्द जिसने घोंट डाले हैं ऐसा नहीं) ; जो दृष्टकर्मा जिसने कर्म का दर्शन किया है, अथच) स्वयंकृति (स्वयं जितने कर्म किये हैं ऐसा), लघुहस्त (जिसके हाथ में आशुकारिता, कम्पन का अभाव आदि हों ऐसा), (ब्राह्माभ्यन्तर) शुद्धियुक्त, शूर (न घबरानेवाला), जिसके यन्त्रशस्त्रादि उपकरण

तथा औषध गुणवान् हैं ऐसा, प्रत्युत्पन्नमति, बुद्धिशाली (ऊहापोह – कुशल), उत्साही तथा परिश्रमी, पण्डित एवं सत्य और धर्म में परायण हो—ऐसा भिषक् (प्रथम) पाद कहा जाता है ।

आयुष्मान् सत्त्वान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि ।
आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते ॥ —सु० सू० ३४।२४

—दीर्घायु, मनोबलयुक्त, साध्यव्याधिग्रस्त, द्रव्यवान् (उपकरणवान), जितेन्द्रिय, आस्तिक तथा वैद्य के वचन का पालन करनेवाला रोगी (द्वितीय) पाद कहा जाता है ।

प्रशस्तदेशसंभूतं प्रशस्तेऽहनि चो धृतम् ।
भुक्तमात्रं मनस्क्रान्तं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥
दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये ॥
समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं पाद उच्यते ॥

—सु० सू० ३४।२२ – २३

—उत्तम (कृमि आदि रहित, अनूषर इत्यादि) देश (स्थल) में उत्पन्न, प्रशस्त दिन में उद्धृत (उखाड़ा गया), जिसकी मात्रा यथायोग्य है ऐसा मन को प्रिय (अरुचिकर न हो ऐसा) ; (अपने प्राकृत) गन्धः वर्ण और रस से युक्त (अतएव अप्रणष्टवीर्य) ; दोष को शान्त करने वाला, ग्लानि न करने वाला, व्यापत्ति (मिथ्यायोग, हीनयोग या अतियोग) होने पर भी (विशेष) विकार या हानि न करने वाला, (प्रकृति आदि परीक्ष्य भावों का) संपूर्ण विचार कर एवं उचित काल पर दिया गया औषध (तृतीय) पाद कहा जाता है ।

स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे ।
वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः ॥ —सु० सू० ३४।२४

—प्रीतियुक्त, (रोगी कितना ही कष्ट दे तो भी उसकी) निन्दा या तिरस्कार न करने वाला, बलवान् (सर्वक्लेशसहिष्णु), रोगी की रक्षा में निपुण तथा तत्पर, वैद्य के वचन का (सर्वथा) पालन करने वाला तथा अश्रान्त (थकावट न मानने वाला) परिचर (चतुर्थ) पाद होता है ।



अथ भूतदयां प्रति

वैद्यक का व्यवसाय कितना परमार्थ का व्यवसाय है यह चिकित्सक के लक्षणों में ऊपर अति संक्षेप में कहा गया है । नीचे दिये पद्यों में इस दृष्टि से इसका महत्त्व अत्यन्त ललित पदों में बताकर चिकित्सक को अपने कर्त्तव्य का गौरव शास्त्रकारों ने समझाया है, साथ ही ऐसे सच्चिकित्सक के प्रति रोगी का क्या कर्त्तव्य है, यह भी दर्शाया है । तथाहि—

य रसायनसंयोगा वृष्ययोगाश्च ये मताः ।
यच्चौषधं विकाराणां सर्वं तद्वैद्यसंश्रयम् ॥
प्राणाचार्यं बुधस्तस्माद्धीमन्तं वेदपारगम् ।
अश्विनाविव देवेन्द्रः पूजयेदतिशक्तितः ॥

—च० वि० १।४।३६।४०

—जितने भी रसायन - कल्प हैं, किंवा जो भी वृष्य योग कहे गये हैं, (इतना ही क्यों ?) रोगमात्र की जो भी चिकित्सा है वह सब वैद्याधीन है—वैद्य ही उसका मूल कारण है । अतः जिस प्रकार देवराज अश्वियों की पूजा करते हैं उस प्रकार बुद्धि सम्पन्न (रोगी) को प्राणाचार्य, धीमान, वेदपारागामी वैद्य की संपूर्ण सामर्थ्य से पूजा करनी चाहिए ।

आगे अश्वियों की देवताओं द्वारा अर्चना विस्तार से दर्शा उपसंहार में तन्त्रकार कहते हैं:—

अजरैरमरैस्तावद्विबुधैः साधिपैर्ध्रुवैः ।
पूज्येते प्रयतैरेवमश्विनौ भिषजाविंति ॥
मृत्युव्याधिजरावश्यैर्दुःखप्रायैः सुखार्थिभिः ।
किं पुनर्भिषजा मर्त्यैः पूज्याः स्युर्नातिशक्तितः[1] ॥
शीतवान् मतिमान् युक्तो द्विजातिः शास्त्रपारगः ।
प्राणिभिर्गुरुवत् पूज्यः प्राणाचार्यः स हि स्मृतः ॥

—च० चि० १।४।४८ - ५१

—जब कि अजर, अमर और ध्रुव (कल्पान्तस्थायी) देव जन भी अपने अधिपति (इन्द्र) के सहित यत्नपर हो अपने वैद्य अश्वियों की अर्चना करते हैं तो—

—मृत्यु, व्याधि और जरा (वार्धक्य) के वशीभूत एवं दुःखबहुल (जीवन वाले) सुख के इच्छुक मत्यों की अपनी शक्ति का अतिरेक करके भी क्यों वैद्यों का सत्कार न करना चाहिए ?

१—नातिशक्तित इति निजशक्तेरप्यतिरेकेण । —**चक्रपाणि**

—प्राणियों को शीलवान्, मतिमान् (अपने कर्तव्य में) तत्पर, द्विजन्मा और शास्त्रपारंगत वैद्य की अभ्यर्चना गुरु के सदृश करनी चाहिए । कारण, वह प्राणाचार्य माना गया है ।

विद्यासमाप्तौ भिषजो द्वितीया जातिरुच्यते ।
अश्नुते वैद्यशब्दं हि न वैद्यः पूर्वजन्मना ।।
विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्वमार्षमथापि वा ।
ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद्वैद्यो द्विजः स्मृतः ।।

—च० चि० १।४।५२ – ५३

—विद्या – समाप्ति के अनन्तर चिकित्सक का द्वितीय जन्म (हुआ) कहा जाता है । इसके अनन्तर वह 'वैद्य' इस शब्द (पदवी) को प्राप्त होता है । पूर्व जन्म (माता – पिता के दिये जन्म) से कोई वैद्य नहीं होता ।

—विद्या की समाप्ति (संपूर्ण प्राप्ति) होने पर ज्ञान के परिणामस्वरूप ब्राह्म अथवा आर्ष आत्मा का प्रवेश वैद्य में निश्चित होता है । अतः उसे द्विज (द्वितीय जन्म ग्रहण करनेवाला) कहा जाता है ।

नाभिध्यायेन्न चाक्रोशेदहितं न समाचरेत् ।
प्राणाचार्यं बुधः कश्चिदिच्छन्नायुरनित्वरम् ।।
चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वाऽसंश्रुत्य मानवः ।
नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः ।।

—च० चि० १।४।५४ – ५५

—जिसे स्थिर (दीर्घ) आयु की इच्छा हो ऐसे प्रत्येक बुद्धिशाली पुरुष को प्राणाचार्य का बुरा न सोचना चाहिए, उसका बुरा न बोलना चाहिए, और उसका बुरा न करना चाहिए ।

—जो पुरुष चिकित्सक होकर प्रतिज्ञानुसार या बिना प्रतिज्ञा के भी वैद्य का प्रत्युपकार नहीं करता उसका कोई प्रायश्चित नहीं है ।

भिषगप्यातुरान् सर्वान् स्वसुतानिव यत्नवान् ।
आबाधेभ्यो हि संरक्षेदिच्छन् धर्ममनुत्तमम् ।।
धर्मार्थं नार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः ।
प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम् ।।
नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति ।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते ।।

ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते ॥
दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम् ।
छित्त्वा वैवस्वतान् पाशान् जीवितं यः प्रयच्छति ॥
धर्मार्थदाता सदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते ।
नहि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ॥
परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया ।
वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥

—च० वि० १।४।५६ – ६२

वैद्य का भी कर्त्तव्य है कि वह श्रेष्ठ[1] धर्म मानकर यत्नपरायण हो रोगियों की सर्व रोगों से ऐसे रक्षा करे जैसे वे अपने पुत्र हों ।

—धर्मपरायण महर्षियों ने अक्षर (अविनाशी) स्थान (मोक्ष) की प्राप्ति की इच्छा (को लक्ष्य में) रखते हुए आयुर्वेद का आविष्कार धर्म के ही लिए किया है; अर्थ या काम (ऐहिक सुखों) के लिए नहीं । अतएव—

—जो पुरुष केवल भूतदया से प्रेरित हो चिकित्सा में प्रवृत्त होता है, धन के लिए या काम के लिए नहीं, वह सर्वोपरि होता है ।

जो वृत्ति (उदरपूरण) के लिए चिकित्सारूप पण्य (विक्रेय वस्तु) का विक्रय करते हैं वे (जानो) सुवर्ण की राशि का त्याग कर (उसकी उपेक्षा कर) पाशुराणि (धूल की ढेरी) का उपार्जन करते हैं ।

—जो वैद्य दारुण रोगों द्वारा यमराज के गृह[2] की ओर बलात् खींच ले जाते हुए (प्राणियों) के वैवस्वत (यम के) पाशों को काट कर उन्हें प्राणदान करता है उस (वैद्य) के सदृश धर्म और अर्थ का दाता इस विश्व में कोई (ढूंढने पर भी) पाया नहीं जाता । कारण, जीवन – दान से उत्कृष्ट कोई दान नहीं है ।

—(किं बहुना), भूतदया ही सर्वोत्तम धर्म है यह मान कर जो चिकित्सा व्यवहार करता है वह पूर्णकाम पुरुष अत्यन्त (सदा के लिए) सुख प्राप्त करता है ।

वैद्य की प्रशंशा तथा कर्त्तव्य – दर्शन करते सुश्रुत ने भी कहा है—

मातरं पितरं पुत्रान् बान्धवानपि चतुरः ।
अप्येतानभिशङ्केत वैद्ये विश्वासमेति च ॥

१—जिससे उत्तम कोई नहीं है वह अनुत्तम, यह विग्रह है ।

२—क्षय=घर । **'क्षि निवासगत्योः' धातु ।**

विसृजत्यात्मनाऽऽत्मानं न चैनं परिशङ्कते ।
तस्मात्पुत्रवदेवैनं पालयेदातुरं भिषक् ॥
धर्मार्थौ कीर्तिमित्यर्थं सतां ग्रहणमुत्तमम् ।
प्राप्नुयात् स्वर्गवासं च हितमारभ्य कर्मणा ॥

—च० सू० २५।४३ – ४५

—रोगी पुरुष माता, पिता, पुत्र और बान्धव (स्वजन, स्वजाति)—इनके प्रति भी शङ्का (अविश्वास) करता है (इन्हें भी शङ्का की दृष्टि से देखता है) परन्तु वैद्य पर विश्वास करता है ।

—(किसी के कहने से नहीं, किन्तु रोगी) अपने आप ही अपने को (वैद्य के) अर्पित कर देता है । इस कारण वैद्य को भी चाहिए कि वह पुत्रवत् रोगी का पालन करे ।

—अपने चिकित्सा-कर्म द्वारा रोगी का हित संपादित कर वैद्य (जीवन में) धर्म, कीर्ति तथा सज्जनों का उत्तम ग्रहण (उनकी मैत्री) एवं (मरणोत्तर) स्वर्गवास को प्राप्त करता है ।

ऊपर कहा है कि, वैद्य धर्म और अर्थ का दाता है; इसकी व्याख्या करते चरक ने प्रकरणान्तर में कहा है—

समैस्तु हेतुभिर्यस्माद्धातून् संजनयेत् समान् ।
चिकित्साप्राभृतस्तस्माद्दाता देहसुखायुषाम ॥
धर्मस्यार्थस्य कामस्य नृलोकस्योभयस्य च ।
दाता संपद्यते वैद्यो दानाद्देहसुखायुषाम् ॥

—च० ३७—३८

—क्योंकि चिकित्सा जिसका (लोगों को देने योग्य) उपहार है ऐसा वैद्य सम (सम करने वाले) हेतुओं (औषध, आहार, विहार, देश और काल) के द्वारा—इनका सेवन करा, धातुओं (दोष, धातु; उपधातु, मल और इनकी क्रिया) को सम करता है अतः वह शरीर के सुख (आरोग्य) और आयु का दाता होता है ।

—वैद्य इस प्रकार के सुख और आयु का दाता होने से धर्म, अर्थ, काम, भूलोक और स्वर्गलोक सब का दाता होता है । (कारण—ये सब शरीर की संपत्ति से ही तो साध्य होते हैं) ।

रोग की चिकित्सा द्वारा उक्त हेतु सिद्ध करने के लिए उनकी गम्भीर परीक्षा करना आवश्यक है । यह परीक्षा कैसे पूर्ण होती है उनका ललित विवरण चरक ने निम्न पद्यों में दिया है—

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च ।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ।
सर्वथा सर्वमालोच्य यथासंभवमर्थवित् ।
अथाध्यवस्येत्तत्वे च कार्ये च तदनन्तरम् ॥
कार्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुह्यति ॥
अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम् ॥
ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित् ।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥ —च० वि० ४।६ – १२

आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान इन तीन प्रमाणों से विचक्षण वैद्य को रोग की समीचीन परीक्षा करनी चाहिए ।

—अपने विषय के ज्ञाता वैद्य को जितने प्रमाण संभव हो उन सबसे सर्व (परीक्षणीय भावों) की सर्व प्रकार से परीक्षा कर (रोग के) तत्व—यथार्थ स्वरूप-का और उसके अनन्तर कार्य (चिकित्सा) का निर्णय करना चाहिए ।

—अपने कार्य के तत्त्व को यथावत् जाननेवाला वैद्य कर्त्तव्य उपस्थित होने पर (कभी) किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं होता । किंकर्तव्यविमूढ़ वह अमोह (अकिंकर्तव्यविमूढ़ता) के परिणाम (कार्यसिद्धि आदि) को प्राप्त होता है ।

किंबहुना, जो तत्त्वज्ञ (हो) ज्ञान और बुद्धि रूप प्रदीप से रोगी के अन्तरात्मा तक प्रविष्ट नहीं हो जाता (उसकी आन्तर – बाह्य संपूर्ण परीक्षा नहीं करता) वह रोगों की चिकित्सा नहीं कर सकता ।

अन्यत्र भी परीक्षा की संपूर्णता का महत्त्व बताते अत्रिपुत्र ने कहा है—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् ।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्व समाचरेत् ॥
यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक् ॥
अप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया ॥ —च० सू० २०।२० – २२

—प्रथम रोग की परीक्षा (विचार) करनी चाहिए, इसके अनन्तर (औषध की), इसके पश्चात् वैद्य को ज्ञानपूर्वक चिकित्सा कर्म करना चाहिए ।

—जो वैद्य रोग को जाने बिना कर्म करता है वह औषधों का उपयोग जानता हो तो भी सिद्धि (नहीं मिलती, और) मिलें तो यदृच्छया (आकस्मिक) ही होती है ।

—जो रोगों के विशेष (विवरण) को जानता हो, जो सर्व औषधों में निष्णात हो एवं जो देश और काल के प्रमाण को जानता हो उसे निःसंशय (यादृच्छिक नहीं) सिद्धि मिलती है ।

भिषक्लक्षणम्

आयुर्वेद के मूल ऋग्वेद में भी भिषक् का लक्षण बताते प्रकारान्तर से यही बातें संक्षेप में कही हैं देखिए—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।

विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहाऽमीवचातनः ॥

—ऋग्वेद १०।६७।६, यजुर्वेद १२।८०

—समिति (राजसभा, बड़ी विधान सभा) में जैसे राजा (उसके सभ्य) संयुक्त होकर कार्य करते हैं, तद्वत् औषधियाँ (दोषनाशन उपचार – निरुक्त) जिसके समीप अथवा जिसकी बुद्धि में स्थित होती हैं ऐसा राक्षसों (रोगबीजों) का नाशक तथा (उनके आश्रयभूत) आम का शमन करनेवाला द्विज वैद्य कहाता है ।



उभयज्ञ वैद्य की प्रशंसा

शास्त्र और कर्म चिकित्सा-रूप रथ के दो चक्र हैं । दोनों के संयोग से ही रथ संपूर्ण होता है । तन्त्रकार शास्त्र (थियरी) और कर्म (प्रेक्टिकल) दोनों की प्रशंसा करते जानो थकते नहीं । अपने तन्त्र के आदि में सुश्रुत ने कहा है—

एतद्ध्यवश्यमध्येयम् । अधीत्य च कर्माप्यवश्यमुपासितव्यम् । उभयज्ञो हि भिषग्राजार्हो भवति ।।

—सु० सू० ३।४०

—इस इस तन्त्र का अवश्य अध्ययन (शब्दतः तथा अर्थतः ग्रहण) करना चाहिए । अध्ययन के अनन्तर कर्म का भी अवश्य अभ्यास करना चाहिए । कारण, (शास्त्र और कर्म) दोनों का ज्ञाता (दोनों में कुशल) चिकित्सक राजाओं में भी पूज्य होता है ।

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम् ।।
यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्ट्र्याच्छास्त्रवहिष्कृतः ।
स सत्सु पूजा नाप्नोति वधं चार्हति राजतः ।।
उभावेंतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि ।
अर्थवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ ।।

—सू० सू० ३।४८-५०

—जो पुरुष केवल शास्त्र (शब्दार्थ) को जाननेवाला हो परन्तु कर्म की शिक्षा प्राप्त न हो वह रोगी को प्राप्त कर ऐसे ही मुग्ध (किंकर्त्तव्यविमूढ) हो जाता है जैसे युद्ध को प्राप्त कर भीरु पुरुष ।

—दूसरी ओर जो कर्म में निष्णात हो परंतु शास्त्र से विरहित हो और केवल धृष्टता से कर्म (व्यवसाय) करता हो वह सत्पुरुषों में सम्मान नहीं प्राप्त करता और राजा (शासन सरकार) से वध के योग्य होता है ।

—(केवल शास्त्रज्ञ और केवल कर्मज्ञ) ये दोनों अपने (चिकित्सा रूप) कर्म में असमर्थ एवं वेद (ज्ञान) के केवल अर्धांश को धारण किए तथा ऐसे पक्षियों के सदृश होते हैं, जिनके केवल एक पक्ष हो ।

ऊपर चरक के मत से वैद्यों के शासन द्वारा नियमन की बात की है; यहाँ **सुश्रुत** ने यही बात कही है ।

अब क्रमशः कायचिकित्सा आदि में औषधियों के उपयोग एवं शल्यचिकित्सा आदि में स्नेहादि कर्मों के शास्त्रशुद्ध अध्ययन और कर्मदर्शन का महत्त्व बताते कहते हैं:—

ओषध्योऽमृतकल्पास्तु शस्त्राशनिविषोपमाः ।
भवन्त्यज्ञैरुपहृतास्तस्मादेतान् विवर्जयेत् ॥
स्नेहादिष्वनभिज्ञो यश्छेद्यादिषु च कर्मसु ।
स निहन्ति जनं लोभात् कुवैद्यो नृपदोषतः ॥
यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने ।
आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा ॥

—सु० सू० ३।५५-५३

—अमृत के सदृश भी औषधियाँ यदि अज्ञ (उनका नाम, रूप तथा योग न जानने – वाले) पुरुषों द्वारा प्रयुक्त की गयी हों तो शस्त्र, विद्युत् और विष के सदृश (मारक) सिद्ध होती हैं । अतः ऐसे अज्ञान वैद्यों को छोड़ देना चाहिए ।

—(इसी प्रकार) जो कुचिकित्सक स्नेहनादि तथा छेदनादि कर्मों से अनभिज्ञ हो, वह राजा के दोष के कारण केवल लोभवश (चिकित्सा के लिए उद्यत होता हुआ) पुरुषों को मार डालता है । (इस प्रकार यहाँ पुनः शासन द्वारा चिकित्सकों के नियंत्रण की बात तन्त्रकर्ता ने कही है) ।

—इसके विपरीत, जो बुद्धिमान् (ऊहापोहक्षम) वैद्य उभयज्ञ होता है वह (आरोग्य–संपादन-रूप) प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ होता है, जैसे द्विचक्र रथ युद्ध में अपना कर्म करने में सफल होता है ।

इसके अनन्तर मूल में अध्ययन की परिपाटी का निर्देश कर उपसंहार करते ग्रन्थकर्ता कहते हैं: —

शुचिर्गुरुपरो दक्ष स्तन्द्रानिद्राविवर्जितः ।
पठन्नतेन विधिना शिष्यः शास्त्रान्तमाप्नुयात् ॥
वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे ।
तदभ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तगः ॥

—सु० सू० ३।५५-५६

—बाह्मभ्यन्तर-शुद्धियुक्त, गुरु के कार्य में तत्पर, दक्ष (नित्य प्रयत्नवान) तन्द्रा-आलस्य और निन्द्रा से विरहित शिष्य इस विधि से अध्ययन करता हुआ शास्त्र में पारङ्गत होता है ।

—शास्त्र का अध्ययन जिसने संपूर्ण कर लिया है ऐसे शिष्यों को वाणी के सौष्ठव (स्पष्टता), अर्थ के ग्रहण, धृष्टता (अभीरुता, न घबराने की वृत्ति), कर्म में नैपुण्य, कर्म का अभ्यास (पुनः पुनः करण, तथा दर्शन भी) तथा चिकित्सादि कर्म की सिद्धि का प्रयास कराना चाहिये ।

अर्थग्रहण की प्रशंसा

प्राचीन काल में शास्त्र को कण्ठाग्र करने की पद्धति थी । इसके अनन्तर उसका अर्थज्ञान कराया जाता था । ऐसे शिष्य होना सुलभ था जो केवल शब्द घोट डालते हों । आज भी ऐसे विद्यार्थी अच्छी संख्या में मिलते हैं (आयुर्वेद या एलोपेथी के क्षेत्र में ही नहीं, अन्य विद्याओं और कलाओं के क्षेत्रों में भी) केवल शब्दग्रहण की व्यर्थता बताते तन्त्रकार कहते हैं :—

अधिगतमप्यध्यनमप्रभाषितमर्थतः खरस्य चन्दनभार इव केवलं परिश्रमकरं भवति । **भवति चात्र** —

यथा खरश्चन्दनभारवाही,
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य,
चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति ॥ —सु० सू० ४।३–४

—अध्ययन पूर्ण कर लिया हो तो भी उसका अर्थ से (अर्थसहित) पुनः भाषण (शिक्षण) न हो तो जैसे चन्दन का भार (उसके गुणों को न समझनेवाले) गर्दभ के लिए केवल परिश्रम का ही कारण होता है, (वैसे अर्थशून्य शास्त्र विद्यार्थियों के लिए परिश्रमकारी और भारभूत ही होता है)

—जैसे चन्दनकाष्ठ की गठरी का वहन करनेवाला गर्दभ भार से ही परिचित होता है, चन्दन से (चन्दन के गुणों से) नहीं, तद्वत, अनेकों शास्त्र पढ़कर भी जो अर्थों के विषय में मूढ़ (अर्थज्ञान-रहित, केवल शास्त्र का मुखपाठ करने में प्रवीण) होते हैं वे (शास्त्र को) गर्दभ के समान केवल वहन करते हैं ।

अपरंच, अपने शास्त्र की संपूर्णता के लिए उससे संबद्ध अन्य शास्त्रों के विषय को उसके ज्ञाता के मुख से ही समझना चाहिए । तथाहि—

अन्यशास्त्रोपपन्नानां चार्थानामिहोपनीतानामर्थवशात्तेषां तद्विद्येभ्य एव व्याख्यानमनुश्रोतव्यम् । कस्मात् ? न ह्येकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणामवरोधः कर्तुम् । **भवन्ति चात्र**—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम् ।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ॥

शास्त्रं गुरुमुखोद्गीर्णमादायोपास्य चासकृत ।
यः कर्म कुरुते वैद्यः स वैद्योऽन्ये तु तस्कराः ।।

—सु० सू० ४।६-८

व्याकरण, सांख्य, वैशेषिक, ज्योतिषशास्त्र आदि किंवा कायचिकित्सा – प्रभृति[1] अन्य शास्त्रों में वर्णित (मुख्यतः उनके विषयभूत) एवं प्रयोजनवश अपने शास्त्र में संगृहीत (प्रसंगवश आए) विषयों की व्याख्या तद्विद्यों (उनके जानकारों) से ही सुननी चाहिए । कारण, एक शास्त्र (ग्रन्थ) में सभी विषयों का एकत्र समावेश करना शक्य नहीं है । कहा भी है—

—चिकित्सक (किसी) एक ही शास्त्र का अध्ययन करके तो (अपने) शास्त्र को भी असंदिग्ध रूप से जान नहीं सकता । अतः बहुश्रुत होते हुए (शास्त्रन्तरों का भी श्रवण करते हुए) अपने शास्त्र को समझना चाहिए ।

—अन्यच्च – गुरु – मुख से निर्गत शास्त्र को (शब्दशः) ग्रहण करे तथा (अर्थतः) अनेक बार समझ कर जो वैद्य कर्म करता है वही वैद्य है, शेष सब (धन और कल्याण के हरण करनेवाले होने से—डल्हन) तस्कर-मात्र हैं । अतएव शासन द्वारा दण्ड्य हैं) ।

गुरु का भी कर्त्तव्य है कि शिष्य को शब्द तथा अर्थ के ग्रहण के साथ कर्माभ्यास (योग्या) भी कराए । देखिए—

अधिगतसर्वशास्त्रार्थमपि शिष्यं योग्यां कारयेत् । स्नेहादिषु छेद्यादिषु च कर्मपथमुपदिशेत् । सुबहुश्रुतोऽप्यकृतयोग्यः कर्मस्वयोग्यो भवति ।।

—च० सू० ६।३

—शिष्य ने संपूर्ण शास्त्र और उसका अर्थ अधिगत (प्राप्त) कर लिया हो तो भी (गुरु) उसे योग्या (कर्माभ्यास) कराए—स्नेहादि तथा छेदनादि कर्मों का मार्गदर्शन कराए । कारण, शास्त्र का असकृत (अनेक बार) श्रवण जिसने किया है परन्तु योग्या नहीं की है ऐसा वैद्य कर्म उपस्थित होने पर आयोग्य ही सिद्ध होता है ।

इस प्रकार शास्त्र के शब्द, अर्थ और कर्म तीनों में पारंगत होने पर ही चिकित्सक को व्यवसाय आरम्भ करना चाहिए । इस विषय पर आगे उद्धृत वचन में धन्वन्तरि ने चिकित्सा – व्यवसाय के आरम्भ को **विशिखानुप्रवेश** कहा है । विशिखा का अर्थ गली होता है, उसमें व्यवसायार्थ प्रवेश करना इसका नाम विशिखानुप्रवेश है । अब मूल वचन देखिए ।

अधिगततन्त्रेणोपासिततन्त्रार्थेन दृष्टकर्मणा कृतयोग्येन शास्त्रं निगदता राजानुज्ञातेन नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन xx अनुद्धतवेशेन सुमनसा

१—डल्हण – टीका ।

कल्याणाभिव्याहारेणाकुहकेन बन्धुभुतेन भूतानांसुसहायवता वैद्येन विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या ॥
—सु० सू० १०।३

मूल वचन देखिए—

—इस प्रकार शास्त्र (शब्द) को प्राप्त, शास्त्र का अर्थ जिसने ग्रहण कर लिया है, (गुरुप्रदर्शित) कर्म का जिसने दर्शन किया है और स्वयं भी जिसने योग्या की है, (इतना ही नहीं, आचार्य के शिष्यों को सहायक के रूप में रह कर) शास्त्र का जिसने उपदेश किया है, (और इन सब से बढ़कर) राजा नाम शासन से जिसने अनुज्ञा व्यवसाय करने की स्वीकृति प्राप्त की है, नख और रोम जिसके कटे हैं, शुद्ध और शुक्ल वस्त्र जिसने परिधान किए हैं, वेश जिसका विनय-सूचक है, जो गुण युक्त (शान्त, दयालु) मल वाला, मङ्गल ही बोल बोलनेवाला, अकुहक (जो कपट वैद्य–क्वैक–न हो ऐसे) एवं प्राणिमात्र का स्वजनभूत है ऐसा एवं सहायकों से अन्वित होकर ही वैद्य की विशिखा में प्रवेश करना—चिकित्सा–व्यवसाय आरम्भ करना चाहिए ।



नामरूपगुणैस्त्रिभिर्विज्ञातव्या औषधयः

चरक कायचिकित्सा – प्रधान ग्रन्थ होने से उसने इसी विषय को अपनी दृष्टि से निरूपित करते हुए कहा है कि, वैद्य की सिद्धि इस बात में है कि वह नाम और रूप की दृष्टि से तो औषधियों को अधिकाधिक जानता हो, साथ ही उनके गुण-कर्म जान कर उनकी युक्ति (औषधों में योजना, उपयोग) को भी जानता हो । सुश्रुत का एक प्रसक्त (प्रसंगोचित) पद्य उद्धृत कर चरक के एतद्विषयक प्रभावोत्पादक पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

नदीषु शैलेषु सरःसु चापि,
पुण्येष्वरण्येषु तथाऽऽश्रमेषु ।
सर्वत्र सर्वाः परिमार्गितव्याः
सर्वत्र भूमिर्हि वसूनि धत्ते ॥ —सु० चि० ३०।४०

—नदियों, पर्वतों, सरोवरों (झीलों), पुण्य वनों और आश्रमों में किंबहुना सर्वत्र ही सर्व औषधियों का अन्वेषण करना चाहिए । कारण, देवी वसुन्धरा सर्वत्र ही (अन्य रत्नों के समान औषध-रूप) रत्नों को भी धारण करती हैं ।

औषधीर्नामरूपाभ्यां जानते ह्यजपा वने ।
अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः ॥
न नामज्ञानमात्रेण रूपज्ञानेन वा पुनः ।
औषधीनां परां प्राप्तिं कश्चिद्वेदितुमर्हति ॥
योगविन्नामरुपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते ॥
किं पुनर्यो विजानीयादोषधीः सर्वथा भिषक् ॥
योगमासां तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम् ।
पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः ॥

—च० सू० १।१२८–२३

—नाम और रूप (पहिचान) से तो औषधियों का ज्ञान वन में (फिरनेवाले) चरवाहों, गड़रियों, गोपालों तथा अन्य वनवासियों को भी होता है ।

—परन्तु, केवल नामज्ञान से किंवा रूपज्ञान से तो औषधियों की उत्कृष्ट (प्रकृति आदि के विचारपूर्वक) योजना कोई जान नहीं सकता ।

औषधियों के योग (योजना) को जाननेवाला तथा नाम और रूप का ज्ञाता उनका तत्त्ववित् कहा जाता है । फिर जो वैद्य उनको सर्व प्रकार से (प्रकृति आदि के भेद से उनके योग की दृष्टि से) जानता हो उसकी तो कथा ही क्या ?

—संक्षेप में, जो चिकित्सक प्रत्येक पुरुष को दृष्टि में रखकर देश और काल के अनुसार इनके योग को जानता हो वही उत्तम वैद्य है ।

यथा विषं यथा शस्त्रं यथाग्निरशनिर्यथा ।
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा ॥
औषधं ह्यनमिज्ञातं नामरुपगुणैस्त्रिभिः ।
विज्ञातं चापि दुर्युक्तमनर्थायोपपद्यते ॥
योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत् ।
भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम् ॥ —च० सू० १।१२४–२६

—औषध अविदित हो तो विष, शास्त्र, अग्नि अथवा विद्युत् के सदृश (विविध प्रकार से मारक) होता है ।

—औषध नाम, रूप और गुण (कर्म) इन तीन दृष्टि से विज्ञात न हो, किंवा विज्ञात होने पर भी उसकी योजना मिथ्या हो तो वह अनर्थ का कारण हो जाता है ।

—योगवश (सम्यक् योग के कारण) तीक्ष्ण विष भी उत्तम औषध बन जाता है । (जैसे अत्यन्त हृदयावसादक वत्सनाभ शोधनवश उत्तम हृद्य हो जाता है) । मिथ्यायुक्त औषध तीक्ष्ण बिष हो जाता है ।

तस्मान्न भिषजा युक्तं युक्तिबाह्मेन भेषजम् ।
धीमता किंचिदादेयं जीवितारोग्यकाङ्क्षिणा ॥
कुर्यान्निपतितो मूर्ध्नि सशेष वासवाशनिः ।
सशेषमातुरं कुर्यान्नित्वज्ञमतमौषधम् ॥ —च० सू० १।१२७-२८

—इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए वैद्य यदि युक्ति (योजना, योग) को न जानता हो तो उसके दिए औषध को अपने जीवन और आरोग्य की इच्छा रखते हुए बुद्धिमान् पुरुष को ग्रहण न करना चाहिए ।

—मस्तक पर वज्रपात हो तो भी पुरुष जीवित रह सकता है, परन्तु अज्ञ द्वारा प्रदत्त औषध कदापि रोगी को शेष (जीवित) नहीं रहने देता ।

दुःखिताय शयानाय श्रद्दधानाय रोगिणे ।
यो भेषजमविज्ञाय प्राज्ञमानी प्रयच्छति ॥
त्यक्तधर्मस्य पापस्य मृत्युभूतस्य दुर्मतेः ।
नरो नरकपाती स्यात्तस्य संभाषणादपि ॥
वरमाशीविषविषं क्वथितं ताम्रमेव वा ।
पीतमत्यग्निसंतप्ता भक्षिता वाऽप्ययोगुडाः ॥

न तु श्रुतवतां वेशं विभ्रता शरणागतात् ।
गृहीतमंन्नं पानं वा वित्तं च रोगपीडितात् ॥

—च० सू० १।१२६ – ३२

—जो प्राज्ञमानी (अपने को बुद्धिमान्—वैद्य – समझनेवाला) पुरुष औषध को जाने बिना दु:खित, (अशक्त हो) शय्या पर पड़े हुए और (सब से बढ़ कर जो (अपने पर श्रद्धा (पूर्वलिखित प्रकार से विश्वास और आत्मसमर्पण) करने वाले रोगी को औषध देता है ।

—धर्महीन, पापी, दुर्बुद्धि और साक्षात् मृत्युभूत ऐसे पुरुष के साथ संभाषण से भी पुरुष नरक को जाता है ।

—(उदर-निर्वाह के लिए कोई और व्यवसाय न मिले तो) आशीविष (जिसकी दृष्टि में ही विष है ऐसे सर्प) का विष अथवा खौलता ताम्र पीना किंवा अत्यन्त अग्नितप्त लोहगोलक खा लेना (इनका उपयोग कर जीवन समाप्त कर लेना) अच्छा परन्तु—

—शास्त्रज्ञ चिकित्कों के वेश को धारण करने वाले पुरुष को अपने शरण में आए (दीन रोगी की उलटी – सीधी चिकित्सा कर, बदल में) उससे अन्न – पान या धन ग्रहण करना ठीक नहीं ।

कितने प्राणवान् शब्द हैं ?

भिषग्बुभूषुर्मतिमानतः स्वगुणसंपदि ।
पर प्रयत्नमातिष्ठत् प्राणदः स्याद्यथा नृणाम् ॥
तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते ।
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ॥
सम्यक् प्रयोगं सर्वेषां सिद्धिराख्याति कर्मणाम् ।
सिद्धिराख्याति सर्वैश्च गुणैर्युक्तं भिषक्तमम् ॥

—च० सू० १।१३३ – ३५

स्मृतिमान् हेतुयुक्तिज्ञो जितात्मा प्रतिपत्तिमान् ॥
भिषगौषधसंयोगैश्चिकित्सां कर्तुमर्हति ॥

— च० सू० २।३६

—अतएव जिसे भिषक् होने की इच्छा है ऐसे बुद्धिसम्पन्न पुरुषों को अपनी गुण – सम्पत्ति (शास्त्रोक्त पूर्वोद्‌धृत गुणवाला) की वृद्धि के प्रति निरतिशय प्रयत्न करना चाहिए, जिससे वह लोकों को प्राण देने वाला सिद्ध हो सके ।

—जो आरोग्य की प्राप्ति में समर्थ हो, उसी को सम्यक् योगमुक्त औषध समझना चाहिए और वही चिकित्सक में मूर्धन्य है जो रोग से मुक्ति दिलाए ।

—सभी कर्मों की सिद्धि (चिकित्सा – साफल्य) औषधों के सम्यक् योग की सूचक होती है और सिद्धि से यह सूचित होता है कि वैद्य सर्वगुणसम्पन्न भिषेक्श्रेष्ठ है ।

—वैद्य जो स्मृतियुक्त (शास्त्र और पिछले अनुभवों की जिसे स्मृति हो ऐसा), (रोग) के निदान (कारण) और युक्ति को जाननेवाला, जितेन्द्रिय और प्रत्युतपन्नमति हो वही औषध के संयोगों (सम्यक् योगों) द्वारा चिकित्सा करने का अधिकारी होता है ।



सर्वो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः

चिकित्सा का क्षेत्र इतना विशाल है कि पुरुष सारे जीवन प्रयत्न करता रहे तो भी उसको नया–नया ज्ञान प्रतिदिन मिलता ही रहता है । अतः पुरुषों को निरभिमान रह कर जिससे जो मिले उसे जानते रहना चाहिए ।

ज्ञानवताऽपि च नात्यर्थमात्मनो ज्ञाने विकत्थितव्यम् । आप्तादपि हि विकत्थमानादत्यर्थमुद्विजन्त्येके ॥

—च० चि० ८।१३

—पुरुष ज्ञानी हो तो भी उसे अपने ज्ञान की श्लाघा अत्याधिक न करनी चाहिए (रोगी तथा उसके स्वजन–परिजनों को अपने ऊपर श्रद्धा रहे इतना ही अपना वर्णन करना चाहिए), कारण, पुरुष आप्त (ज्ञानी) हो तो भी अत्यधिक आत्मश्लाघा करता हो तो बहुतों को उसके प्रति अति उद्विग्नता (अरति) उत्पन्न होती है ।

न चैव ह्यस्त्यायुर्वेदस्य पारं तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत् । एतच्च कार्यम्, एवं भूयश्च वृत्तसौष्ठवमनसूयता परेभ्योऽप्यागमयितव्यम् । कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमताचार्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमताम् । अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमताऽमित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लौक्यमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधाव्यं च ॥

—च० वि० ८।१४

—आयुर्वेद (चिकित्सा-शास्त्र) का पार ही नहीं है; अतः अप्रमत्त हो इसके लिए अविरत उद्योग करते रहना चाहिए । ऊपर जो कार्य दर्शाए हैं उन्हें तो करना ही चाहिए, मात्सर्य न रखते हुए आयुर्वेद–बाह्य जनों से भी उत्तम कर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । कारण, बुद्धिशाली पुरुषों के लिए सम्पूर्ण ही लोक आचार्य है । (वे प्रत्येक से कुछ न कुछ ग्रहण करने को सदा उद्यत रहते हैं) । बुद्धिशून्यों के लिए सारा ही जगत् शत्रु होता है । अतः बुद्धिसम्पन्न पुरुष को विचारपूर्वक शत्रु भी धन्य, यश देनेवाला, आयु का वर्धक, पुष्टिकर तथा लोकसम्मत वचन कहता हो तो उसे सुनना तथा तदनुरूप अनुष्ठान (आचरण) करना चाहिए ।

निघण्टुकारों ने कहा है कि चरवाहों आदि से औषधों का नाम–रूपादि जानना चाहिए । यह आयुर्वेद के आचार्यों के एतद्विषयक व्यवहारोपयोगी औदार्य का ही सूचक है । परन्तु आयुर्वेद के मूल वेदों में तो पशु–पक्षियों और कृमि–कीटों से भी उनकी चर्या का अनुशीलन कर औषधों के उपयोग के ज्ञान का उपदेश किया है । इस विषय का सूक्त उपयोगी होने से नीचे दिया जाता है :—

भैषज्यविद्यागुरवः पशुपक्षिणः

वराहो वेद वीरुधं नकुलों वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥
याः सुवर्णा आङ्गिरसी दिव्या या रघटो विदुः ।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।
मृगा या विदुरौषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥
यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधी : शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥
यावतीषु मनुष्या अभेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीराभरामि त्वामभि ॥
पुष्ववतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
सं मातर इव दुहामस्मा अरिष्टतातये ॥

—अथर्व० काण्ड ८, सूक्त ७

—शूकर (जिस) वीरुध् (प्रतान – विस्तार – युक्त लता) को जानता है, नेवाला (जिस) औषध को जानता है, सर्प तथा गन्धर्व जिन औषधों को जानते हैं, उनका इस (रोगी के त्राण के लिए (रोग से मुक्ति के लिए) आह्वान करता हूँ ।

—अङ्गरस (रसधातु) को पुष्ट करनेवाली जिन (औषधियों) को गरुड़ जानते हैं, जिन दिव्य (वनस्पतियों) को रघट जानते हैं जिन्हें पक्षी तथा हंस जानते हैं, जिन्हें (छोटे-बड़े) सर्व पक्षधारी जानते हैं, वन्य पशु जिन औषधों को जानते हैं, उन सब का इसके कल्याण के लिए आमन्त्रण करता हूँ ।

—जितनी औषधियों का अहिंस्य गाय – बैल सेवन करते हैं, जिनका बकरी और भेड़ प्राशन करते हैं, आहरण की गयी वे सब औषधियाँ तुझे आरोग्य प्रदान करें ।

—जितनी वनस्पतियों में वैद्य औषधोपयुक्त गुण-कर्मों को जानता है, उन सब सर्वऔषध रूप वनस्पतियों को तेरे निमित्त संग्रह करता हूँ ।

—पुष्पवती, अंकुरिणी, फलवती और फलहीन भी (वनस्पतियाँ) समान माताओं के सदृश अरिष्ट (क्षति) से रक्षार्थ इस व्यक्ति को दुग्धदान (दुग्ध – सदृश अपने रस का दान) करें ।

॥ समाप्त ॥

बैद्यनाथ की उपलब्ध पुस्तकें

आयुर्वेद सार संग्रह
रस भस्मों की सेवन-विधि
आरोग्य प्रकाश
यूनानी चिकित्सा सार
यूनानी सिद्धयोग संग्रह
आयुर्वेदीय क्रिया शरीर
आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान
सिद्धयोग संग्रह
वनौषधि शतक
औषध सेवन-विधि
Baidyanath Medicines Health Guide
Therupatic Guide to Ayurvedic Medicine
उपचार पद्धति और पथ्य
किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य
वैद्य सहचर
नेत्र रोग विज्ञान
यौवन विज्ञान पर नया प्रकाश
मोटापन कम करने का उपाय

Designed by: CHANDRA ARTS Ph.